

An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

# सत्राची

A UGC-CARE Enlisted  
Peer Reviewed Research Journal

वर्ष 10, अंक 36, नं. 1  
जुलाई-शितम्बर, 2022

संपादक  
आनन्द बिहारी

प्रधान संपादक  
कमलेश वर्मा

ISSN : 2348-8425

# सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 10, अंक 36, नं. 1, जुलाई-सितम्बर, 2022

प्रधान संपादक  
कमलेश वर्मा

संपादक  
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक  
सुचिता वर्मा, आशुतोष पार्थेश्वर

सह-संपादक  
अर्चना गुप्ता, जयप्रकाश सिंह, हुश्रन आरा

संहायक संपादक  
प्रीति चौधरी, भावना मिश्रा

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल  
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्राध्यापक, शांति निकेतन, प.बंगाल।  
अनीता राकेश, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।  
सुचिता वर्मा, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, वाराणसी।  
आशुतोष पार्थेश्वर, एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी, इलाहाबाद।  
प्रवीन कुमार यादव, असिस्टेंट प्रोफेसर, रा.पी.जी.कॉ., आलापुर, अम्बेडकर नगर।  
राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।  
नीरा चौधुरी, प्राध्यापक, संगीत, पटना।  
अरविन्द कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, पटना।



# SATRAACHEE

Peer Reviewed and Refereed Research Journal

UGC Care Listed Journal

मूल्य : ₹ 250

सदस्यता शुल्क :

|            |                              |
|------------|------------------------------|
| पंचवार्षिक | : 4,000 रुपए (व्यक्तिगत)     |
|            | : 10,000 रुपए (संस्थागत)     |
| आजीवन      | : 10,000 रुपए (व्यक्तिगत)    |
|            | : 20,000 रुपए (संस्थागत)     |
| दो वर्ष    | : 1500 रुपए (केवल पी.डी.एफ.) |
| पंचवार्षिक | : 2500 रुपए (केवल पी.डी.एफ.) |

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,  
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,  
Boring Canal Rd.-Rajapool, East Boring Canal Road,  
Patna, Bihar, Pin: 800001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अचैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी

कला कुंज, दूसरा तल्ला

बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

Website : <http://satraachee.org.in>

E-mail : [satraachee@gmail.com](mailto:satraachee@gmail.com)

[editor.satraachee@gmail.com](mailto:editor.satraachee@gmail.com)

Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)

: 9415256226 (Kamlesh Verma.)



SATRAACHEE

इस अंक में...

### संपादकीय

04 :: विमर्शवादी लेखन में विचार-पुनर्विचार

कमलेश वर्मा

### रपट

07 :: 'सत्राची सम्मान' समारोह, 2022

आनन्द बिहारी

### आलेख

09 :: सांप्रदायिकता का युगीन संदर्भ और प्रेमचंद

ओमप्रकाश सिंह

18 :: 'भारतदुर्दशा', भारतेन्दु और भविष्य के भारत की संकल्पना

समरेन्द्र कुमार

25 :: कविता जिनकी लाठी है : सदानंद शाही

निरंजन कुमार यादव

38 :: केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में यथार्थ चेतना

सरिता

46 :: गँवई जीवन के कवि केदारनाथ सिंह

अमरनाथ प्रजापति

54 :: दुष्यंत कुमार : पर्वत-सी पीर के साए में धूप की तलाश

नीरज

62 :: रीति के विपरीत, रीतिमुक्त कविता की प्रासंगिकता

कुमार भास्कर

67 :: पारिस्थितिक विमर्श और समकालीन हिंदी कविता

नेहा मिश्रा

77 :: जल, जंगल, जमीन और सुंदरलाल बहुगुणा

रमेशचंद्र सोनी

81 :: पेड़-पौधे, रीति-रिवाज और पर्यावरण संरक्षण

सुधा पांडेय

84 :: आचार्य रामचंद्र शुक्ल और छायावाद

नवनीत कुमार राय

88 :: 'एक ब्रेक के बाद' : पूँजीवादी दौर की नवीन परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ

आलोक सुमन दूबे

93 :: शैलेश मटियानी : 'तलछट' से निकला हुआ एक महान कथाकार

शैलेन्द्र चौहान

97 :: हलाला, पुरुषवादी मानसिकता और मुस्लिम महिलाएँ

हुस्न आरा

103 :: अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद : गैर-राज्य कारक एवं राज्य आतंकवाद

पुष्पलता कुमारी

115 :: लोकगीतों में संस्कार

वंदना

### पाठालोचन

121 :: प्रेमचंद की कहानियों के हिंदी-उर्दू पाठ की समानता

आशुतोष पार्थेश्वर

### साक्षात्कार

139 :: शारदा सिन्हा की गायकी : निर्माणकारी परिस्थितियाँ, प्रशिक्षण एवं गुरु-प्रभाव

अंशुमन कुमार

### किताबों की चर्चा

150 :: 'बस्तर बस्तर' - लोकबाबू

बलिराज पांडेय

153 :: 'पेरियार ई.वी. रामासामी : भारत के वॉल्टेयर' - ओमप्रकाश कश्यप

कमलेश वर्मा

### पुस्तक समीक्षा

155 :: मारीना त्स्वेतायेवा : सौंदर्य, प्रेम और संघर्ष की त्रिवेणी

साधना अग्रवाल

159 :: 'स्त्री परिधि के बाहर' - संगीता मौर्य

संतनू राम

161 :: 'ठिटुस्ते लैम्प पोस्ट' : सांस्कृतिक विरासत और समसामयिक विद्रुपताओं की कविता

एस.के. साबिरा

## शोधालेख

166 :: आजादी का अमृत महोत्सव : महिला सशक्तीकरण और शिक्षा

सीता पाण्डेय

सुनीता सिंह

176 :: जनपद मैनपुरी की ऐतिहासिक एवं धार्मिक इमारतें

नेहा

अजीत प्रताप सिंह

179 :: जोहारी लोकसंस्कृति, लोकगीत एवं मिरासी परंपरा : एक सांस्कृतिक अध्ययन

रवि जोशी

188 :: राज्यपाल 'दिल्ली का दूत' : एक विश्लेषण

चन्द्रभान

196 :: उन्नत परिवार के सृजन में नारी शक्ति की भूमिका : एक विश्लेषण

मनोज गुप्ता

सीता पाण्डेय



# विमर्शवादी लेखन में विचार-पुनर्विचार

प्रो. चौथीराम यादव को प्रदान किया गया 'सत्राची सम्मान' 2022 का कार्यक्रम 20 सितम्बर को वाराणसी में समारोहपूर्वक संपन्न हुआ। प्रो. काशीनाथ सिंह के मुख्य आतिथ्य और प्रो. वीरभारत तलवार की अध्यक्षता में आयोजित इस सम्मान समारोह में वाराणसी और पटना-इलाहाबाद-लखनऊ-आजमगढ़ आदि जगहों से आए हुए सत्साहित्यिकों ने उपस्थित होकर भव्यता को बढ़ा दिया। यह कार्यक्रम हिन्दी साहित्य के सामाजिक सरोकारों को रेखांकित करने का एक प्रयास है। इस अंक में कार्यक्रम की रिपोर्ट शामिल की गयी है।

'सत्राची' के इस अंक में कई तरह के लेख प्रकाशित हो रहे हैं। भारतेन्दु, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, कंदारनाथ अग्रवाल, कंदारनाथ सिंह, शैलेश मटियानी, दुष्यन्त कुमार के कुछ पक्षों पर पुनर्विचार करते हुए जो लेख इस अंक में प्रकाशित हुए हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी समाज अपने रचयिताओं को बार-बार पढ़ रहा है और उनके मूल्यांकन की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा है।

निरंजन कुमार यादव ने सदानन्द शाही पर जो लेख लिखा है उसे केवल इस दृष्टि से न पढ़ा जाए कि वह अपने प्राध्यापक/गुरु पर लिखा हुआ श्रद्धावन्त लेख है। शाही जी के व्यक्तित्व-कृतित्व को साफ-सुंदर भाषा में तथ्य और भाव के साथ पेश करने की जो कोशिश निरंजन जी ने की है वह प्रशंसनीय है। पत्रिका चाहती है कि हम अपने समय के रचनाकारों का सम्यक मूल्यांकन करें। हमारा जोर इस बात पर रहता है कि जिन लेखकों ने तीन-चार दशकों से लिखने-पढ़ने का काम किया है उनके मूल्यांकन का प्रयास शुरू हो जाना चाहिए।

'किताबों की चर्चा' में 'बस्तर बस्तर' उपन्यास पर बलिराज पाण्डेय की फेसबुक टिप्पणी उनसे साग्रह अनुमति लेकर प्रकाशित की जा रही है। सोशल मीडिया पर ऐसी अनेक टिप्पणियाँ दिखायी पड़ती हैं जो साहित्यिक महत्त्व की होती हैं। ओमप्रकाश कश्यप की पेरियार पर दूसरी पुस्तक कुछ महीने पहले आयी है। इससे पहले वे पेरियार पर एक पुस्तक प्रकाशित करवा चुके थे। उनकी एक और किताब पेरियार पर आनेवाली है। ओमप्रकाश कश्यप हमारे समय के महत्त्वपूर्ण लेखक सिद्ध होते जा रहे हैं। शोध और आलोचना की शक्ति से निर्मित उनका लेखन उत्तम कोटि का है। उन्होंने पेरियार को हिन्दी में जिस समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है, वह श्लाघनीय है। हिन्दी में पेरियार पर इतनी ऊँचाई से लिखनेवाले वे सबसे बड़े लेखक हैं। आनेवाले समय में ओमप्रकाश कश्यप के लेखकीय महत्त्व को हिन्दी समाज क्रमशः अधिक महसूस करता जाएगा! उनकी एक पुस्तक की संक्षिप्त चर्चा इस अंक में शामिल की जा रही

है।

साधना अग्रवाल ने प्रतिभा कटियार द्वारा लिखित रूस की कवयित्री मारीना त्स्वेतायेवा की जीवनी की समीक्षा की है। संतन राम ने संगीता मौर्य की पुस्तक 'स्त्री : परिधि के बाहर' की समीक्षा की है। ये दोनों समीक्षाएँ स्त्री-लेखन के विभिन्न पक्षों के गवाक्ष खोलती हैं। विमर्शों पर विचार-पुनर्विचार का क्रम चलते रहना चाहिए ताकि इसका विकास होता रहे! विमर्शों को जड़ता से बचने का प्रयास करते रहना चाहिए। कई दार्शनिक धाराएँ केवल इसलिए अप्रासंगिक हो गयीं क्योंकि उनमें विचार-पुनर्विचार का क्रम समाप्त हो गया। विमर्शों के जन्म के कई दशक बीत चुके हैं। इनमें से कुछ स्थापित हो चुके हैं और कुछ में नयेपन का अभाव दिखायी पड़ने लगा है। स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श हिन्दी के प्रमुख विमर्श हैं। स्त्री-विमर्श वैश्विक स्तर पर प्रासंगिक है और दलित-विमर्श का दायरा प्रायः भारत की भूमि है। हिन्दी में स्त्री-विमर्श में नयापन अभी बना हुआ है, मगर दलित-विमर्श के कुछ नए आयामों को प्रकट करने की जरूरत अभी बनी हुई है। आशा है विमर्शकारी समकालीन पुस्तकों की चर्चा/समीक्षा लेकर हम आते रहेंगे!

इस अंक में लोकगीत, लोक संस्कृति पर शामिल कुछ पृष्ठों से इस विषय को समझने में कुछ सहायता मिलेगी। शारदा सिन्हा से लिया गया साक्षात्कार भी इसी पक्ष को आलोकित करता है।

सादर  
कमलेश वर्मा

## ‘सत्राची सम्मान’ समारोह, 2022

20 सितम्बर, 2022, मंगलवार, वाराणसी। प्रो. चौथीराम यादव को न्यायपूर्ण सामाजिक सरोकारों से संबंधित उनके संपूर्ण लेखकीय योगदान के लिए ‘सत्राची सम्मान, 2022’ प्रदान किया गया। सम्मान समारोह का आयोजन वाराणसी के Singh’s Delight Restaurant, सुंदरपुर में किया गया था, जिसमें विशिष्ट अतिथि के रूप में प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह उपस्थित थे। बीज वक्तव्य डॉ. संजय श्रीवास्तव ने दिया और कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रसिद्ध आलोचक प्रो. वीरभारत तलवार ने की। प्रशस्ति-पत्र का वाचन सत्राची फाउंडेशन के निदेशक आनन्द बिहारी ने तथा मंच संचालन ‘सत्राची’ के प्रधान संपादक व आलोचक कमलेश वर्मा ने किया। ‘सत्राची’ पत्रिका की समीक्षा संपादक सुचिता वर्मा ने प्रो. चौथीराम यादव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को प्रकाशित किया। इस अवसर पर सम्मानित लेखक प्रो. चौथीराम यादव को सम्मान स्वरूप अंगवस्त्र, प्रतीक चिह्न एवं 51 हजार रुपए का चेक प्रदान गया।



‘वर्तमान साहित्य’ के संपादक डॉ. संजय श्रीवास्तव ने बड़ी आत्मीयता के साथ प्रो. चौथीराम यादव के आलोचकीय व्यक्तित्व को याद किया। अनेक संदर्भों एवं संस्मरणों के हवाले से उन्होंने बताया कि प्रो. चौथीराम यादव की आलोचकीय चेतना कितनी आंदोलनधर्मी रही है। वे एक लोकप्रिय अध्यापक के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं और उनकी आंदोलनधर्मी आलोचकीय चेतना, साहस और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित भावना ने दूसरी परंपरा की चिंतन धारा को मजबूती प्रदान की है। वर्तमान समय में ऐसे आंदोलनधर्मी व्यक्तित्व की बड़ी आवश्यकता है।

विशिष्ट अतिथि वरिष्ठ कथाकार प्रो. काशीनाथ सिंह ने प्रो. चौथीराम यादव को यह सम्मान देने के लिए सत्राची फाउंडेशन को बधाई दी। उन्होंने कहा कि निर्णायकों में वीरभारत तलवार रहे हैं, वे सिद्धांतों के आदमी

हैं और ऐसे आदमी ने चौथीराम जी को चुना है तो आप समझ सकते हैं कि यह चुनाव कैसा है। वीरभारत तलवार को अपना शिष्य, शोध-छात्र, मित्र और एक बहाने से गुरु बताते हुए काशीनाथ सिंह ने दो ऐसे संस्मरण उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जिनमें तलवार जी के गरिमामयी व्यक्तित्व की झलक मिलती है। पहला संस्मरण तलवार जी के छात्र जीवन से संबंधित है, जब वे काशीनाथ सिंह के निर्देशन में शोध कर रहे थे और इसके लिए उन्हें विश्वविद्यालय से स्कॉलरशिप भी मिलने लगी थी; लेकिन तलवार जी को अपने कैरियर से ज्यादा हजारीबाग के आदिवासियों की चिंता अधिक थी, उनके कष्टमय जीवन की चिंता अधिक थी। वे उनके जीवन को, उनके कष्ट को करीब से देखना चाहते थे, समझना चाहते थे और उनके लिए कुछ करना चाहते थे। उन्होंने स्कॉलरशिप और शोधकार्य छोड़कर हजारीबाग जाने का निर्णय लिया और अंततः काशीनाथ सिंह जी से अनुमति लेकर चले भी गए। दूसरा संस्मरण सुनाते हुए काशीनाथ सिंह ने कहा कि जब तलवार जी जे.एन.यू. में प्राध्यापक थे तो उनके पास वाराणसी से एक थीसिस भेजी गई थी, रिपोर्ट के लिए। उस थीसिस को तलवार साहब ने पी-एच. डी. के योग्य नहीं पाया और उसे वे रिजेक्ट करने वाले थे। काशीनाथ जी के कहने पर उन्होंने रिपोर्ट भेजने की बात स्वीकार तो कर ली, लेकिन इस शर्त पर कि वे मौखिकी में नहीं आएंगे।

काशीनाथ जी ने इन दो उदाहरणों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया कि तलवार जी अपने मूल्यों के प्रति सदा निष्ठावान रहने वाले व्यक्ति हैं, और 'ऐसा आदमी आपका निर्णायक है जिसने चौथीराम जी को चुना'।

सम्मानित लेखक प्रो. चौथीराम यादव के लेखकीय व्यक्तित्व को समझाने के क्रम में काशीनाथ सिंह ने दो बातों पर ध्यान देने के लिए कहा। पहली बात तो ये कि उनके लेखन का महत्वपूर्ण भाग उनके रिटायरमेंट के बाद का है। उससे पहले की रचनाएँ अध्यापकीय समीक्षा के रूप में देखी जानी चाहिए। दूसरी बात ये कि 2003 में रिटायर होने से पहले के समय को क्या बेकार मान लिया जाय? इस प्रश्न का जवाब देते हुए उन्होंने कहा कि, नहीं; रिटायरमेंट से पहले का समय बेकार नहीं गया। वस्तुतः 'चौथीराम जी के जीवन में दो मोड़ आए- एक 1980 के आसपास, जब नामवर जी की पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' आयी और उसके साथ ही नामवर सिंह ने कुछ ही दिनों बाद हरियाणा साहित्य अकादमी से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर लिखने के लिए आमंत्रित किया।' काशीनाथ सिंह ने यह बात कहते हुए यह भी कहा कि "आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के जाने कितने शिष्य पूरे भारत में फैले हुए हैं, और वे अपनी योग्यता में एक से बढ़कर एक हैं। इसके बावजूद नामवर सिंह ने चौथीराम जी को ही चुना। कोई बात तो रही होगी। ये हमारे और चौथीराम जी के बीच संबंधों के कारण नहीं था। संबंधों के आधार पर नामवर जी ने कभी काम ही नहीं किया। वे दूँढ़ लेते थे कि कहाँ प्रतिभा है।"

"हरियाणा साहित्य अकादमी के लिए जब द्विवेदी जी पर किताब लिखनी हुई, चौथीराम जी को याद किया गया। ये चौथीराम जी के जीवन में आने वाला पहला पड़ाव था। दूसरा पड़ाव आया, जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने आरक्षण लागू किया और मंडल कमीशन की चर्चा शुरू हुई।" काशीनाथ सिंह ने बताया कि ये सारी बातें वे इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि चौथीराम जी हिंदी साहित्य के पूरे इतिहास से परिचित थे और उस समय तक आम्बेडकर साहब, जो मार्क्सवादी थे, को दरकिनार रखा गया था। लेकिन चौथीराम यादव को इस बात का खयाल था। इन्होंने आम्बेडकर, जोतिराव फुले, बुद्ध साहित्य, मनुस्मृति पढ़ने के दौरान समूचे संस्कृत साहित्य और प्राकृत व अपभ्रंश का भी ज्ञान अर्जित कर लिया था। "अध्यक्ष होने के पूर्व तक इन सबसे वे परिचित हो चुके थे और इन्हें रास्ता दिखने लगा था कि जाना कहाँ है, जाना किधर है?" इतना कहने के बाद काशीनाथ सिंह ने यह घोषणा की कि "चौथीराम जी वस्तुतः इतिहास पुरुष हैं।" इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि हिंदी समीक्षा

शेष पृष्ठ 201 पर...

# सांप्रदायिकता का युगीन संदर्भ और प्रेमचंद

○ ओमप्रकाश सिंह

प्रेमचंद युग के साथ चलने वाले प्रगतिशील कथाकार थे। उनका लक्ष्य केवल पाठकों का मनोरंजन करना नहीं अपितु उन्हें जीवन-जगत की समस्याओं से अवगत कराना था। इसीलिए उन्होंने अपने कथासाहित्य में आम आदमी को प्रतिष्ठित किया। प्रेमचंद साहित्य की सोद्देश्यता में विश्वास रखते थे। अपने साहित्य में उन्होंने युगीन परिस्थितियों का संश्लिष्ट विवेचन किया और पाठकों को कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराया। संयोगवश प्रेमचंद का रचनाकाल वही है, जो भारतीय स्वाधीनता संग्राम का मुख्य काल है। प्रेमचंद ने स्वाधीनता संग्राम के उतार-चढ़ाव को देखा था और उसके बारे में गंभीरता से सोचा-समझा था। अपने सीमित दायरे में ही वे स्वाधीनता संग्राम से जुड़े भी थे। स्वाधीनता संग्राम को गति प्रदान करने के मकसद से ही उन्होंने मार्च 1930 से 'हंस' पत्रिका का संपादन-प्रकाशन प्रारंभ किया। इस पत्रिका के पहले अंक के संपादकीय में उन्होंने लिखा- “कहते हैं जब श्री रामचंद्र जी समुद्र पर पुल बांध रहे थे, उस वक्त छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी लाकर समुद्र को पाटने में मदद की थी। इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत ने शांतिमय समर की भेरी बजा दी है। 'हंस' भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्ही-सी चोंच में चुटकी-भर मिट्टी लिए हुए समुद्र पाटने - आजादी के जंग में योग देने चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत टूट रही है, लेकिन संघ शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है।” [संपा. प्रेमचंद, 'हंस', सम्पादकीय, मार्च 1930]

जिस समय स्वाधीनता संग्राम क्रमशः अपने लक्ष्य के सन्निकट पहुंच रहा था, उसे कमजोर करने के अनेक प्रयास किए गए। कभी बाहरी और कभी भीतरी शक्तियों द्वारा स्वतंत्रता के मार्ग में अवरोध पड़ते रहे। अंग्रेजी सरकार अपना राज कायम रखने और स्वाधीनता संग्राम को कमजोर बनाने के लिए बल और छल दोनों का सहारा ले रही थी। भारतीय जनता में फूट डालने के लिए अंग्रेजों ने हथियार के रूप में धर्म का इस्तेमाल किया। भारतीय समाज की निर्मिति की पृष्ठभूमि उनके इस कार्य में सहायक सिद्ध हुई और सांप्रदायिक ताकतों का उभार हुआ। परिणामस्वरूप हिंदुओं मुसलमानों का वैमनस्य खुलकर सामने आया। दोनों एक-दूसरे की अस्मिता समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गए। ऐसा भी नहीं था कि इस संघर्ष में दोनों संप्रदायों के सभी लोग हिस्सा ले रहे थे। दोनों सम्प्रदायों में अभी भी ऐसे लोग थे, जो पारस्परिक एकता के महत्त्व को समझ रहे थे और इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भी थे।

दरअसल, भारतवर्ष में हिंदुओं और मुसलमानों के संबंध एक-दो दिन में नहीं बने थे। इनके संबंधों का निर्माण सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में हुआ था। प्रारंभिक

अवस्था में दोनों कौमें आक्रामक-आक्रांता और शासक-शासित के रूप में सामने आई थी पर कालांतर में इनके संबंध सौहार्दपूर्ण हो गए। अंग्रेजों को प्रारंभ में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उनके मूल में हिंदू-मुस्लिम एकता ही थी। यह एकता कैसे समाप्त हो, इसके लिए अंग्रेज प्रारंभ से ही कारगर उपाय की तलाश में थे। संयोग से उन्हें 'हिंदू महासभा' और 'मुस्लिम लीग' के रूप में वह साधन प्राप्त हुआ जिसका प्रयोग वे आसानी से कर सकते थे।

प्रेमचंद का लेखन काल 1907 से 1936 ई. तक फैला हुआ है। इस अवधि में उन्होंने कई बार सांप्रदायिकता का उन्मादी रूप देखा था। उसके दुष्परिणामों को लेकर वे चिंतित थे। एक जागरूक कथाकार के रूप में उनका प्रथम कर्तव्य साम्राज्यवादी षड्यंत्रों से जनता को आगाह करना था। हिंदुओं और मुसलमानों के पारस्परिक संबंधों पर प्रेमचंद ने गहराई से सोचा-समझा था। यही कारण है कि उनके कथासाहित्य में हिंदू-मुस्लिम जीवन और संबंधों का विशद विवेचन हुआ है। इस क्रम में लेखक ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों के विच्छेदक और विधायक दोनों तत्वों को रेखांकित किया है। प्रेमचंद-पूर्व हिंदी कथासाहित्य का उद्देश्य मनोरंजन और उपदेश था। प्रायः उस समय की कथाकृतियों में जीवन के यथार्थ को महत्त्व नहीं दिया गया था। उन रचनाओं में कथानक प्रमुख था और वह भी कौतूहलपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया था। सामान्यतः उन लेखकों ने अपने युग जीवन की उपेक्षा कर काल्पनिक कथानकों पर ही बल दिया था। इस प्रकार प्रेमचंद-पूर्व हिंदी कथासाहित्य एक संकुचित दायरे में सिमटा हुआ था। प्रेमचंद ने इसे बहु-आयामी विस्तार दिया और उनके आगमन से हिंदी कथासाहित्य जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों को गहराई से उकेरने में सक्षम हुआ।

हिंदी कथासाहित्य में आने से पूर्व प्रेमचंद उर्दू में 'नवाब राय' के नाम से लिखा करते थे। वहाँ उन्हें कथाकार के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित हो चुकी थी। 1918-19 में 'सेवासदन' की रचना से उन्हें हिंदी में भरपूर प्रसिद्धि मिली। प्रेमचंद का लेखन कार्य मुख्यतः गांधी युग में हुआ था। स्वाभाविक रूप से उन पर गांधी जी के आदर्शों का प्रभाव पड़ा। इसी काल में रूसी क्रांति (1917 ई.) हुई जिसने पूरे विश्व को प्रभावित किया। यहीं से रूसी लेखकों की कृतियों से अन्य देशों के लेखकों को परिचित होने का अवसर मिला। प्रेमचंद जैसे जागरूक लेखक ने रूस के तीन महान कथाकार- लिओ टॉलस्टॉय, गोर्की और तुर्गनेव की रचनाओं को ध्यान से पढ़ा था और वे उनसे प्रभावित भी हुए थे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहे भारतीय स्वाधीनता संग्राम का भी प्रेमचंद पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने गांधी जी से सत्य, अहिंसा और अन्याय के प्रतिकार की प्रेरणा प्राप्त की। रूसी लेखकों और गाँधीजी के प्रभाव ने प्रेमचंद को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कथाकार के रूप में निर्मित किया। उन्होंने अपने परिवेश, व्यक्तिगत जीवन और पूर्व साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की तथा युगीन गतिविधियों को विभिन्न कथाकृतियों में यथार्थवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया। प्रारंभ में प्रेमचंद पर आदर्शवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है, जिसे 'सेवासदन', 'गबन' और 'कर्मभूमि' में देखा जा सकता है। परवर्ती काल में प्रेमचंद ने शुद्ध रूप से सामाजिक यथार्थ को ही अपनी कथाकृतियों में प्रस्तुत किया। यह स्थिति उनके रंगभूमि और गोदान जैसे उपन्यासों में पूर्णतः प्रतिफलित हुई है। ठीक यही स्थिति कहानियों की भी है। इस संदर्भ में 'पंच परमेश्वर', 'ईदगाह', 'आत्माराम' आदि प्रेमचंद की द्रष्टव्य कहानियाँ हैं। परवर्ती काल की कहानियों में प्रेमचंद आदर्श को त्याग कर यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आते हैं। इस संदर्भ में 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी उनकी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद युग में भारतीय समाज स्वाधीनता के लिए संघर्षरत था। विदेशी शासक अपनी सत्ता को कायम

रखने के लिए भारतीयों में आपसी वैमनस्य पैदा करना चाहते थे। इसका सबसे सरल उपाय उन्हें यही दिखाई पड़ा कि यहाँ के हिंदू एवं मुस्लिम धर्मावलंबियों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया जाए। उन लोगों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति का अनुसरण किया। काफी अंशों में उन्हें इस नीति को कार्यान्वित करने में सफलता भी मिली। विशेष रूप से 'मुस्लिम लीग' और 'हिंदू महासभा' ने धर्म और संप्रदाय के नाम पर हिंदू-मुसलमानों में भेद उत्पन्न करने के काम में अंग्रेजों का सहयोग किया। कालांतर में गाँधीजी ने अपने प्रयासों से भारतीय समाज को इस संकट से उबारने का प्रयास किया। धार्मिक एवं सांप्रदायिक आधार पर हिंदू-मुसलमानों का बिलगाव कथाकार प्रेमचंद की समझ से परे था। उन्होंने अपनी कथाकृतियों के माध्यम से हिंदू-मुसलमानों को धर्म-संप्रदाय निरपेक्षता का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया तथा उनके धर्म-संप्रदाय निरपेक्ष चरित्र और स्वरूप को यथास्थान स्पष्ट किया।

प्रेमचंद की कथाकृतियों के माध्यम से धर्म-संप्रदाय निरपेक्ष व्यक्ति का जो स्वरूप निर्मित होता है, उसमें धर्म की अवहेलना नहीं, अपितु धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था का समर्थन है। उनका मत है कि प्रत्येक हिन्दू अथवा मुसलमान अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार आचरण करते हुए, दूसरे संप्रदाय की धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों में हस्तक्षेप न करे। दोनों संप्रदाय एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं का आदर करें। प्रेमचंद ने हिन्दू-मुस्लिम संबंधों को मानवीय आधार पर प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया है। उन्होंने अपनी कथाकृतियों में हिन्दुओं-मुसलमानों की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का यथार्थवादी विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इन दोनों संप्रदायों का कल्याण तभी संभव है, जब दोनों एक दूसरे को भ्रातृत्व की भावना से प्रेरित होकर देखें और समझें।

प्रेमचंद का साहित्यिक जीवन 1901 ई. से ही प्रारंभ हो चुका था। उनकी प्रारंभिक रचनाएं 'जमाना' में नवाब राय के नाम से छपती थीं। 1907 ई. में उनका पहला कहानी-संग्रह 'सोजेवतन' छपा। इस संग्रह की कहानियों से साम्राज्यवादी सरकार घबरा उठी। खुफिया पुलिस के माध्यम से नवाब राय का पता मिल गया। धनपत राय (प्रेमचंद का वास्तविक नाम) बुलाए गए। 'सोजेवतन' की प्रतियाँ जला दी गईं और उस पर पाबंदी लगा दी गई। उन्हें यह हिदायत दी गई कि कलेक्टर की आज्ञा के बिना वे कोई रचना न छपवाएँ। धनपत राय ने अब नवाब राय नाम छोड़कर प्रेमचंद नाम से लिखना शुरू किया। उन्हें यह नाम उनके गहरे मित्र उर्दू लेखक और संपादक दयानारायण निगम ने दिया था।

जिस समय 'सोजेवतन' की प्रतियाँ जलाई गईं, उस समय तक प्रेमचंद लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। यह अवश्य था कि वे अब तक उर्दू में ही लिखा करते थे। यद्यपि उन्होंने हिंदी की स्पेशल वरनाक्यूलर परीक्षा 1904 ई. में ही पास कर ली थी, परंतु अभी वे हिंदी में अच्छी तरह से लिखने में असमर्थ थे। श्री मन्नन द्विवेदी और महावीर प्रसाद पोद्दार के संपर्क से उन्होंने 1913 ई. के आसपास हिंदी में लिखने का अभ्यास किया और उर्दू के साथ हिंदी में भी लिखना प्रारंभ किया। हिंदी में उनके प्रारंभिक लेखन के कच्चेपन को लेकर कई बातें अब भी दोहराई जाती हैं। शीघ्र ही प्रेमचंद हिंदी में भी उतने ही सिद्धहस्त हो गए जितने उर्दू में थे। यह अवश्य था कि वे अब भी कभी-कभी अपनी रचनाएँ पहले उर्दू में लिखकर उसका हिंदी अनुवाद करते थे और कभी-कभी हिंदी में लिखकर बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करते थे।

प्रेमचंद का जिस पारिवारिक वातावरण में विकास हुआ था और जिस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा हुई थी, उसका अस्पष्ट प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ा। मदरसे की शिक्षा, फारसी और उर्दू का ज्ञान और घर का वातावरण उन्हें मुसलमानी तहजीब के निकट लाया। इन सबके बावजूद उनके मन में रस्मी मजहब और उर्दू

का पक्षपात बिल्कुल नहीं था। प्रेमचंद ने स्वीकार किया है।

“मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतकाद नहीं है, पूजा-पाठ और मंदिरों में जाने का मुझे कोई शौक नहीं। शुरू से मेरी तबीयत का यही रंग है। बाज लोगों की तबीयत तो मजहबी होती है, बाज लोगों की लामजहबी। मैं मजहबी तबीयत रखने वालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मजहब की पाबंदी को बिल्कुल गवारा नहीं करती। .....मेरी कल्चर और तर्जें मुआशरत भी मिला-जुला है, बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहजीब का असर हिंदुओं की तहजीब से ज्यादा पड़ा है। मैंने मकतब में मियां जी से सिर्फ फारसी-उर्दू पढ़ी। हिंदी से बहुत पहले मैंने उर्दू से लिखना शुरू किया। हिंदी जबान मैंने बाद में सीखी, मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ और उसका हिंदी में अनुवाद करता हूँ और कभी हिंदी में लिखता हूँ और बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करके शायर करता हूँ।” [मन्मथनाथ गुप्त, प्रेमचंद: व्यक्ति और साहित्यकार, पृ. 74-75]

प्रेमचंद ने अपने साहित्य और अपनी भाषा के माध्यम से हिंदुओं और मुसलमानों में आपसी सौहार्द स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया। उन्होंने धर्म-संप्रदाय निरपेक्ष साहित्य का सृजन कर यह दिखाया कि दोनों धर्मावलंबियों की एकता से ही राष्ट्र की एकता और अखंडता संभव है। राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने और राष्ट्रीय एकता को विखंडित करने के लिए साम्राज्यवाद सांप्रदायिक तत्त्वों का भरपूर उपयोग कर रहा था। प्रेमचंद साम्राज्यवाद की इस चाल को बखूबी समझते थे। अपने साहित्य के माध्यम से इस क्षेत्र में पहल कर उन्होंने साम्राज्यवाद और सांप्रदायिकता के अंतःसंबंधों को बेनकाब किया। जागरण के संपादकीय में उन्होंने लिखा- “सरकार की दशा हारे हुए योद्धा की सी है, जो एक खाई से दूसरी खाई में पीछे हटता हुआ अंतिम खाई में पहुंच जाता है। उस खाई के बाद सपाट मैदान है। या तो शत्रु को इस खाई में गिरा दे या स्वयं प्राण दे दे। इस अवस्था में वह विवश होकर टूटे-फूटे अस्त्रों का प्रयोग करता है। गवर्नमेंट किसी नीति से हमें अपने अधिकारों से वंचित नहीं रख सकती थी, अतएव उसने अपना वही टूटा फूटा अस्त्र निकाल लिया है, जिसका नाम है- डिवाइड एंड रूल।” [अमृत राय, प्रेमचंद: विविध प्रसंग भाग-2, पृ. 353]

प्रेमचंद सांप्रदायिक एकता के प्रबल समर्थक थे। साम्राज्यवादी शासन के रहते हुए यह एकता संभव न थी। इसीलिए वे साम्राज्यवाद का अंत आवश्यक समझते थे- “भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते कि “जब तक हिंदुओं और मुसलमानों के हिस्सों का समझौता न हो जाए, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है इसे मुस्लिम जनता समझने लगी है। वह यह है कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन जातियों के बीच वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा।” [ओमप्रकाश सिंह, प्रेमचंद के कथासाहित्य में हिन्दू-मुस्लिम संबंध, पृ. 63]

साम्राज्यवादियों की कूटनीति के अतिरिक्त भारत की सामाजिक जड़ता भी सांप्रदायिकता के विकास में सहायक थी। अगर ऐसा न होता तो मस्जिद के सामने बाजा बजने, होली पर रंग पड़ने या गोवध जैसे मसलों पर व्यापक नरसंहार न होता। सांप्रदायिकता के संदर्भ में सामाजिक बिंदुओं को स्पर्श करता हुआ प्रेमचंद का विचार इस प्रकार है- “हिंदुओं के त्योहार और जुलूसों के मौके पर अक्सर मुसलमानों की तरफ से यह तकाजा होता है कि मस्जिदों के सामने नमाज के मौके बाजा और शादीआने न बजाए जाएं। यह बहुत ही स्वाभाविक मांग है। शोरगुल से निश्चय ही उपासना में विघ्न पड़ता है और अगर मुसलमान इस शोरगुल को बंद करने पर जोर देते हैं तो हिंदुओं को चाहिए कि वह उनकी दिलजोई करें। यह तो हिंदुओं का उनके आग्रह के बिना भी, भगवान के प्रति सम्मान की दृष्टि से ही कर्तव्य है, न कि जब कोई उन्हें उनका कर्तव्य

याद दिलाए, उससे लड़ने के लिए तैयार हो जाएं। हिंदू कहेंगे कि हमारे मंदिरों के सामने से भी मुसलमानों के जुलूस बाजा बजाते हुए न निकले। ऊपरी दृष्टि से तो यह बात बिल्कुल न्याय की मालूम होती है, लेकिन व्यवहार में इसका यह परिणाम होना संभव नहीं है कि शहरों में बाजे कतई बंद कर दिए जाएं क्योंकि मंदिरों की संख्या इतनी अधिक है कि किन्हीं शहरों में हर एक घर के बाद मंदिर दिखाई पड़ता है। हिंदुओं की संध्या-हवन तो एकांत में होती है, लेकिन देवताओं की पूजा अक्सर घंटे और घड़ियाल के साथ हुआ करती है। तो जब वह उपासना के लिए स्वयं भी मौन आवश्यक नहीं समझते, तो किस मुंह से इस चीज की मांग कर रहे हैं। तो भी हम यह कह देना उचित समझते हैं कि जब उपासना एक ही परमात्मा की है और उसके बाह्य रूप में भेद है तो हिंदू लोग क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे। अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त की जरूरत नहीं है।” [अमृत राय, प्रेमचंद: विविध प्रसंग भाग-2, पृ. 353]

इसी प्रकार गोकशी के संबंध में भी प्रेमचंद ने लिखा है- “गोकशी के मामले में हिंदुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख्तियार किया है। हमको अधिकार है जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें, लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसे ही पवित्र समझें, खामख्वाह दूसरे से सिर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खाई जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे?... हिंदुस्तान जैसे कृषि प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा इसका और कोई महत्त्व नहीं है।” [वही, पृ. 354] इसी तरह से इसलाम के प्रचार-प्रसार के संबंध में दिए जा रहे तर्कों से वे सहमत नहीं थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी- “यह बिल्कुल गलत है, कि इसलाम तलवार के बल से फैला। तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता, और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाय, तो चिरजीवी नहीं हो सकता। भारत में इसलाम के फैलने का कारण, ऊंची जात वाले हिन्दुओं का नीची जातियों पर अत्याचार था। बौद्धों ने ऊंच-नीच का, भेद मिटाकर नीचों के उद्धार का प्रयास किया, और इसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली, लेकिन जब हिन्दू धर्म ने फिर जोर पकड़ा, तो नीची जातियों पर फिर वही पुराना अत्याचार शुरू हुआ, बल्कि और जोरों के साथ। ऊंचों ने नीचों से उनके विद्रोह का बदला लेने की ठानी। ...यह खींच-तान हो ही रही थी कि इसलाम ने नए सिद्धांतों के साथ पदार्पण किया। वहां उंच-नीच का भेद न था। छोटे-बड़े, उंच-नीच की कैद न थी ....इसलिए नीचों ने इस नए धर्म का बड़े हर्ष से स्वागत किया और गांव के गांव मुसलमान हो गए। जहां वर्गीय हिन्दुओं का अत्याचार जितना ही ज्यादा था, वहां यह विरोधाग्नि भी उतनी ही प्रचंड थी और वहीं इसलाम की तबलीग भी खूब हुयी ...यह है इसलाम के फैलने का इतिहास और आज भी वर्गीय हिन्दू अपने पुराने संस्कारों को नहीं बदल सके हैं। .....तो इसलाम तलवार के बल से नहीं, बल्कि अपने धर्म-तत्त्वों की व्यापकता के बल से फैला।” (प्रेमचंद के विचार भाग-1 पृ. 364, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली)

उस समय उच्च वर्ग के लोग अपना मान-सम्मान कायम रखने और राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सांप्रदायिकता का इस्तेमाल साधन के रूप में करते थे। दोनों संप्रदायों को एक दूसरे के खिलाफ भड़का कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना इस वर्ग का मुख्य उद्देश्य था। उनकी यह कार्य प्रणाली सामाजिक समझ के मार्ग में बाधक थी। प्रेमचंद ने सामंती वर्ग के ऐसे कृत्यों का पर्दाफाश किया- “रईस और ताल्लुकदार भी जनता की नजरों में गिर चुके थे। वह हजरात जिन्होंने देश भक्ति के तमाम दावों के बावजूद वकालत या सरकारी नौकरी न छोड़ी थी, पब्लिक की निगाहों में अपनी प्रतिष्ठा खो बैठे थे। इस बहुसंख्यक

जमात के लिए अपनी खोई हुई आबरू हासिल करने का, अपनी साख जमाने का, अपनी कौमपरस्ती का सबूत देने का और ऐसे मौकों पर जब कौंसिलों का चुनाव पास था, इससे बेहतर और कौन सा मौका हाथ आ सकता था। हिंदू कौम खतरे में है का नारा मारकर वह लोग हिंदुओं के हितैषी बनना चाहते थे। मुसलिम जनता में भी उनकी तादाद कम न थी। धार्मिक पक्षपातों को भड़काना शुरू किया गया। राय साहब और खान साहब अपने गुप्त स्थानों से निकल पड़े और जनता की दोस्ती का दम भरने लगे। एक तरफ से आवाज आई, हिंदुओं को खिलाफत आंदोलन से सावधान रहना चाहिए, क्योंकि यह उनकी हस्ती को मिटा देगा। दूसरी तरफ से नार-ए-तकवीर बुलंद हुआ, हिंदू हम पर हावी होते जा रहे हैं, स्वराज्य से दूर रहना हमारा कर्तव्य है।” [वही, पृ. 355]

प्रेमचंद की दृष्टि में धर्म का मसला व्यक्ति का निजी मामला है। हर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह धर्म पर विश्वास करे या न करे अथवा वह अपने विवेकसम्मत धर्म को अपनाए। इसमें किसी भी तरह का बाहरी हस्तक्षेप धर्म की सीमा में नहीं आता। धर्मांतरण का संबंध भी काफी सीमा तक व्यक्ति की स्वेच्छा से जुड़ा है। इसके विपरीत जब धर्म परिवर्तन में राजनीति होती है तो बवाल उठ खड़े होते हैं। सांप्रदायिकता के विकास में इस तरह की स्थिति काफी मदद करती है। इसीलिए प्रेमचंद राजनीति प्रेरित धर्मांतरण के सख्त विरोधी थे। आर्य समाज के शुद्धि आंदोलन के विरोध में लिखा हुआ मजमून-कहजुरिजाल- इस बात का ठोस प्रमाण है। यह लेख जमाना में छपा था। जमाना में प्रकाशन के लिए लेख भेजते समय प्रेमचंद ने संपादक को लिखा था- “मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसिर मजमून लिख रहा हूं। मुझे इस तहरीक से सख्त इखिलाफ है। आर्य समाज वाले भिन्नाएंगे लेकिन मुझे उम्मीद है आप ‘जमाना’ में इसे जगह देंगे।” [अमृत राय, प्रेमचंद: कलम का सिपाही, पृ. 259]

प्रेमचंद प्रारंभ से ही सांप्रदायिकता और आर्थिक स्वार्थों के अंतःसंबंध को समझ रहे थे। वे जानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम तनाव, सांप्रदायिकता और दंगों का मूल कारण आर्थिक स्वार्थ है। सेवासदन उपन्यास में उन्होंने इस तरह की सांप्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों का पर्दाफाश किया है। वेश्याओं को दालमंडी से हटाने के प्रश्न पर म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों का पक्ष या विपक्ष में बंट जाना इस बात पर निर्भर करता है कि दालमंडी में किसके कितने मकान हैं और किसे कितनी आर्थिक हानि होगी। आर्थिक लाभ के कारण ही जानबूझकर इस मसले को सांप्रदायिक रंग दिया गया।

सांप्रदायिक सद्भाव की सृष्टि के लिए ही प्रेमचंद ने कर्बला नाटक लिखा। इस नाटक के माध्यम से उन्होंने मुस्लिम इतिहास और परंपरा के अनेक नेक पहलुओं से जनता को परिचित कराया। प्रेमचंद सांप्रदायिक वैमनस्य का एक कारण यह भी मानते थे कि हिंदुओं को मुस्लिम महापुरुषों के चरित्र की पूरी-पूरी जानकारी नहीं है। जहां किसी मुस्लिम बादशाह की बात शुरू हुई, उनके सामने औरंगजेब का चित्र उपस्थित हो जाता है। वे नहीं जानते कि हर वर्ग में अच्छे लोग भी हैं। इसी तथ्य की पुष्टि के लिए उन्होंने कर्बला में हुसैन के साथ अनेक हिंदू योद्धाओं को वीरगति प्राप्त करते हुए दिखाया। इस्लाम के मूलभूत तत्वों की जानकारी देने के लिए ही उन्होंने न्याय, क्षमा, गैरत की कटार, नबी का नीति-निर्वाह जैसी अनेक कहानियाँ लिखीं।

प्रेमचंद के कथासाहित्य का एक बड़ा हिस्सा सांप्रदायिक समस्याओं के चित्रण से संदर्भित है। 1907 से 36 तक सांप्रदायिक समस्याओं के क्षेत्र में जितने उतार-चढ़ाव आए थे सबको प्रेमचंद के कथासाहित्य में देखा जा सकता है। सेवासदन, कायाकल्प, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि, गबन, गोदान आदि उपन्यासों तथा पंचपरमेश्वर, विचित्र होली, जुलूस मुक्तिधन, क्षमा, डिक्री के रुपए, मंदिर मस्जिद, लैला, न्याय, दो कब्रें,

ईदगाह, जिहाद, तगादा, दिल की रानी, बौड़म जैसी कहानियों में प्रेमचंद ने मुख्यतः सांप्रदायिक समस्याओं को ही उठाया है। इन रचनाओं के हिंदू और मुसलमान पात्र धर्म-संप्रदाय के संकुचित दायरे से मुक्त हैं। वे अपने अपने धर्म पर पूर्ण आस्था रखते हुए, दूसरे धर्म और धर्मावलंबियों को आदर की दृष्टि से देखते हैं। उनका यथोचित सम्मान करते हैं। हिंदू और मुसलमान आपस में किस प्रकार से घुलमिलकर रहते हैं, एक दूसरे की सहायता करते हैं, इसे पंचपरमेश्वर कहानी में देखा जा सकता है। इस कहानी में हिंदू की पंचायत मुसलमान करता है और मुसलमान की पंचायत हिंदू। न्याय के पद पर बैठते ही दोनों व्यक्तिगत संबंधों को भूलकर निष्पक्ष निर्णय देते हैं। इसी तरह दूसरी कहानियों में भी प्रेमचंद ने जिस समाज की रचना की है, वहाँ सांप्रदायिक विद्वेष का नामोनिशान नहीं है। बौड़म कहानी का मुख्य पात्र मोहम्मद खलील उर्फ बौड़म सांप्रदायिकता से कोसों दूर है। वह अपने घर होने वाली कुरबानी का विरोध करता है और सफल न होने पर प्रायश्चित्त स्वरूप गाय खरीद कर हिंदुओं में बांटता है। मुक्तिधन कहानी का रहमान नुकसान उठाकर भी गाय दाऊदयाल को दे देता है, कसाईयों को नहीं बेचता। मंदिर और मस्जिद कहानी के चौधरी इतरत अली तो सांप्रदायिक सद्भाव की प्रतिमूर्ति हैं- यद्यपि चौधरी साहब पक्के मुसलमान हैं, फिर भी हिंदू धर्म उनके लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना इस्लाम। वे अपने घर को गाय के गोबर से लिपवाते हैं, गंगाजल का छिड़काव करते हैं और गंगाजल पीते हैं। एक पंडित उनके बगीचे में नित्य दुर्गा का पाठ भी करता है।

इसी तरह से प्रेमचंद के उपन्यास भी अपने-अपने समय की सांप्रदायिक समस्या को पूर्णता के साथ उठाते हैं। कायाकल्प में सांप्रदायिक वैमनस्य को तित्त भाव से अनावृत करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है- “जरा-जरा सी बात पर दोनों दलों के सिरफिरे जमा हो जाते हैं और दो-चार के अंग-भंग हो जाते हैं। कहीं बनिए ने डंडी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दुकान पर धावा बोल दिया। कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिंदू का घड़ा छू लिया और मोहल्ले में फौजदारी हो गई। एक मोहल्ले में मोहन ने करीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मोहल्ले भर के हिंदुओं के घर लूट लिए गए। दूसरे मोहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े सांप्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लिए जाते थे। दोनों ही मजहब के नशे में चूर थे। सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानंदन। दोनों के देवताओं के भाग जगे। जहां कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहां पुजारी जी की भंग घुटने लगी। मस्जिदों के दिन फिरे, मुसलमानों ने अवाबीलों को बेदखल कर दिया। जहां साड़ जुगाली करता था, वहां पीर साहब की हड़िया चढ़ी। हिंदुओं ने महावीर दल बनाया, मुसलमानों ने अली गोल सजाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर कीर्तन की जगह नबियों की निंदा होती, मस्जिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया- जो मुसलमान किसी हिंदू औरत को निकाल ले जाए, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानंदन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मंगाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।” [प्रेमचंद, कायाकल्प, पृ. 205-6]

यह उपन्यास उस समय लिखा गया था जब देश में सांप्रदायिकता का नग्न नृत्य हो रहा था। छोटी छोटी बातों को लेकर आए दिन हिंसा और उपद्रव का बोलबाला था। मुल्ला, मौलवी और पंडित लोगों को आपस में लड़ा रहे थे। इन्हीं के बहकावे में ख्वाजा महमूद और यशोदानंदन जैसे व्यक्ति आ गए और सारे पुराने संबंध भूलकर सांप्रदायिक हिंसा पर उतारू हो गए। परिणाम आगरा में दंगा। दंगे में यशोदानंदन की मृत्यु से ख्वाजा की आंखें खुल गईं। वास्तविकता से भिन्न होने पर वे मानवता का मार्ग पकड़ते हैं। प्रेमचंद की मान्यता

है कि जब तक हिंदू और मुसलमान एक दूसरे की भावनाओं का आदर करना नहीं सीखेंगे, तब तक एकता संभव नहीं है। इन्हीं गुणों के कारण उपन्यास में चक्रधर एकता के प्रतीक के रूप में सामने आता है।

सांप्रदायिक समस्याओं से मुक्ति के लिए प्रेमचंद आपसी मेलजोल और एकता की स्थापना को सबसे महत्वपूर्ण मानते थे। कायाकल्प में उन्होंने यशोदानंदन की पत्नी के माध्यम से अपने इन्हीं विचारों को स्वर प्रदान किया है- “नित्य समझाती रही इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिंदुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़ते मरते हो-क्यों एक दूसरे को निगल जाने पर तुले हो। न तुम्हारे निगले वे निगले जाएंगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे, मिलजुल कर रहो।” [वही, पृ. 190]

इसी प्रकार से प्रेमाश्रम उपन्यास में प्रेमचंद ने यह दिखलाया है कि आम जनता की समस्या एक है। साम्राज्यवाद और उसके सहयोगियों से हिंदू-मुसलमान दोनों परेशान हैं। आपस में लड़ कर इन समस्याओं से मुक्ति पाना असंभव है। हिंदू मुसलमान एकजुट होकर ही इस शोषण को समाप्त कर सकते हैं। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के मूल कारणों पर विचार कर यह साबित किया है कि हिंदू और मुसलमानों के आपसी सहयोग से ही इस देश का उन्नयन संभव है। उनके इसी संदेश की अनुगूंज गबन, कर्मभूमि, गोदान उपन्यासों में भी सुनाई पड़ती है। सांप्रदायिक विवाद बढ़ाने के लिए अंग्रेजों ने जानबूझकर हिंदू-उर्दू का झगड़ा खड़ा किया। हिंदी हिंदुओं की भाषा है उर्दू मुसलमानों की यह कहकर वे भाषा को सांप्रदायिक रंग देना चाहते थे। इसका प्रभाव अनेक साहित्यकारों और जनता पर पड़ भी रहा था। अरबी-फारसी और संस्कृत के अधिकाधिक शब्दों का प्रयोग कर सांप्रदायिक मनोवृत्ति के लोग भाषा को मजहबी रंग देकर अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। प्रेमचंद ने इस प्रवृत्ति का खुलकर विरोध किया। मिस्टर नियाज के भाषा संबंधी प्रतिक्रियावादी तर्कों का उत्तर देते हुए प्रेमचंद ने 1930 के ‘जमाना’ में लिखा था- “अगर मुसलमान उर्दू और फारसी के लफ्ज ठूस-ठूस कर उसे इस्लामी रंग देना चाहते हैं तो हिंदू भी उसमें हिंदी और संस्कृत के शब्द दाखिल कर उसे हिंदू रंग देने का इच्छुक हो सकता है। उर्दू न मुसलमान की बपौती है न ही हिंदू की। उसके लिखने और पढ़ने का हक दोनों को हासिल है। हिंदुओं का उस पर हक पहला है, क्योंकि वह हिंदी की एक शाखा है, हिंदी पानी और मिट्टी में उसकी रचना हुई है और कुछ थोड़े से अरबी और फारसी शब्दों के दाखिल कर देने से उसकी असलियत नहीं बदल सकती।” [अमृत राय, प्रेमचंद: विविध प्रसंग भाग-2, पृ. 361]

प्रेमचंद न तो अरबी-फारसी से बोझिल और न ही संस्कृतनिष्ठ हिंदी के पक्षधर थे। उनका विचार था कि भाषा का वही रूप सर्वश्रेष्ठ है जो आम जनता के व्यवहार में है। हिंदी और उर्दू के विवाद को समाप्त करने के लिए भाषा के इसी रूप को वे प्रतिष्ठित करना चाहते थे। प्रेमचंद ने उर्दू भाषा की वैज्ञानिकता की परख की थी और भाषिक संप्रदायवाद को समाप्त करने के लिए ही उन्होंने इस क्षेत्र में एक नया कदम उठाया था। इसका प्रमाण प्रेमचंद की भाषा है। प्रेमचंद भाषा के जिस रूप का विकास चाहते थे उसकी जानकारी इस टिप्पणी से मिल जाती है- “जब उर्दू का एक अदीब अपनी कोई रचना ऐसे समाज के सामने पढ़ेगा, जिसमें हिंदी के लेखक शरीक हैं तो वह ऐसी भाषा लिखने की कोशिश करेगा, जो हिंदी वालों की समझ में आए। इसी तरह हिंदी का लेखक उर्दू के अदीबों की मंडली में अपनी भाषा को सुबोध रखने पर मजबूर होगा।” [प्रेमचंद, सेवासदन, पृ. 291] प्रेमचंद पारस्परिक सहयोग से भाषा की मिलीजुली साहित्यिक शैली के विकास की आशा रखते थे और यही भाषिक विवाद को समाप्त करने का कारगर तरीका भी था।

प्रेमचंद हिंदी के पहले कथाकार हैं जिन्होंने सांप्रदायिक समस्या को युगीन परिप्रेक्ष्य में गहराई से समझा और अपनी रचनाओं द्वारा राष्ट्रीय जीवन के इस विष को नष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने कथासाहित्य के माध्यम से धर्म की अवहेलना नहीं अपितु धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था प्रकट की है। उनका मत है कि प्रत्येक हिन्दू अथवा मुसलमान अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार आचरण करते हुए दूसरे संप्रदाय के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं में हस्तक्षेप न करे। दोनों एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं का आदर करें। प्रेमचंद ने हिन्दू-मुस्लिम संबंधों को मानवीय आधार पर प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया है। इस आग्रह की अनुगूँज उनकी रचनाओं में साफ-साफ सुनाई देती है। प्रेमचंद के कथासाहित्य का एक बड़ा भाग हमें यह सीख देता है कि दोनों संप्रदायों का कल्याण तभी संभव है जब दोनों एक दूसरे को भ्रातृत्व के नजरिये से देखें और वैसा ही व्यवहार करें।



## ‘भारतदुर्दशा’, भारतेन्दु और भविष्य के भारत की संकल्पना

○ समरेन्द्र कुमार

रोवहु सब मिलिकै, आवहु भारत भाई।  
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखि जाई॥<sup>1</sup>

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष की बदहाल स्थिति पर एक सजग व्याकुल भारतीय नागरिक की आर्तनाद इन पंक्तियों में सुनाई देती है। मध्यकालीन निर्गुण संत कवि कबीरदास ने लिखा है, “दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै”<sup>2</sup>, कहने का तात्पर्य यह है कि अपने परिवेश के प्रति सजग कोई भी व्यक्ति समाज में विद्यमान शोषण, उत्पीड़न, भेदभाव, असमानता आदि को देखकर चुपचाप बैठा नहीं रह सकता है; बौद्धिक रूप से जाग्रत होने के कारण उसके भीतर एक विशेष तरह की बेचैनी होती है, वह उन स्थितियों को बदलने की कोशिश करता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग के एक ऐसे ही सचेत रचनाकार हैं जिनके लेखन में अपने समय के समाज और परिस्थितियों को लेकर चिंता है, पीड़ा है। उनके सृजन के केंद्र में संपूर्ण भारत और भारतवर्ष की सामान्य जनता है। वे समग्र राष्ट्रीय चेतना के साथ भारतवर्ष की समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। अपने साहित्य, विशेष तौर पर अपने नाटकों के माध्यम से उन्होंने मध्यकालीन बोध और रूढ़ियों में जकड़ी आम जनता को देश एवं समाज के सामने मौजूद चुनौतियों के प्रति सचेत कर भविष्य के लिए तैयार करने का प्रयास किया है। डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं, “जिस समय भारतीय समाज राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों के मोड़ से गुजर रहा था उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसकी ऊर्ध्वोन्मुखी शक्ति को पहचान और उसे विकासमान बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। रूढ़ियों को प्रबल झटका देकर युगानुकूल मानों की जो अचूक परख उनको प्राप्त थी उसकी अभिव्यक्ति उनके नाटकों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है।”<sup>3</sup>

आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता है समस्याओं को अपने परिवेश में ही खोजना। भारतेन्दु ‘भारतदुर्दशा’ नाटक में भारतीय समाज के पतन और दुर्दशा के कारणों को परत दर परत खोलते हैं और मुक्त होने के रास्ते सुझाते चलते हैं। केवल चुनौतियों की ओर संकेत करना उनका उद्देश्य नहीं रहा है, बल्कि एक बेहतर समाज और भविष्य के भारत की परिकल्पना प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य रहा है। उन्नीसवीं सदी में जहाँ पश्चिमी देश आधुनिक भाव-बोध और वैज्ञानिक दृष्टि के साथ प्रगति के नए रास्ते पर आगे बढ़ रहे थे, वहीं भारतीय समाज अभी भी पुरातन सोच, संकीर्ण मानसिकता और पारंपरिक रीति-रिवाजों में ही डूबा हुआ था। भारतेन्दु भारतीय समाज की कमजोरियों को बार-बार उद्घाटित करते चलते हैं ताकि इन

दुर्बलताओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो सके। इस संदर्भ में वे धर्म की भूमिका पर सवाल उठाते हैं। धर्म के प्रति गहरी आस्था ने भारत की सामाजिक व्यवस्था को कई प्रकार की बुराइयों, कुरीतियों और अंधविश्वासों का शिकार बनाया। भारतीय सामाजिक ढाँचे में वर्ण-व्यवस्था के कारण ऊँच-नीच और छुआछूत का भेद खूब प्रचलित रहा है। कई प्रकार की जातियाँ अस्तित्व में आईं और इन जातियों के अंतर्गत भी कुल, गोत्र, शाखा आदि के आधार पर अपने आपको श्रेष्ठ और दूसरे को हीन समझने का भाव प्रवेश कर गया। धर्म के नाम पर उत्पन्न विभिन्न प्रकार की विकृतियों, मसलन- जाति-भेद, बाल-विवाह, विधवा स्त्रियों का शोषण, बहुदेववाद एवं मतवाद आदि की ओर भी वे हमारा ध्यान ले जाते हैं। नाटक में वे कहते हैं,

रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।  
 शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥  
 जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।  
 खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो॥<sup>4</sup>

धार्मिक आस्था के नाम पर एक ओर कई कुरीतियों ने भारतीय समाज में प्रवेश कर लिया था तो दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप निर्मित वर्जनाओं ने लोगों को कूपमंडूक बना दिया। समुद्र-यात्रा के निषेध तथा यात्रा करने की स्थिति में धर्म-भ्रष्ट और पतित घोषित होने के भय ने अन्य देशों के साथ होने वाले संपर्क को बंद कर दिया, इस कारण अन्य देशों में जो परिवर्तन हो रहा था या नई तकनीकें विकसित हो रही थीं, भारतवासी उससे अपरिचित रह गए। भारतीय समाज की मानसिक संरचना इतनी अवैज्ञानिक और पिछड़ी हुई हो गई कि वे रोगों को भी ईश्वर का प्रकोप मानकर इलाज करने के स्थान पर उसकी पूजा करने लगे थे। नाटक में 'रोग' नामक पात्र के माध्यम से भारतेंदु इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हैं। 'रोग' के संवाद के माध्यम से भारतीय जनमानस की सोच पर व्यंग्य करते हुए भारतेंदु कहते हैं, "हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा; तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिन्दू लोग क्या रोकेंगे? ये किधर से चढ़ाई करते हैं और कैसे लड़ते हैं जानेंगे तो हई नहीं, फिर छुट्टी हुई। वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जाएँगे और इन्हीं को देवता करके पूजेंगे, यहाँ तक कि मेरे शत्रु डॉक्टर और विद्वान इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे तो भी ये सब उसको शीतल के डर से न मानेंगे और उपाय आछत अपने हाथ प्यारे बच्चों की जान लेंगे।"<sup>5</sup> धार्मिक भावना के कारण उत्पन्न अंधविश्वास लोगों को भीरु और भाग्यवादी बनाता है तथा कई प्रकार की कमजोरियों, जैसे आलस्य, संतोष, निष्क्रियता आदि को जन्म देता है। भारतेन्दु भारतीय समाज के इन नाकारात्मक पक्षों को भली-भाँति समझते थे और इससे बाहर निकलने के लिए आम जनता को जाग्रत करने का प्रयास करते हैं।

1857 की क्रांति की असफलता ने भारतवर्ष की अब तक की राजनीतिक संरचना और प्रशासनिक तंत्र को बदल कर रख दिया। इसके बाद मुगल साम्राज्य का औपचारिक अंत हो गया और भारत सीधे ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन गया। हालाँकि, स्थानीय राजे-महाराजे बने रहे लेकिन प्रशासनिक इकाई पूरी तरह से अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया था। भारतीय शासक अंग्रेजी शासन की अधीनता स्वीकार कर उनके द्वारा दिए जाने वाले पेंशन पर गुजारा करके खुश थे। अपने निजी हितों और तुच्छ स्वार्थों के लिए अंग्रेजों को खुश करने के लिए ये किसी भी हद तक चले जाते थे। भारतेंदु ने इन राजे-रजवाड़ों की तीखी आलोचना

की है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इन शासकों से भारत के उद्धार की आशा करना बेमानी है-

वही उदैपुर जैपुर रीवाँ पन्ना आदिक राज।  
परबस भए न सोच सकहिं कछु करि निज बल बेकाज॥  
अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।  
स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिन्दू सब हवै मूढ़  
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब विधि बुधि-बल-हीन॥<sup>६</sup>

भारतीय शासकों की अकर्मण्यता, स्वार्थपरायणता और अँग्रेजी शासन के समक्ष आत्मसमर्पण ने आम जनता का जीवन नारकीय बना दिया था। गरीबी, भूखमरी और अज्ञानता में आकंठ डूबी जनता प्रशासनिक तंत्र के भ्रष्टाचार का शिकार होकर उत्पीड़ित हो रही थी। आम जनता एक ओर अँग्रेज अधिकारियों और कारिदों के हाथों शोषित हो रही थी तो दूसरी ओर भारतीय महाजनों, जमींदारों और शासकों के अन्याय का भी शिकार हो रही थी। भारतेंदु ने 'अंधेर नगरी' नाटक में इस स्थिति पर व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा है,

चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं।  
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥  
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता।  
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥<sup>७</sup>

1857 की क्रांति के बाद अँग्रेजी शासन का दमन-चक्र जितनी क्रूरता के साथ दिखाई दिया, उसने आम लोगों के दिलों में दहशत पैदा कर दिया था, इसलिए अँग्रेजी शासन के खिलाफ विरोध की आवाज उठाने की कल्पना करना भी आम जनता की सोच से बाहर था। पूरे देश के भविष्य पर अंधेरा छा चुका था और इससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था। आम जनता में राजनीतिक चेतना का पूर्ण अभाव था, तो दूसरी ओर जो कुछ मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग थे वह भी अखिल भारतीय स्तर पर किसी संगठन का निर्माण करने या ब्रिटिश शासन के अन्यायपूर्ण कृत्यों का विरोध करने की स्थिति में नहीं थे। प्रशासनिक तंत्र के हाथों आर्थिक शोषण के लिए अभिशप्त आम लोगों के लिए कोई आवाज उठाने वाला नहीं था। लेकिन ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी भारतेंदु हरिश्चंद्र ने आम जनता को देश के सामने मौजूद खतरों और शासन की शोषणकारी नीतियों के बारे में जागरूक करने का प्रयास किया। 'भारतदुर्दशा' नाटक में "पै धन विदेश चली जात इहै अति ख्वारी"<sup>८</sup> कहते हुए वे भारत के आर्थिक रूप से खोखले होने और देश की धन-संपदा के लूटे जाने पर अपनी गहरी चिंता प्रकट करते हैं, तो 'अंधेर नगरी' नाटक में संपूर्ण ब्रिटिश शासन को ही निशाने पर लेते हुए चूरनवाले के मुँह से कहते हैं-

हिंदू चूरन इसका नाम। बिलायत पूरन इसका काम॥  
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥<sup>९</sup>

अँग्रेजी औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी त्रासदी थी- बड़े पैमाने पर भारत का आर्थिक दोहन। भारत की धन-संपदा लूटी जा रही थी। एक ओर प्रशासन से जुड़े हुए अधिकारी एवं कर्मचारी भ्रष्टाचार और रिश्वत लेकर आम जनता को लूट रहे थे तो दूसरी ओर भारतीय बाजार इंग्लैंड में निर्मित उत्पादों से भरा पड़ा था तथा उस तरीके से भारतीय धन ब्रिटेन पहुँच रहा था। भारतेंदु ने आर्थिक शोषण पर अपनी गहरी चिंता प्रकट की है। इस लूट-खसोट पर व्यंग्य करते हुए भारतेंदु 'भारतदुर्दशा' नाटक के तीसरे अंक में सत्यानाश फौजदार

के माध्यम से कहलवाते हैं, “जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाँके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितर-बितर कर दी।....तुहफे, घूस और चन्दे के ऐसे बम के गोले चलाए कि ‘बम बोल गई बाबा की चारों दिसा’ धूम निकल पड़ी। ...धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।”<sup>10</sup> डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणी इस संदर्भ में अत्यंत सारगर्भित है, वे लिखते हैं, “अंग्रेज साम्राज्यवादियों का शासनसूत्र ही यह था कि पिछड़े हुए देशों के अर्थतंत्र की नस अपने हाथ में रखो, उनकी औद्योगिक उन्नति को रोको और उन्हें आर्थिक रूप से खेतिहर देश रखकर अपने ऊपर निर्भर बनाये रहो। भारतेंदु ने इस शासनसूत्र का ही खंडन किया। उन्होंने देशवासियों को अंग्रेजी राज्य के शोषण का सही रूप दिखाया, देश की छिपी हुई लूट पर जो ब्रिटिश कूटनीति का पर्दा पड़ा हुआ था, उसे उन्होंने हटा दिया।”<sup>11</sup>

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के शोषण, अन्याय, उत्पीड़न आदि की शिकार भारतीय जनता, विशेषकर हिंदीभाषी जनता जो गरीबी, अज्ञानता और अंधविश्वास में पूरी तरह डूबी थी, के सामने भविष्य का कोई नक्शा नहीं था और न ही कोई दृष्टि थी। इन परिस्थितियों में भारतेंदु अपने साहित्य के माध्यम से लोगों के सामने एक बेहतर भारत के निर्माण की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं। भारतेंदु जानते थे कि भारत की वर्तमान स्थिति का कारण शिक्षा और ज्ञान का अभाव है। वे भविष्य के भारत को आधुनिक ज्ञान और वैज्ञानिक सोच पर आधारित देखना चाहते हैं। वे इस बात को समझते थे कि पश्चिमी देशों में ज्ञान के जिन नए आयामों और स्रोतों का विकास हुआ है, उसको अपनाए बिना प्रगति संभव नहीं है और आने वाला समय विज्ञान का ही होगा। विज्ञान और तकनीक के विकास ने ही यूरोप की सोच को बदला, उनकी शिक्षा-प्रणाली में बदलाव लाया और इसी ने उनके साम्राज्यवादी मंसूबों को भी बढ़ाया, जिससे वहाँ समृद्धि भी आई। ‘भारतदुर्दशा’ में वे इस तथ्य को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में सामने रखते हैं। नाटक के पहले अंक में भारतेंदु “लरि बैदिक जैन डूबाई पुस्तक सारी”<sup>12</sup> कहकर जहाँ आपसी वैचारिक द्वंद्व में भारत के पारंपरिक ज्ञान-संपदा के नष्ट होने की बात करते हैं, वहीं चौथे अंक में अज्ञानता का प्रतीक रूप ‘अंधकार’ नामक पात्र भारत के विनाश के प्रतीक रूप में आए पात्र ‘भारतदुर्दैव’ से कहता है “आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।”<sup>13</sup> ‘भारतदुर्दैव’ कहता है कि अभी वहाँ जाने का समय नहीं है, इस पर ‘अंधकार’ शिक्षा और ज्ञान के आधुनिक रूपों की ओर संकेत करते हुए कहता है, “भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जा ही के क्या करूँगा! गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जाएगी।”<sup>14</sup> भारतेंदु की सोच बिल्कुल स्पष्ट थी कि ज्ञान के पारंपरिक रूपों ने हमें कूपमंडूक और अंधविश्वासी बनाने का काम किया है। अतः अब शिक्षा के पारंपरिक पुरातन पद्धति को छोड़कर पश्चिमी देशों की शिक्षा-प्रणाली को अपनाना होगा। इसलिए ‘भारत-दुर्दशा’ के छठे अंक में ‘भारतभाग्य’ नामक पात्र के माध्यम से वे कहते हैं, “उठो! देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चल आता है। अब सोने का समय नहीं है।.....देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि।”<sup>15</sup>

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक से वैश्विक स्तर पर, विशेष रूप से यूरोप और अमेरिका के संदर्भ में, राजनीतिक स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन दिखाई देते हैं। पहले अमेरिका औपनिवेशिक शासन से मुक्त होकर एक स्वतंत्र गणतंत्र के रूप में अस्तित्व में आता है, तो कुछ ही समय बाद फ्रांस में निरंकुश राजतांत्रिक ढाँचे को खत्म कर लोकतांत्रिक व्यवस्था और मूल्यों को स्थापित किया गया। फ्रांसीसी क्रांति के नारे ‘स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व’ ने लोगों की बौद्धिक चेतना को प्रभावित किया, इसने सामंती-राजतांत्रिक

व्यवस्था की बुनियाद हिला दी और लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, मानवाधिकार आदि के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पूरे विश्व में औपनिवेशिक शासन कायम करने वाले ब्रिटेन में भी इस समय तक राजा की शक्तियों को अत्यंत सीमित कर दिया गया था और वास्तविक शक्ति निर्वाचित प्रधानमंत्री के पास थी। यह वह समय था जब रूसो, वाल्टेयर, हीगेल, कांट, मार्क्स आदि चिंतकों ने आम जनता की चिंतन-दृष्टि को प्रभावित किया, जिससे सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का दौर प्रारंभ हुआ। भारतेंदु इस बदलाव से परिचित थे, वे चाहते थे कि भारतीय जनमानस भी उन विचारों को आत्मसात करे और अपने सोच में बदलाव लाए। यूरोप में हुए परिवर्तन को लक्षित करते हुए ही 'भारतदुर्दशा' नाटक के अंतिम अंक में वे 'भारतभाग्य' पात्र के माध्यम से कहते हैं, "अब सोने का समय नहीं है। अंग्रेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचण्ड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहचाना। विद्या की चरचा फैल चली, सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला..."<sup>16</sup> इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि भारतेंदु एक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के पक्ष में हैं। भारतीय राजाओं-महाराजाओं के आचरण और व्यवहार के प्रति वह जिस तरह से निराशा प्रकट करते हैं, उससे भी साफ है कि वे जनतंत्र को ही भारत का भविष्य समझ रहे थे। जनतंत्र में आस्था के कारण ही वह अनपढ़, अंधविश्वासी और गरीब जनता से भारत के उद्धार की अपेक्षा रखते हैं न कि राजे-रजवाड़ों या सुविधा-संपन्न वर्ग से। वे इस बात को समझते थे कि जिस दिन यह विशाल जनसमूह जाग्रत हो जायेगी उसके बाद भारत को औपनिवेशिक साम्राज्यवादी शासन से मुक्त होने से कोई भी ताकत रोक नहीं सकता। इसलिए वे इस नाटक में एक ओर बार-बार जनता को उसकी कमजोरियों के बारे में बताते हैं तो दूसरी ओर देश की गौरवशाली समृद्ध विरासत की जानकारी भी देते हैं ताकि लोगों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हो सके।

भारतेंदु वैश्विक स्तर पर हो रहे समकालीन राजनीतिक परिवर्तनों से परिचित थे और भारत के संदर्भ में इसी तरह के परिवर्तन का स्वप्न देखते थे। भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में देखने की अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए 'कविवचन सुधा' पत्रिका के 31 अगस्त, 1874 के अंक में वे लिखते हैं, "जिस प्रकार अमरीका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुई वैसे ही भारतवर्ष भी स्वाधीनता लाभ कर सकता है....।"<sup>17</sup> 'भारत-दुर्दशा' नाटक में अपने इस मंतव्य को वे बार-बार अलग-अलग शब्दावली में प्रस्तुत करते हैं। जब वे भारत को दुर्दशा से बाहर निकालने के लिए एकजुट होने का अनुरोध करते हैं, तब वे वस्तुतः संघर्ष करने के लिए तत्पर होने का आह्वान ही करते हैं। भारतेंदु इस बात को समझते थे कि बिना संघर्ष के भारत की मुक्ति संभव नहीं है और इसके लिए वे एक अखिल भारतीय संगठन के निर्माण की परिकल्पना 'भारतदुर्दशा' नाटक के पाँचवें अंक में प्रस्तुत करते हैं, जो आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में फलीभूत होता हुआ मिलता है। इस अंक में वे एक कमेटी का दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जिसमें अलग-अलग प्रांतों और जीवन के लोग एक जगह एकत्र होकर 'भारतदुर्दैव' से बचने का उपाय खोजते हैं। नाटक में आया 'भारतदुर्दैव' भारत की परतंत्रता का सूचक पात्र है, इससे मुक्त होने का अभिप्राय है- परतंत्रता से मुक्ति अर्थात् स्वतंत्रता। नाटक के इस अंक में एक पात्र 'सभापति' कहता है, "जहाँ तक हो सके अपने देश की रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है।"<sup>18</sup> बंगाली और एडिटर नामक पात्र भी उसका समर्थन करते हैं, एडिटर कहता है, "हम अपने प्राणपण से भारतदुर्दैव को हटाने को तैयार हैं। हमने पहले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था परन्तु यहाँ तो कोई सुनता ही नहीं। भला अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है जो कुछ सोचना हो जल्द सोचिए।"<sup>19</sup> स्पष्ट है कि भारतेंदु का उद्देश्य लोगों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना था।

अतः भारतेंदु की दृष्टि औपनिवेशिक शासन से मुक्ति पर थी क्योंकि तभी भारतवर्ष की समस्याओं का समाधान संभव था। इसके लिए वे राजनीतिक संगठन की स्थापना और स्वदेशी को बढ़ावा देने के उपायों पर बल देते हैं। नाटक के पाँचवें अंक में महाराष्ट्र के व्यक्ति के माध्यम से वे कहते हैं, “सार्वजनिक सभा का स्थापन करना। कपड़ा बीनने की कल मँगानी। हिन्दुस्तानी कपड़ा पहिनना। यह भी सब उपाय है।”<sup>20</sup> इससे पूर्व 23 मार्च, 1874 को स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर ‘कविवचन सुधा’ पत्रिका में एक शपथ प्रकाशित कर चुके थे, जो कुछ इस प्रकार था, “हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्व द्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिति तक हमारे पास है उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे। हिंदुस्तान ही का बना कपड़ा स्वीकार करेंगे...”<sup>21</sup> यह शपथ-पथ भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में एक ऐतिहासिक महत्व रखता है क्योंकि इस समय तक इस तरह से विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार की सार्वजनिक घोषणा किसी ने भी नहीं की थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेंदु के सृजनात्मक महत्व को स्थापित करते हुए सही ही लिखा है, “उत्तर भारत में वह स्वदेशी आन्दोलन के जन्मदाता हैं, भारत में विदेशी पूँजी के शोषण के सबसे पहले आलोचक हैं। उनके साहित्य का मूल-स्रोत देशभक्ति है। उन्होंने अपने साहित्य से साम्राज्य-प्रेमी और रूढ़िवादी विचारधारा का प्रभाव संकुचित किया और जनता के आत्मसम्मान और उनकी राजनीतिक चेतना को जागृत किया।”<sup>22</sup>

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र की सृजनात्मकता के केंद्र में राष्ट्रीय-भावना है और ‘भारतदुर्दशा’ नाटक में उन्होंने आद्योपांत युगीन परिवेश पर अपनी दृष्टि केंद्रित रखी है। समकालीन समस्याओं के मूल में निहित अतीत की दुर्बलताओं और वैचारिक पतन को उद्घाटित करते हुए वे स्वाधीनता की आकांक्षा के साथ वैज्ञानिक सोच पर आधारित ज्ञान-चेतना से युक्त राष्ट्र की कल्पना करते हैं, वे ‘प्रजा का स्वत्व’ पहचानने वाले राजनीतिक तंत्र अर्थात् लोकतांत्रिक व्यवस्था के पक्ष में खड़े दिखते हैं।

संदर्भ :

1. हरिश्चंद्र, भारतेंदु, भारतदुर्दशा (भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम भाग) सं. ब्रजरत्नदास, रामनारायण लाल पब्लिशर, इलाहाबाद : 457.
2. दास, श्यामसुंदर (सं.), कबीर-ग्रंथावली, छंद-112, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी : 9.
3. सिंह, बच्चन, हिन्दी नाटक, आवृत्ति-2001, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली : 23.
4. हरिश्चंद्र, भारतेंदु, भारतदुर्दशा (भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम भाग) सं. ब्रजरत्नदास : 465
5. वही : 471
6. वही : 480
7. वही, अंधेर नगरी : 551
8. वही, भारतदुर्दशा : 458
9. वही, अंधेर नगरी : 551
10. वही, भारतदुर्दशा : 466
11. शर्मा, रामविलास, भारतेंदु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, छठी आवृत्ति-2004, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली : 77.
12. हरिश्चंद्र, भारतेंदु, भारतदुर्दशा (भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम भाग) सं. ब्रजरत्नदास, वही : 458

13. वही : 479
14. वही : 479
15. वही : 496
16. वही : 496
17. भारतेंदु ग्रंथावली (भाग-6), सं. ओमप्रकाश सिंह, उद्धृत : 281
18. हरिश्चंद्र, भारतेंदु, भारतदुर्दर्शा (भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम भाग) सं. ब्रजरत्नदास : 482
19. वही : 483
20. वही : 485
21. भारतेंदु ग्रंथावली (भाग-6), सं. ओमप्रकाश सिंह, उद्धृत : 276
22. शर्मा, रामविलास, भारतेंदु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ : 151

# कविता जिनकी लाठी है : सदानंद शाही

○ निरंजन कुमार यादव

भोजपुरी अध्ययन केंद्र, बीएचयू के संस्थापक समन्वयक, परम्परा और प्रतिरोध के पारखी, माटी-पानी को उसके असल रूप में बचाने के लिए सदैव चिंतित, सुदर्शन छवि एवं मधुर व्यवहार से अजातशत्रु नाम को चरितार्थ करने वाले, सतत संघर्षों में यकीन कर 'सुख को एक बासी चीज' बताने वाले और अपनी उपेक्षा एवं अपने प्रति ईर्ष्या को अपनी अपरिहार्यता एवं स्नेह में रूपांतरित करने वाले मनीषी का नाम सदानन्द शाही है। साहित्य की दुनिया में विचारों की विविधता और नवीनता का स्वागत करने वाले शाही जी आज किसी परिचय के मुहताज नहीं हैं। वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक सम्मानित शिक्षक हैं, हिन्दी साहित्य जगत के एक महत्वपूर्ण कवि हैं, संत साहित्य और प्रेमचंद साहित्य के उद्भट व्याख्याता / विद्वान हैं, हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित करने वाली 'साखी' पत्रिका के यशस्वी संपादक हैं, प्रेमचंद साहित्य संस्थान एवं भोजपुरी जन-संस्कृति मंच के निदेशक हैं, इसके अलावा भी कई अन्यान्य उपाधियाँ उनके जीवन को सुशोभित कर रही हैं। वह इस वर्ष 07 अगस्त को अपने जीवन के 65 वें बसंत में प्रवेश कर चुके हैं। वैसे एक आचार्य कभी सेवानिवृत्त नहीं होता लेकिन विश्वविद्यालयी शिक्षण कार्य से वह इसी शैक्षणिक सत्र 30 जून 2023 को सेवा निवृत्त हो जायेंगे।

आज प्रोफेसर सदानंद शाही का अकादमिक जीवन जितना सहज एवं समृद्ध दिखता है, उसकी यात्रा उतनी सहज नहीं रही है। उनके द्वारा अर्जित इस आसेतु हिमालयी ख्याति के मूल में उनका कभी न खत्म होने वाला संघर्ष छिपा हुआ है। जिसको जाने बिना हम उनके व्यक्तित्व की बुनावट को ठीक ढंग से नहीं समझ सकते। हम यह भी नहीं जान सकते कि जीवन के हर कदम पर मिलने वाले हलाहल को बिना ताण्डव किए कैसे पचा कर वह शिव की तरह समभाव में बने रहते हैं। उनका व्यक्तित्व किसी प्रीतिकर आश्चर्य से कम नहीं है। जहाँ बैर नहीं, क्रोध नहीं, ईर्ष्या-द्वेष नहीं, यदि कुछ है तो मैत्री है, सद्भाव है, स्नेह है और भरी पूरी मनुष्यता है। सचमुच में जितना मैं उन्हें जान पाया हूँ उस आधार पर कह सकता हूँ कि प्रो. सदानन्द शाही निष्ठा, श्रम एवं बिना थके लगातार कोशिश करने वाले व्यक्तित्व का नाम है। निष्काम कर्मयोग के वह साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। जिनके यहाँ सिद्धांत और व्यवहार में अंतर नहीं है। उन्होंने अपने शील, संयम एवं संघर्ष से अपने व्यक्तित्व को कंचन बनाया है।

सदानन्द शाही का जन्म 07 अगस्त, 1958 ई. को कुशीनगर जनपद के छोटे से गाँव सिंगहा में हुआ। भारतीय लोक परंपरा में एक कहावत है कि 'होनहार विरवान के होत चिकने पात'। शाही जी की आप जन्मतिथि पर गौर करें 07 अगस्त। सात वह संख्या हैं जिसका एक अपना एक खास महत्व है। यह एक

अविभाज्य संख्या है, जो किसी अन्य से नहीं कटता। शाही जी का विकल्प सिर्फ शाही जी हैं कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। गोरखपुर से वाराणसी तक के उनके सफर में हम आगे देखेंगे की उनको काटने की, उनको हटाने की, उनको गिराने की कितनी कोशिशें हुई, लेकिन सत्य के साथ जिसका चित्त जुड़ा हुआ हो उसे आनंद के साथ आगे बढ़ने से कौन रोक सकता है? उनसे ईर्ष्या करने वाले हमेशा मुँह के बल गिरे हैं।

शाही जी में अद्भुत जीवनी शक्ति है, बिल्कुल भगवान शिव की तरह तटस्थ। अपने कर्म में रत। अपने जीवन में कटुता एवं द्वेष के हलाहल को पीते हुए सदानन्द को बनाए रखना सिर्फ एक कला नहीं वरन तपस्या है। शाही जी का सफर सिर्फ जीवन जीने के लिए नहीं है। उसका एक महत्तर उद्देश्य है। इस सन्दर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'कुटज' में जो जीवन सम्बन्धी बात कही है वह शाही जी पर अक्षरशः लागू होती है, "कुटज क्या केवल जी रहा है ? वह दूसरे के द्वार पर भीख मांगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरोँ का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरोँ को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दांत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झांकता। जीता और शान से जीता है- कोई वास्ते, किस उद्देश्य से ? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भांति अवधूत की भाषा में कह रहा है : चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय हो, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।" शाही जी भी आजीवन हार नहीं माने। परिस्थितियाँ और विरोधी लोग लगातार उनके राह में रोड़ा अटकाते रहते हैं और शाही जी हैं कि अपना रास्ता बनाते रहते हैं। यह सिलसिला बचपन से लेकर अब तक चलता रहा है।

शाही जी का बचपन बहुत साधारण तरीके से बीता है। इन्होंने प्राथमिक शिक्षा से लेकर हाई स्कूल तक की पढाई गाँव के विद्यालय से पूरा किया तथा इंटरमीडिएट हेतु इनका दाखिला बगल के कस्बे रामकोला के जनता इंटर कालेज में करा दिया गया। बी.ए. करने हेतु इन्होंने उदित नारायण स्नातकोत्तर महाविद्यालय पडरौना में प्रवेश ले लिया। उन दिनों पडरौना कालेज में अच्छी पढाई होती थी। कुशीनगर (तब देवरिया) जनपद का यह एक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थान था। प्रायः यहाँ सभी योग्य अध्यापक थे किन्तु शाही जी के पडरौना आते-आते कवि कंदारनाथ सिंह जे.एन.यू. जा चुके थे। उनके जाने के बाद भी उन्हें लोग बहुत आदर के साथ याद करते थे। उन्होंने जिस नए शैक्षणिक माहौल एवं अकादमिक सक्रियता के प्रति ईमानदार कोशिश की थी वह अब भी बरकरार था। जिसका असर शाही जी पर पड़ना लाजमी था। शाही जी ने पूरे मनोयोग से पढ़ने के लिए दाखिला लिया था लेकिन धीरे-धीरे इनका रुझान छात्र राजनीति में हो गया। इनकी वाणी एवं स्वभाव में सम्मोहन शुरू से था। जिससे भी बात कर लें वह मंत्रमुग्ध हो जाता। यह छात्र राजनीति क्या किसी भी राजनीति के लिए एकदम उपयुक्त व्यक्तित्व थे। शाही जी यहाँ छात्र संघ हेतु चुनाव लड़े और छात्र संघ अध्यक्ष भी चुने गए। शाही जी के जीवन में ऐसी कई घटनाएँ चौकाने वाली हैं। देखिए न वह पडरौना स्नातक करने आए और छात्र नेता बन गए। उनके सामाजिक दायरा का यहाँ खूब विकास हुआ और पढाई-लिखाई मानों सिमट सी गई। पडरौना के छात्र संघ चुनाव की जीत ने शाही जी के लिए संभावनाओं का एक नया द्वार खोल दिया था। उनकी इच्छा थी कि वह सक्रिय राजनीति में अपनी जवाबदेही तय करें। इच्छा अच्छी थी लेकिन उसके क्रियान्वयन की राह आगे बहुत कठिन थी। फिर भी कोशिश और उम्मीद में कोई कमी नहीं थी। यही दोनों चीज मनुष्य की असली पूजी हैं। जिसके बल-बूते वह इस समाज

में कुछ भी हासिल कर सकता है। इसलिए किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को अपनी इस पूँजी को पहले आजमाना चाहिए। शाही जी के पास इसकी कभी कमी नहीं रही। कोशिश और सतत कोशिश उनका प्रिय सगल है। उनके लिए इस जहाँ में असीम कुछ भी नहीं है। वह सब कुछ अपनी सीमा में चाहते हैं। उनके लिए मानवीय गरिमा और प्रेम से बड़ा कुछ भी नहीं है। उसकी कोई सीमा नहीं है लेकिन लोगों ने उसे भी जाति-धर्म के बंधन में बांधकर सीमित करने का अनर्गल प्रयास किया है। शाही जी उसे असीम बनाना चाहते हैं। इसकी कोशिश वह अपने जीवन एवं लेखन के माध्यम से लगातार करते चले आ रहे हैं। ऐसी ही एक कोशिश उनका पडरौना से गोरखपुर आने का है।

एम.ए. करने के लिए वह गोरखपुर आए। यहाँ शाही जी पडरौना की तरह पढ़ने नहीं आए थे। यहाँ इनका मुख्य उद्देश्य चुनाव लड़ना था। गोरखपुर विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग अपने गौरव के चरम पर था। विभाग के विद्वानों की गिनती राष्ट्रीय स्तर पर थी। यहाँ के आचार्य साहित्य की मुख्य धारा में बने हुए थे। शाही जी का एम.ए. हिंदी में दाखिला हुआ। शाही जी यहाँ भी छात्र संघ का आरंभिक चुनाव जीत गए लेकिन आगे की राह बहुत कठिन थी। गोरखपुर में छात्र संघ अध्यक्ष होने के लिए भारी धन-बल की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त 'दो अपराधी जातीय समूह में से किसी एक का समर्थन जरूरी था'। शाही जी यहीं चूक गए। जातीय समीकरण बिठाना उन्हें नागवार गुजरा। वह विचारधारा के आधार पर चुनाव मैदान में उतरे थे। यहाँ छात्रोपयोगी मुद्दों एवं उनके हितों की बात को केंद्र में रखकर चुनाव मैदान में उतरने से अधिक महत्व था कि जातीय समीकरण एवं गुंडई के आधार पर माहौल बनाना ! जो शाही जी की विचारधारा के प्रतिकूल था। इस चुनाव में राजनैतिक घपलेबाजी, झूठे वादे, मुहदेखी बातें, हवा-हवाई घोषणा-पत्रों और चुनावी खर्च के सामने शाही जी की साफ-सुथरी छवि और वैचारिकता टिक न सकी। वह हार गए। उन्हें यह भी समझ आ गया कि गोरखपुर जैसी जगह पर प्रगतिशील विचारधारा के साथ चुनाव लड़ने का यह उपयुक्त समय नहीं था। यह केवल गोरखपुर में ही नहीं पूरे उत्तर भारत की कमोवेश यही स्थिति थी। तब भी और अब भी। शाही जी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह बहुत दिनों तक भरम में नहीं रहते हैं, उन्हें अपनी असल स्थिति का भान बहुत जल्दी हो जाता है। इसलिए वह समय रहते ही अपने सही रास्ते का चुनाव कर लेते हैं।

चुनावी पराजय के बाद शाही जी ने राजनीति से अलग होकर साहित्य का रास्ता चुन लिया। उसी समय इनकी "पहली कविता 'हलो धृतराष्ट्र' साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुई।" जिसकी प्रशंसा में इन्हें देश भर से खूब चिट्ठियाँ मिलीं। शाही जी में साहित्यिक संस्कार के गुण पडरौना में पड़ चुके थे जिसका अंकुरण एवं विस्तार गोरखपुर विश्वविद्यालय में हुआ। शाही जी से पूछने पर कि आपके साहित्यिक संस्कार कहाँ से प्राप्त हुए? तो वह बहुत ही स्वाभाविक ढंग से बताते हैं कि 'पडरौना की सड़कों से। पडरौना जब पढ़ने आया तो केदारनाथ सिंह वहाँ से जा चुके थे पर वहाँ का पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा उन्हें याद करता था। लोग उन्हें डॉक्टर साहब कहकर बड़े आदर के साथ याद करते थे। याद करने वालों में अध्यापक, छात्रनेता, नेता और पत्रकार से लेकर चपरासी तक होते। नगर सेठ से लेकर चिकित्सक, व्यापारी सब। लगता जैसे साहित्य भी कोई चीज है जिसके लिए लोगों में ऐसा सम्मान है, कहीं न कहीं यह एहसास ही साहित्य के दायरे में खींच लाया।

गोरखपुर विश्वविद्यालय में पडरौना की अपेक्षा अधिक साहित्यिक गतिविधियाँ आयोजित होती थी। हिंदी के सभी प्रतिष्ठित लेखकों से शाही जी का यहीं मिलना-जुलना हुआ। यहीं पर अनिल राय और राजेश मल्ल

जैसे जिगरी यार मिले। मित्रता के मामले में शाही जी हमेशा अव्वल रहे हैं। मित्र बनाना, मित्रों को सहेजे रखना उनके कुशल क्षेम का साक्षी बनना कोई शाही जी से सीखे। भारत के कोने-कोने में इनके मित्र हैं लेकिन जो महत्व राजेश मल्ल और अनिल राय का है वह शायद किसी और का नहीं है। शाही जी रिश्तों को पूरी संजीदगी के साथ जीते हैं। यही कारण है कि वे बार-बार पडरौना और गोरखपुर लौटते हैं। यह लौटना असल जीवन में भी होता है और रचनाधर्मिता में भी। वह जब भी अपने मित्रों से मिलते गोरखपुर आते हैं उनकी मस्ती, उत्सुकता और चहक देखते बनती है। लेकिन यही बात गोरखपुर विश्वविद्यालय के विषय में नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्यों ही विश्वविद्यालय का प्रसंग आता है वह औपचारिक हो जाते हैं। यह औपचारिकता उनके बतरस को मद्धिम करके उनके ठहाकों की मस्ती को कम कर देती है। यह इसलिए होता है कि उन्हें गोरखपुर विश्वविद्यालय में पढ़ाने की ललक और इस ललक के बीच में आनेवाली विश्वविद्यालय की घटिया राजनीति का स्मरण हो आना। इस मुद्दे पर विश्वविद्यालय और इनके पदाधिकारियों और साथ में जातिगत दबदबा को उच्चता का प्रतिमान मानने वाले गुरुश्रेष्ठों की कलाई उतर गई थी। उच्च आदर्शों की बात करने वालों के चेहरे कालिख से पुते दिखे। शाही जी ने कबीर की तरह अपने गोरखपुर विश्वविद्यालय को छोड़ दिया। यह छोड़ना आसान नहीं था। इस छोड़ने के पीछे आधी उम्र, बेपनाह प्यार करने वाले मित्रों का साथ, छात्रों को पढ़ाने का लोभ, शहर की गलियाँ, गलियों का तिलिस्म और यहाँ की आबो-हवा सब छूट रहे थे। दोस्तों से किये वादे और विश्वविद्यालय एवं शहर को लेकर देखे गए सपने भी छूट रहे थे। इसीलिए विश्वविद्यालय को छोटे इतने वर्ष हो जाने के बाद भी छूटने का टीस जस का तस बना हुआ है। यह छूटे भी कैसे ! यह इतना आसान कहाँ हैं! फिर भी अपनी सकारात्मकता के कारण इस मुद्दे पर शाही जी बहुत बात नहीं करते और एक लम्बी साँस लेकर कहते हैं कि -यह भी अच्छा ही हुआ। वहाँ नहीं हुआ तो बी.एच.यू. में हो गया। फिर भी उनके मन के कसैलेपन को महसूस किया जा सकता है। गोरखपुर से शाही जी का का अटूट रिश्ता है। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में इस शहर की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक मजेदार बात उनके साथ यहाँ घटित हुई। वह यह कि शाही जी जब गोरखपुर विश्वविद्यालय आए तो पढ़ाई मुख्य ध्येय नहीं था। वह यहाँ छात्र-राजनीति के लिए आए थे लेकिन यहाँ कि परिस्थितियाँ ऐसी बनी की पढ़ाई की ओर मुड़ गए। जब कि पडरौना वह पढ़ाई के लिए दाखिला लिए थे और राजनीति करने लगे थे। खैर जो हुआ अच्छा ही हुआ। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो 'प्रेमचंद साहित्य संस्थान' कैसे बना होता ? काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'भोजपुरी अध्ययन केंद्र' अस्तित्व में कैसे आता ? 'साखी' जैसी महत्वपूर्ण पत्रिका का प्रकाशन कैसे संभव होता ? शाही जी के साहित्यकार व्यक्तित्व से पाठक एवं श्रोता मुकम्मल रूप से कैसे परिचित होते ? सचमुच में चुनौतियों से लगातार निखरने की कला शाही जी के पास है। वह चुनौतियों से घबराते नहीं हैं बल्कि उसके बीच भी कुछ अच्छा करने की कोशिश करते हैं। प्रेमचंद साहित्य संस्थान उनके बेरोजगारी के दिनों का उद्यम है। 'साखी' पत्रिका की शुरुआत भी उन्होंने अपने बेरोजगारी के दिनों में ही आरम्भ किया था। ऐसे बहुत से काम हैं जिससे शाही जी की सकारात्मकता और अपार धैर्य का पता चलता है। सबको गिनाना यहाँ प्रेय नहीं है।

शाही जी गोरखपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. किए और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। एम.ए. करने के बाद शाही जी गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रो. शान्ता सिंह के निर्देशन में पी-एच.डी. हेतु पंजीकृत हुए। इनके पी-एच.डी. का विषय था- 'अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तक काव्य और हिन्दी के संत काव्य का तुलनात्मक अध्ययन'। शाही जी ने अपना शोध-कार्य पूरे मनोयोग के साथ किया और पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। पी-एच.डी. करते हुए शाही जी साहित्यिक बहसों में पूरी सक्रियता के साथ प्रतिभाग करने लगे

थे। कार्यक्रमों के आयोजन एवं संचालन के लिए यह विभाग के सबसे प्रिय छात्र थे। साहित्यिक गोष्ठियों में शाही जी एक चर्चित चेहरा थे। केदारनाथ सिंह एवं नामवर सिंह को अपनी कार्यशैली एवं साहित्यिक अभिरुचि से शाही जी बहुत पहले प्रभावित कर चुके थे। जब लोग इन हस्तियों के सामने अपनी नौकरी के जुगाड़ की बात कर रहे थे उस वक्त शाही जी 'प्रेमचंद साहित्य संस्थान' को मूर्तरूप देने के लिए विचार-विमर्श कर रहे थे। 'प्रेमचंद साहित्य संस्थान' बनने की कहानी भी बहुत दिलचस्प है। शाही जी बताते हैं कि "प्रेमचंद साहित्य संस्थान का विचार भी बेरोजगारी की देन था। उन्हीं दिनों मुझे सोवियत संघ के 'गोर्कीज इंस्टीट्यूट आफ वर्ड लिटरेचर' का पता चला। मैं उसकी फेलोशिप की कोशिश में लगा था। उसमें तो सफलता नहीं मिली लेकिन हमने कई ऐसी किताबें पढ़ीं थीं जिनमें प्रेमचंद की तुलना गोर्की से की गयी थी। गोरखपुर से प्रेमचंद का सम्बन्ध जग जाहिर था। एक दिन अचानक मन में विचार आया कि प्रेमचंद के नाम पर संस्थान बने, और मैं जुट गया। मैंने पढ़ रखा था कि काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' बी.ए. में पढ़ने वाले तीन मित्रों ने की थी। मैंने अपने मित्रों से चर्चा की और बात आगे बढ़ गयी। यह वही समय था जब मेरी गुरु प्रोफेसर शांता सिंह हिन्दी विभाग में प्रेमचंद पीठ की स्थापना में जुटी थीं। यह आसान काम नहीं था। प्रेमचंद को लेकर गोरखपुर विश्वविद्यालय ही नहीं गोरखपुर शहर में एक दुविधाग्रस्तता थी। गोरखपुर की सांस्कृतिक चित्ति पर संकीर्ण जातिवादी समूह का वर्चस्व था वह प्रेमचंद के विरुद्ध था। प्रेमचंद वर्ण और जाति को भारतीय समाज की सबसे बड़ी बीमारी मानते थे। जब कि इस समूह का रोजगार ही वर्ण केन्द्रिकता पर टिका हुआ था। अकारण नहीं कि परमानन्द श्रीवास्तव के अवकाश ग्रहण के लगभग पच्चीस वर्ष बाद गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रेमचंद पीठ पर नियुक्ति हो पायी।

बहरहाल ! प्रेमचंद साहित्य संस्थान बना। उसे गोरखपुर ही नहीं देश भर के श्रेष्ठ और उन्नत सांस्कृतिक चेतना के रचनाकारों का सहयोग मिला। लम्बे समय तक संस्थान गोरखपुर और पूर्वी उत्तरप्रदेश में वैकल्पिक सांस्कृतिक केन्द्र की भूमिका निभाने की कोशिश करता रहा है। यह अलग बात है कि संस्थान को वैसी सफलता नहीं मिल पाई जैसी कि उससे अपेक्षा थी या कि उसका लक्ष्य था।" संस्था की सफलता तो साहित्य जगत के लोग जानते ही हैं उसे बताने की यहाँ जरूरत नहीं है। हाँ एक चीज जो गौरतलब है वह यह कि शाही जी का संस्कृतिबोध बहुत पारंपरिक एवं पैना है। वह संस्कृति के संरक्षक तो है ही हैं वह उसके निर्माण में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। 'प्रेमचंद साहित्य संस्थान' और 'भोजपुरी अध्ययन केंद्र' को हम इस रूप में देख सकते हैं।

शाही जी 'प्रेमचंद साहित्य संस्थान' की स्थापना के समय अपनी पी-एच.डी. पूरी कर चुके थे। बेरोजगारी उनके सामने थी, लेकिन उन्हें इस शहर को एक सांस्कृतिक पहचान दिलाने की एक धुन सवार थी। स्ववित्तपोषित विद्यालय में वह पढ़ा चुके थे, इसलिए अब इधर-उधर पढ़ाने का कोई मतलब नहीं था। गोरखपुर में भी कई अवसर आए जब शाही जी की नियुक्ति विश्वविद्यालय में हो सकती थी लेकिन, विभागीय गुणा-गणित से उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। कई बार उनका दिल टूटा लेकिन वह तो शाही जी हैं जिनमें धरती से अधिक धैर्य और आसमान से अधिक विस्तार की सम्भावना समाहित है। जिससे वह पुनर्नवा होते रहते हैं। शिव की तरह सभी कड़वाहट एवं विष को गले में धारण कर अपनी सृजनात्मकता और मानवीय मूल्यों को सुरक्षित कर लेते हैं। किसी को नष्ट नहीं होने देते। शायद इसीलिए उनकी नियुक्ति अंततः शिव की नगरी वाराणसी में हुई। शाही जी को काशी में ही नौकरी करनी थी इसलिए उनकी नियुक्ति कहीं और कैसे हो सकती थी !

शाही जी के बनारस आने के साथ ही इनके जीवन का दूसरा अध्याय शुरू होता है। यह दूसरा अध्याय इनके कवि जीवन का है।

## (ii)

कविता मानव जीवन की गहन अनुभूतियों की रसात्मक अभिव्यक्ति है। यह प्रकृति एवं जीवन के सहकार का समुच्चय है। ऐसे में कविताओं के मूल्यांकन के कई मानदंड हो सकते हैं, लेकिन सीधे अर्थों में वही कविता श्रेष्ठ एवं बड़ी होती है, जिसमें अनुभूतियों का ताप गहरा एवं ऊंचा होता है। इस पैमाने पर शाही जी की कविताओं की कोई शानी नहीं। इनकी कविताओं में संवेदनाओं के फलक पर अंकित चित्र अपने समाज एवं परिवेश से जीवन का सत्व और रस लेते हैं। जिसमें सामान्य जनजीवन का स्वर पूरे आवेग एवं संवेग के साथ मुखरित हुआ है। जिसमें पच्चीस साल पुरानी चिट्ठी के एक-एक हर्फ का तड़पना देखा जा सकता है। जिसमें औरों के बजाय खुद से सवाल पूछने का साहस है। जिसमें उन लोगों के बारे में चिंता की गई है जिन पर इतिहास एवं समाज में बात करना मुनासिब नहीं समझा गया है। इसमें श्रमशील जनता की पसीने की बूंद अक्षर के रूप में सुशोभित होते हैं। इसमें लोक एवं शास्त्र अपनी राग एवं आग के एक साथ मौजूद हैं, लेकिन यह एक दूसरे के बरक्स नहीं अपितु एक दूसरे के समानान्तर हैं। एक दूसरे को संभालते हुए। ऐसे में शाही जी की कविताओं की जनपक्षधरता मोटी-मोटी किताबों से या बड़े-बड़े आयोजनों से साबित नहीं होता, अपितु वह स्वतः प्रमाणित हो जाती है। जैसे किसान को मालूम होता है 'बीज' होने का अर्थ वैसे ही कवि सदानन्द शाही को मालूम है 'शब्द' होने का अर्थ। इनकी कविता बहुरूपी अक्षर हो या खेल में मगन बच्चे हो, या निडरता से डरते बूढ़े हों अथवा चालीस पार करती कुंवारी लड़कियाँ हों आदि से पता चलता है कि इस बड़ी दुनिया के छोटे-छोटे प्रसंगों को वह कैसे पुरी कलात्मकता के साथ उद्घाटित करने में सक्षम हैं। शाही जी की कविता एक तरह से बंद दीवारों में मानवीय चेतना एवं मूल्यों की खिड़की खोलती है।

सफलताओं का इतिहास लिखा जाता है  
और असफलताएं कविताओं में दर्ज होती हैं  
इसलिए लाजिम है कि कविताएं  
असफलता के पक्ष में खड़ी हों  
शायद इसीलिए असफल की पीठ सहलाती  
ढाढस बंधाती  
जाने कब से  
चलती  
चली आ रही हैं  
कविताएं<sup>१</sup> (पृष्ठ-69)

शाही जी के अब तक तीन काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- असीम कुछ भी नहीं, सुख एक वासी चीज है और माटी- पानी। अभी हाल फिलहाल में इन्होंने गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित “संत रविदास के इकतालीस पदों का हिंदी भावार्थ सहित काव्यानुवाद किया है। यह काव्यानुवाद ‘मेरे राम का रंग मजीठ है’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।”<sup>4</sup> यह हिंदी साहित्य में अपने तरह का एक अनूठा कार्य है। जैसा कि हम जानते हैं कि भक्तिकालीन कविता एवं उसके कवियों की प्रासंगिकता एवं लोकप्रियता आज भी किसी मायने में

कम नहीं हुई है। कबीर हों, तुलसी हों, जायसी हों, मीरा हों या रैदास हों, आज इन्हें तरह-तरह से समझा और समझाया जा रहा है। इनकी कविताओं की नए ढंग से व्याख्या की जा रही है। अब इन कवियों का दायरा खालिस साहित्यिक एवं अध्यात्मिक महत्त्व तक ही सीमित नहीं है अपितु अब यह साहित्य से इतर राजनीतिक महत्त्व रखने लगी हैं। ऐसे में यह विचारणीय है कि लगभग पांच-छः सौ वर्ष पूर्व के इन कवियों में ऐसा क्या रहस्य है कि वह आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं एवं उनकी कविताएँ लोगों की जुबान पर चढ़ी हुई है। दरअसल इन कवियों ने जिस धर्म, सत्ता और समाज के तिराहे पर बैठकर अपनी कविताएँ रची थीं; वह तिराहा आज और अधिक हिंसक एवं अपने अंतर्विरोधों से और भी विचलित करने वाला हो गया है। ऐसे समय में शाही जी द्वारा संत रैदास की इकतालीस कविताओं का आज की हिंदी कविता के मुहावरे में रूपांतरण समकालीन हिंदी कविता के लिए एक प्रस्थान बिंदु की तरह है।

बहरहाल, शाही जी पंथबद्ध कवि नहीं हैं। हाँ, वह जीवन एवं समाज के प्रति प्रतिबद्ध जरूर हैं। खेमे बाजी एवं तिकड़म न उनके जीवन में है और न ही उनकी कविता में देखने को मिलती है। कबीर का सहज विवेक एवं बुद्ध का अतिवाद से परहेज का ज्ञान शाही जी ने अपने जीवन में चरितार्थ किया है। कपिल देव जी इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि “सदानंद शाही दिशाओं के नहीं दशाओं के कवि हैं। उनके यहाँ न बाएं चलने का अतिरेक है और न दाएं चलते जाने की अंधता।”<sup>5</sup> अर्थात् शाही जी दाएं-बाएं की रहस्यता को जानते हैं। इनकी कूपमंडूकता से भली-भांति परिचित। अब जब सबके चेहरे से वामपंथ का नकाब धीरे-धीरे उखड़ रहा है तो लोग हैरान हैं। शाही जी ने नकाबपोशों की इस जमात को बहुत पहले ही पहचान लिया था, इसलिए वह संख्या एवं सत्ता के लिए किसी विचारधारा के चक्कर में नहीं पड़ते हैं। वह अपनी कविता में साफ-साफ कहते हैं कि ‘वामपंथी एक अलग तरह के/ दक्षिणपंथ के शिकार थे/ दक्षिणपंथी वामपंथ के/ फायदे उठा लेने के फिराक में थे।’ (असीम कुछ भी नहीं)

शाही जी प्रगतिशीलता की चादर ओढ़ने वालों में से नहीं है, वह सचमुच में प्रगतिशील मूल्यों के पैरोकार हैं। उनकी प्रगतिशीलता ना तो अयाचित है और ना ही आयातित। वह भारतीय परंपरा की है, जो आज के चलताऊ एवं फैशन परस्ती से अलग है। यह परम्परा बुद्ध, सरहपा, गोरख, कबीर, रैदास, गांधी, अंबेडकर एवं प्रेमचंद आदि के सरोकारों से जुड़कर समृद्ध होती है। शाही जी इसी परंपरा के वाहक हैं। इनकी वैचारिकता में बुद्ध की करुणा और कबीर के सहज विवेक को केंद्रीयता प्राप्त है। मार्क्सवाद में बुद्ध की करुणा नहीं है, वहाँ शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं शोषकों के प्रति घृणा और नफरत है। वह इस घृणा एवं नफरत हेतु हिंसा को भी जायज ठहरा देते हैं; किंतु बुद्ध किसी भी प्रकार की हिंसा के खिलाफ हैं। शाही जी भी अपनी कविताओं में हिंसात्मक कार्यवाही की आलोचना करते हैं। भले ही मार्क्सवाद एवं शाही जी सामाजिक परिवर्तनों एवं सामाजिक सरोकारों के मुद्दे पर एक ही जमीन पर खड़े मिलते हैं लेकिन परिवर्तन के तरीकों को लेकर इनमें काफी भिन्नता है। शाही जी मार्क्स के नहीं बुद्ध के पद चिन्हों पर चलते हैं—

मैं जिस धरती पर चलता हूँ  
 उस पर बुद्ध के कदमों की छाप है  
 जब तब लगता है  
 अभी अभी  
 यहीं कहीं से गुजरे हैं बुद्ध  
 जब भी चलता हूँ  
 मेरे साथ-साथ चलते हैं बुद्ध<sup>6</sup> (पृष्ठ-118)

बुद्ध और कबीर शाही जी की कविताओं में सिर्फ साथ नहीं चलते हैं, बल्कि वह इनके मानसिक गठन एवं आलोचना पद्धति के साथ-साथ जीवन विवेक को भी बहुत गहरे तक प्रभावित करते हैं। 'सुख एक बासी चीज है' संग्रह में कबीर पर लिखी हुई इनकी कई कविताएँ संकलित हैं; जिनमें कहीं कबीर प्रकट रूप में है; तो कहीं कहीं किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए वह एक विचार के रूप में सामने आते हैं-

सच-सच बतलाना-परम गुरु!  
 कुचले जाने से कैसे आता है साहस  
 कहाँ विलीन हो जाती है दीनता  
 कैसे जल उठती है- 'सत्य की लौ,  
 कुचली जाती हुई धूल  
 एक दिन कैसे बनती है बवन्डर  
 सच-सच बतलाना-परम गुरु!

क्या इसी तरह आती है ज्ञान की आंधी? (पृष्ठ-60)

'सुख एक बासी चीज है' काव्य संग्रह 'असीम कुछ भी नहीं' के एक लंबे अंतराल के बाद प्रकाशित हुआ। इसमें कुल अड़सठ कविताएँ संकलित हैं। जिसमें 'बहुरूपी अक्षर', 'नेका के किनारे', 'फिनिक्स', 'हरी मिर्च', 'चालीस पार करती कुंवारी लड़कियाँ', 'वह बिगड़ैल लड़की', 'भाषा और भेड़िया', 'पच्चीस साल पुरानी चिट्ठी', 'तुम्हारे घर का रास्ता', 'रेशम के धागे', 'ज्ञान को अंग', 'याद आते हैं पिता', 'पंछी और दीमक', 'कालाहारी कुछ सवाल', 'सुख एक बासी चीज है', 'गुरु की नींद' एवं 'नई चादर बुनी जाती रहेंगी' आदि कविताएँ काफी चर्चित रही हैं। हिंदी साहित्य के बड़े से बड़े कवियों की कविताओं के साथ इन्हें रखा जा सकता है। शाही जी भले ही अपने को कविता की दुनिया के और नागरिक कहते हो लेकिन वह कविता के स्थायी नागरिक हैं। इसके लिए उन्हें किसी प्रमाण पत्र की आवश्यकता नहीं है। यदि कुछ प्रमाण की आवश्यकता पड़ी तो वह उनकी कविताएँ स्वयं प्रस्तुत करती हैं। अतः इस कवि की घोषणा नहीं, इसकी कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। शाही जी साहित्य की दुनिया में कबीर और प्रेमचंद की परम्परा के वाहक हैं, जहाँ एक आत्मसंकोच का मानवीय स्वभाव प्रबल है। वहाँ बड़बोलेपन का सर्वथा अभाव है। ऐसे में नामवर सिंह की बात बहुत ठीक प्रतीत होती है कि कवि की घोषणाओं पर नहीं उसकी कविताई पर उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए। शाही जी भले अपने को कविता का अनागरिक कहें, अपने को विद्वान मानने में संकोच करें, लेकिन पाठक और अकादमिक दुनिया के लोग उन्हें उच्चकोटि का कवि एवं विद्वान मानते हैं। यह आलम तब का है जब अभी उनके सम्पूर्ण काम का बाहर आना शेष है। उसका ठोस मूल्यांकन होना शेष है।

अब तक के प्रकाशित इनके तीनों काव्य संग्रहों को पढ़ते हुए इनके शब्द के प्रति आस्था, अभिव्यक्ति की बेचैनी और सादगी से अपनी बात कहने की कला सहज रूप से प्रभावित करती हैं। इनके यहाँ अक्षर ब्रह्म नहीं है, अपितु वह ईश्वर की रचना को सत्यापित करने वाले इन्सान के हस्ताक्षर हैं -

ईश्वर ने बनायी दुनिया  
 आदमी ने गढ़े अक्षर  
 अक्षर ईश्वर की दुनिया पर  
 इन्सान के हस्ताक्षर हैं  
 ईश्वर की रचना को

सत्यापित करते हुए<sup>8</sup> (पृष्ठ-11)

शाही जी की कविताएँ मौजूदा दुनिया में बेहतरी की तलाश करती हैं। वैसे जब भी मौजूदा दुनिया अपनी स्वाभाविक गति खो कर अपना सौन्दर्य खोने लगती है तब कविताएँ उन्हें सुन्दर बनाने के लिए एक नए विकल्प का सृजन करती हैं। इस नए सृजन के निर्माण में कविता जितनी जद्दोजहद उठाती है उसका कैनवास एवं सरोकार उतना ही बड़ा हो जाता है—

कितना सुकून है  
धीरे धीरे राख होते जाने में।  
पर जाने क्या है  
जो फिर सुगबुगाने लगता है  
उग आते हैं एक जोड़ी पंख  
यह अगिनपाखी जा बैठा है  
पेड़ की फुनगी पर  
एक बार फिर  
सुलगने, धधकने  
और राख होने के लिए<sup>9</sup> (पृष्ठ-21)

हिंदी में ऐसी कविताएं कम देखने व पढ़ने को मिलती हैं। यह 'अनल पक्षी' कबीर और शाही जी दोनों के यहाँ है। कबीर के यहाँ 'अगन पाखी' जो अपना सर्वस्व खोकर स्वयं को पा लेने का सुख दूँदता है। यह उनके अंतस को झकझोर कर रख देता है। उनका चैन छीन लेता है। जब कि शाही जी की कविता में वह कबीर इतना बेचैन तो नहीं करता, लेकिन वह प्रेरित बिल्कुल उनके जैसा ही करता है। वह हममें फिर उस फुनगी पर बैठाने का साहस पैदा करता है। जहाँ हम सुलग सकते हैं, धधक सकते हैं और राख हो सकते हैं। वैसे भी अपने को मिटा कर पुनः पुनर्नवा करने का सामर्थ्य हमें कविता ही दे सकती है। शाही जी की कविताओं में ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ मिटने के बाद पुनः बनने का संदर्भ आता है। जैसे-बीज होने का अर्थ दानों से लद जाना... लोगों की भूख मिटाकर फिर बीज में बदल जाना।

कहने का आशय यह है कि यह जीवन-मरण, राग-विराग, ध्वंस-निर्माण जैसी परस्पर विरोधी शक्तियों को कविता की रचनात्मकता के द्वारा पाठकों तक सहज रूप में संप्रेषित करने की कला कबीर, जायसी से होते हुए सदानंद शाही की कविताओं तक विस्तार पाती है। शाही जी की कविताएँ परंपरा और आधुनिकता को एक साथ लेकर चलती हैं। इनके यहाँ इन दोनों को लेकर कोई हदबंदी नहीं है। इनके यहाँ यह दोनों एक दूसरे के विरोधी ना होकर पूरकता के रूप में प्रस्तुत होते हैं। वैसे भी पुराना सब कुछ त्याज्य नहीं होता और ना ही नया सब कुछ ग्राह्य होता है। पुराने और नए के चक्कर में हम बहुत कुछ मूल्यवान चीजों से वंचित रह जाते हैं; इसलिए उनके यहाँ बूढ़े-बच्चे, गांव-शहर, आधुनिक एवं परंपरिक मूल्यों की सर्जनात्मक उपस्थिति देखते बनती है। इनकी कविताओं से गुजरते हुए आप बहुत शिद्दत से महसूस करेंगे कि इनमें यदि एक तरफ सुंदर को और अधिक सुंदर बनाने तथा उसे बचाने का भाव विद्यमान है तो दूसरी ओर और असुंदर के सामने घुटने न टेकने की जिद्द भी है। यदि कविता जीवन सौंदर्य को कभी ठोस जगहों पर पकड़ती है तो उसका विकृत के प्रति विद्रोह भी स्वाभाविक है। शाही जी को इस बात का ज्ञान है की महानता के ढोंग को उसकी क्षुद्रता में पकड़ा जा सकता है। इसलिए इनकी कविताओं में बड़े-बड़े नारों एवं दावों से परहेज दिखाई देता है। इनकी कविताएँ आम जन-जीवन की सत्यनिष्ठ अभिव्यक्ति के साथ उनके प्रति उदात्त

भाव का संचार करती हैं।

माटी-पानी के सहयोग से ही इस पृथ्वी पर जीवन है। हरियाली है और उमंग एवं उछाह है। कविता इस संबंध को बचाए रखने के लिए संघर्ष तो करती ही है उसके साथ ही साथ वह समय-समय पर इसे पुनः परिभाषित करने का भी एक सार्थक उपक्रम रचती है। यह उपक्रम ही कविता एवं रिश्ते में मजबूती प्रदान करते हुए उसमें नयापन उभारता है। शाही जी मानवीय संबंधों में इसी नवता के कवि हैं। 'वह बिगड़ैल लड़की' एवं 'चालीस पार करती कुंवारी लड़कियां' कविताओं के माध्यम से वह स्त्री जीवन की विवशता, संघर्ष एवं प्रताड़ना को रेखांकित तो करते ही हैं लेकिन उसके साथ हिंदी साहित्य एवं विमर्श द्वारा उसके लिए गढ़ी गई दयनीय छवि को ध्वंस भी करते हैं। इनकी कविताएं 'आंचल में दूध और आंखों में पानी' वाली स्त्री की पारंपरिक छवि से इतर उसकी उमंग उछाह एवं जीवन के प्रति ललक को रेखांकित करती है। जिसमें स्त्री जीवन के बाहर एवं भीतर की दुनिया में फैले घुप्प अंधेरे को चीरने वाला प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। स्त्री जीवन की इस छवि को देखने वाली नजर शाही जी में है। शाही जी ने यह नजर एक दिन में नहीं पाई है। इसे पाने में उन्हें अपना पूरा जीवन खपाना पड़ा है -

मुझे

समूचा जीवन यह जानने में लग गया

कि एक स्त्री को जानना

केवल उसके दुख को जानना नहीं है

एक स्त्री को जानना

उसके सपनों को जानना है

उसके उल्लास को

और आनंद को

जानना है।<sup>10</sup> (पृष्ठ -23)

शाही जी इस बात से भली-भांति वाकिफ हैं कि इस दुनिया को सुंदर बनाने में जिसका सर्वाधिक योगदान है- वह स्त्री है। वह मानव जीवन के अस्तित्व एवं विकास की एक अनिवार्य कड़ी है। इनके यहाँ स्त्री जीवन संग्राम में संघर्षरत रहते हुए प्रेम करती है। अब वह प्रेम में जीने और मरने के अंतर को बखूबी जानती है। आज वह सतर्क है। यदि वह त्याग, समर्पण करती है तो वह यह चाहती भी है। अब वह नियत के भरोसे अपने अंतहीन दुःख को आसानी से स्वीकार नहीं करती। वह अपने खिलाफ हर पैतरे को भाप जाती है और उसका मुंह तोड़ जवाब भी देती है -

समझदारों के हर सुझाव के ठीक

उलट चलकर

जड़ सकती है तमाचा (पृष्ठ 33)

.....

शताब्दियां बीत गईं

जमाने से लड़ते हुए

थके नहीं उसके पाँव

पुरुषों के वियावान जंगल में

सीधी तनी हुई

चलती चली जा रही है  
वह बिगड़ल लड़की<sup>11</sup> (पृष्ठ 34)

हमारे यहाँ कहा जाता है कि हर संवेदनशील पुरुष के भीतर एक सुंदर स्त्री निवास करती है। कवि के अन्दर तो यह स्त्री मुखर रहती है। शाही जी के अन्दर भी एक वह स्त्री स्थायी रूप से विद्यमान है। संवेदना के स्तर पर और सुंदरता एवं सृजन के स्तर पर वह मुखर भी है। यह बात आप उनकी कविताओं से गुजरते हुए भी महसूस कर सकते हैं और उनसे मिलकर बातचीत करने के दौरान भी। इस विषय पर कुछ वर्ष पहले अनूपा चौहान जी का एक लेख 'जनसंदेश टाईम्स' में प्रकाशित हुआ है। अतः यहाँ इस विषय पर पुनः यहाँ लिखना प्रासंगिक न होगा। सिर्फ यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि शाही जी ने स्त्रियों पर कई कविताएँ लिखी हैं। जिसमें उनकी अदम्य जिजीविषा के साथ कभी न हारने एवं समाप्त होने वाली ऊर्जा को रेखांकित करने का सुंदर प्रयास दिखता है। इनकी कविताओं की स्त्रियाँ अन्य पुरुष कवियों की स्त्रियों की तरह निर्भर एवं दयनीय होकर नहीं आती। उनके पास स्वयं को अभिव्यक्त करने की उनकी अपनी एक साझी भाषा है, जिससे वह अपने आत्मविश्वास एवं आत्मयंत्रणा को व्यक्त करने के साथ इस दुनिया को बदलने की ख्वाहिश भी अभिव्यक्त करती हैं। यह बार बार ठगी जाने बाद भी टूटती नहीं हैं अपितु इस दुनिया को और अधिक मजबूत एवं सुंदर बनाने में जुट जाती हैं।

मानवीय संबंधों एवं जीवन के तानों-बानों पर रची गई कविताएँ पाठकों के लिए ज्यादा ग्राह्य हुआ करती हैं। ऐसी कविताएँ मानवीय संवेदना के तंतु से पाठक को अपनी ओर अधिक आकर्षित करती हैं। प्रायः हिंदी कविता में यह देखने को मिलता है कि विचारधारा के स्तर पर लिखी गई प्रायः लंबी एवं अच्छी कहीं जाने वाली कविताएँ भी जब संवेदना के स्तर पर कमजोर होने लगती है, तब छोटी कविताएँ आगे बढ़कर संबंधों की उष्मा को सघन कर देती हैं। शिल्प के इस विधान में ढली कविताएँ भाषा-भूगोल एवं शिल्प का अतिक्रमण कर हमारी संवेदना एवं ज्ञान चक्षु का विस्तार करती हैं। शाही जी के यहाँ ऐसे प्रयोग खूब मिलते हैं। जहाँ सामान आकार से लेकर छोटी-छोटी कविताओं का एक सुंदर संयोजन देखने को मिलता है। जिसमें वैचारिकता के साथ-साथ रोजमर्रा के जीवन में आने वाले दृश्य एवं वस्तुएँ भी कविता का विषय बनते हैं। जैसे- प्याज, हरी मिर्च, आलू, प्याज की ढेरी को ढोते हुए बैलों की जोड़ी, काला कौवा, बीज, बरगद, महुआ, देवी की प्रतिमा, पनडब्बा, रेशम के धागे, सांप सीढ़ी, पेड़, पक्षी, दीमक, अनाज, कीलें, एवं कागज की नाव आदि के माध्यम से शाही जी उन छोटे-छोटे संवेग को पकड़ते हैं जो विषय के तौर पर तो अतिसाधारण दिखते हैं लेकिन रोजमर्रा के संदर्भ में वह बेहद खास होते हैं। मामूली सी दिखने वाली बात को गैर मामूली ढंग से देखना और उसमें प्रतिरोध का स्वर डाल देने की विशेषता शाही जी के काव्य कर्म को वह ऊँचाई प्रदान करता है जो उनके समकालीन के लिए दुर्लभ है।

शाही जी की कविताओं का एक बड़ा हिस्सा गांव से जुड़ा हुआ है। जिसमें भोजपुरी के शब्द बहुत ही खूबसूरती एवं अपनी पूरी मानी के साथ उपस्थित हुए हैं। 'माटी-पानी' संग्रह में साठ हिंदी कविताओं के साथ बारह भोजपुरी कविताएँ भी संकलित हैं। इससे एक बात का साफ तौर से पता चलता है कि शाही जी देशी भाषाओं के विकास को हिंदी के विकास में किसी भी तरह का बाधक नहीं मानते हैं। जैसे कवि केदारनाथ सिंह जी अपनी कविताओं के माध्यम से भोजपुरी और हिंदी के अपने रिश्ते को व्याख्यायित कर चुके हैं वैसे ही शाही जी भी अपने काव्य संग्रह 'माटी-पानी' के माध्यम से अपने रिश्ते को प्रमाणिक करते हैं। शाही जी मातृभाषाओं के विकास के जबरदस्त पैरोकार हैं, इसलिए अपनी मातृभाषा भोजपुरी में उनके प्राण बसते हैं। यह ग्लोबल एवं लोकल के बीच किसी विभाजनकारी रेखा के पक्ष में कभी नहीं दिखते

अपितु यह दोनों के बीच आवा-जाही के समर्थक हैं।

शाही जी सहज भाषा एवं कहन के गहरे कवि हैं। इनकी कविताएं भाषा की सजावटी भंगिमा से दूर रहकर लोक की अनुभूतियों और जीवन संदर्भों से अपनी प्रामाणिकता का एक नवीन विज़न तैयार करती हैं। जिसमें मनुष्य के आदिम राग प्रेम से लेकर लोकतंत्र में बेहतर की तलाश की संभावना मौजूद है। शाही जी कविताओं में भाषा की सादगी में अर्थ के गहरे निहितार्थ हैं। जिससे इनकी कविताओं का फलक बहुत व्यापक हो जाता है। शाही जी सिर्फ कविता के लिए कविता नहीं लिखते वह कविता के सामर्थ्य को जानते हैं, वह इस पर भरोसा करते हैं और इससे व्यापक परिवर्तन की उम्मीद रखते हैं -

काश एक दिन  
दुनिया भर के टैंक  
सीमाओं से हटा दिए जाते  
पहुंचा दिए जाते संग्रहालयों में  
जहाँ बच्चे देखते  
और देखकर चिहाते  
कि तो यह भी कभी डरने-डराने की चीज था  
चहकते और खुश होते  
खिलौनों की लिस्ट  
में  
शामिल नए मेहमान पर  
सीमाओं पर होने लगती  
फूलों की खेती  
सुगंध फैलती  
इस पार भी  
उस पार भी<sup>2</sup> (पृष्ठ 94)

भाषा का पैनापन शाही जी कविताओं की असल ताकत है। यही वह मुख्य तत्व है जो इनकी कविताओं को अन्य से विशिष्ट बनाता है। भाषा और कविता की क्या अहमियत है? इस बात को हम यहाँ शाही जी के एक आत्मकथन से ही समझते हैं। शाही जी कहते हैं कि “भाषा में होना मनुष्य होना है। भाषा मनुष्य होने की पहचान है और कविता भाषा में ही संभव होती है। कविता क्या है? कविता सबसे पहले भाषा की विशेष भंगिमा है। इसलिए कविता में होना सामान्यतः भाषा और विशेष रूप से अपने भीतर की मनुष्यता का उत्खनन है। भाषा की यह भंगिमा एक ओर स्मृतियों के सघन बीहड़ों की यात्रा कराती है तो दूसरी ओर कल्पना की वैकल्पिक दुनिया रचती है। स्मृतियों के बीहड़ में यात्रा करते हुए हम प्रकृति और जीवन के सघन वन में विचरते हुए राग-विराग, सौन्दर्य-उल्लास के अन्यान्य अनुभाओं को पुनर्नवा करते रहते हैं। कविता में संभव होने वाली कल्पना की वैकल्पिक दुनिया यथार्थ जीवन की सीमाओं का रेखांकन करती है। इसके साथ-साथ वह हमारे सामने बेहतर दुनिया का नक्शा भी गढ़ती है, जिसे धूमिल ने कहा- जो है उससे बेहतर चाहिए। कविता इस वैकल्पिक दुनिया को गढ़ने का हौसला देती है। ऐसी वैकल्पिक दुनिया जिसका सपना बुद्ध, गोरख, कबीर, रैदास, नानक और गाँधी जैसे संतो ने देखा था। मेरी कविता प्रायः इन्हीं दो बिन्दुओं के इर्द गिर्द आकार लेती है। मेरे लिए कविता एक लाठी की तरह है। ऐसी लाठी जो टिक कर खड़े होने का सहारा भी दे और जीवन की रपटीली राह पर चलते समय हमसफर की तरह साथ रहे।

मुझे कभी-कभी कविता एक ऐसे कंधे की तरह मिलती है, जिस पर सिर टिका कर खूब रोया जा सके। हमारी दुनिया में ऐसी जगहें बहुत कम हैं जहाँ खुल कर रोया जा सके। कविता यह जगह मुहैया कराती है। कविता हमें हमारी विफलताओं, कमजोरियों और पराजयों के बीच जीवन के सौंदर्य का प्रकाशन करती है। इतिहास और कविता दोनों स्मृतिगर्भी होते हैं। दोनों में फर्क यह है कि इतिहास विजय गाथाओं को दर्ज करता है जबकि कविताएँ पराजयों को दर्ज करती हैं। ‘सत्यमेव जयते’ हम पढ़ते-सुनते रहते हैं लेकिन जीवन में सत्य पराजित भी होता है। कविता ऐसे ही पराजित सत्य की पीठ थपथपाती, ढाढ़स बढ़ाती आती है।”<sup>13</sup> उक्त उद्धरण यहाँ मौजू भी है और प्रासंगिक भी। इसके माध्यम से हमें उनके कवि कर्म को समझने की दृष्टि मिल जाती है।

सन्दर्भ:

1. सिंह, नामवर, (सं) हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि निबंध (2012), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012 : 45
2. सिंह, भानु प्रताप, सदानन्द शाही कविता की दुनिया के अ-नागरिक, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2018 : 16
3. शाही, सदानंद, सुख एक बासी चीज है, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकता, संस्करण 2015 : 69
4. शाही, सदानंद, मेरे राम का रंग मजीठ है, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2021 : 141
5. <http://samved-sablog-in/poetry-of-sadanand-shahi-by-kapildev/>
6. शाही, सदानंद, माटीपानी, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2018 : 118
7. शाही, सदानंद, सुख एक बासी चीज है, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकता, संस्करण 2015 : 60
8. वही : 11
9. वही : 21
10. शाही, सदानंद, माटीपानी, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2018 : 23
11. शाही, सदानंद, सुख एक बासी चीज है, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकता, संस्करण 2015 : 34
12. शाही, सदानंद, माटीपानी, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2018 : 94
13. <http://samved-sablog-in/poetry-of-sadanand-shahi-by-kapildev/>



## केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में यथार्थ चेतना

### ○ सरिता

साहित्य में समाज प्रतिबिम्बित होता है, उसमें समाज के दुःख-दर्द, हर्षातिरेक एवं अन्यान्य जीवन पहलुओं का रेखांकन कलात्मक ढंग में होता है, इस रूप में साहित्य सत्यजीवी होता है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में भी हम जीवन का इसी प्रकार का सच पाते हैं। उनकी कविताओं में यथार्थ के प्रति एक विशेष आग्रह देखने को मिलता है। प्रकृति, प्रेम, राजनीति, सामाजिक परिवेश, स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, किसान एवं कृषि जीवन, ग्राम-नगर, मजदूर, भ्रष्टाचार, धार्मिक-परिवेश और मानवीयता के प्रश्न एवं अपने समय की घटनाओं का रेखांकन कवि केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविताओं में बराबर प्रस्तुत किया है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं के पाठ विश्लेषण में हम देखते हैं कि किस प्रकार उन्होंने अपने जीवन के व्यापक पहलुओं को संजीदगी से छुआ है। उनकी कविताओं में विभिन्न मानवीय संवेगों का रेखांकन यथार्थपरक दृष्टि से उद्घाटित हुआ है। कहीं कहीं तो जापानी हाइकू शैली की भाँति बहुत ही छोटी-छोटी कविताएं देखने को मिलती हैं और कहीं कहीं लंबी कविताएं भी दृष्टव्य हैं। कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में व्यक्त जीवन का यथार्थ कहीं-कहीं गहन प्राकृतिक पर्यवेक्षण के साथ उभरता दिखलाई देता है जहाँ कवि प्रकृति के साथ अपने को एकतान करता दिखलाई देता है। जहाँ एक ओर कवि प्राकृतिक सुषमा एवं सौंदर्य से खुश होता एवं उस पर रीझता दिखलाई देता है वहीं कहीं-कहीं सत्ता-व्यवस्था के खोट पर कवि का खीजना एवं तल्खी भी बराबर दिखलाई देती है। प्राकृतिक सौंदर्य की आब के वर्णन के साथ ही सामाजिक जीवन के व्यापक ताने-बाने की उधेड़बुन भी कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का अहम हिस्सा है। कवि केदारनाथ अपने जीवन और काव्य को जिजीविषा एवं अदम्य साहस से आगे बढ़ने की बात करते हैं। कवि अपने रचनाकर्म के साथ जीवन को भरपूर जी लेना चाहता है। इस भाव को कवि ने अपनी कविताओं में कई जगह व्यक्त किया है जो आज के जीवन में मनुष्य को कर्मशीलता की ओर प्रवृत्त भी करता है और उसका ढाँढस भी बढ़ाता है। अपनी एक कविता 'मैं जागूँ या सोऊँ' में कवि अपनी इसी प्रकार की भावना को इस तरह से व्यक्त करता है -

“मैं

जागूँ या सोऊँ

अब तक मैंने यही किया है,

हमने जीवन साथ जिया है!

लगता है अब साथ छूटने वाला है,

मुझे छोड़कर साथी जाने वाला है!  
मैं घबराता, चिंता से अकुलाता, प्रेरक कविताएं रच रच कर,  
जीने का बल पाता, महाकाल से लड़-लड़ जाता, प्राण-प्रिया को कंठ लगाये गाता”

रचना की प्रेरणा को लेकर भी अपनी एक अन्य कविता ‘रच गया मैं’ में कवि कहता पाया जाता है-

“रच गया मैं, बच गया मैं  
बस तुम्हारे वास्ते, काव्य के इस रास्ते  
फिर मिला मैं, फिर खिला मैं  
बस तुम्हारे वास्ते, प्यार के इस रास्ते”<sup>2</sup>

इस प्रकार की अपनी अन्य कविताओं में भी कवि ने अपनी रचनाशीलता व जीवन संघर्ष को व्यक्त किया है और जीवन के प्रति आशा का संचार करने का प्रयत्न निरंतर किया है। अपने लेखन व जीवन दोनों के संरक्षण व उत्तरोत्तर विकास को लेकर अपनी एक लंबी कविता ‘महाकाल बरजोर’ में कवि ने साहसी भाव का परिचय दिया है जहाँ कवि महाकाल को ही संबोधित करते हुए अपने जीवन जीने और आगे भी क्रियाशील रहने की बात को इस प्रकार रखा है -

“न आना मेरे पास, न आने का विचार करना अभी  
महामूढ़, महाकाल बरजोर  
चिरायु है कविता ! चिरायु हूँ मैं  
जानता हूँ मैं, पूरी तरह मानता हूँ मैं,  
न जीव है तू, न व्यक्ति है तू  
मात्र प्राकृत नियम है तू।”<sup>3</sup>

जिस प्रकार कवि ने प्रस्तुत कविता में जीवन में चुनौतियों से टकराते हुए भी साहस और हिम्मत से आगे बढ़ने की बात की है उसी प्रकार अपने सृजन को आगे बढ़ाने में जीवन संघर्ष की स्मृतियों को भी कवि ‘आत्मगंध’ में संकलित अपनी कविता ‘याद आई’ में महत्वपूर्ण एवं सहायक बताता है। साहित्यिक रचना और उसके साथ जीवन के विभिन्न उतार-चढ़ावों को कवि ने अपनी कविताओं में पग पग पर व्यक्त किया है। प्रचलित विषयावली जैसे प्रकृति-वर्णन, मानवता, प्रेम-सौंदर्य का वर्णन, राजनीति एवं सत्ता व्यवस्था के प्रश्नों पर चर्चा, भ्रष्टाचार आदि के वर्णन के साथ साथ कुछ ललित रूप भी लेखन के स्तर पर इनकी कविताओं में देखने को मिलता है। जैसे आजकल पूरे विश्व में कोरोना और अभी वर्तमान में ओमिक्रान का भी प्रकोप चल रहा है ऐसे दुर्द्धर्ष समय में कवि की धुंध में श्वसन बाधा के माध्यम से होने वाली तकलीफ से जुड़ी हुई कविता भी प्रासंगिक बन जाती है जिसे ‘कोहरा’ कविता में देखा जा सकता है -

“शिशिर निशा के दुर्दम घोर तिमिर में, यह परदेशी भारी लम्बा कोहरा  
धीरे धीरे प्रिय धरती पर उतरा, यहाँ वहाँ फिर ठौर ठौर पर ठहरा ...  
एक एक पग बढ़ने में है विपदा, साँस खींचने में है संकट पूरा  
नहीं ठिकाना है यात्रा का, पथ का, बुरी तरह से विद्यमान है सीमा।”<sup>4</sup>

कवि केशवराय का रचनाकाल लंबा रहा है। आजादी से पहले और आजादी के बाद भी पाँच दशक की अपनी रचनात्मक यात्रा में कवि ने जहाँ आजादी के बाद में मोहभंग की बात को भी कविता का माध्यम बनाया है वहीं आजादी पूर्व के गुलामी काल में भी कवि आजाद हिन्दुस्तान की परिकल्पना एवं तीव्र कामना

को अपनी एक कविता ‘हाय न आई’ में इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

“आज भी आई, कल भी आई  
रेल बराबर सब दिन आई ! लेकिन दिल्ली से आजादी  
अब तक अब तक हाय न आई, हाय न आई !!  
चिट्ठी आई, पत्री आई  
डाक बराबर सब दिन आई लेकिन दिल्ली से आजादी  
अब तक अब तक हाय न आई, हाय न आई !!”<sup>5</sup>

देश में होने वाली हिंसक घटनाओं के प्रति भी कवि अपनी सचेतता बरतता दिखलाई देता है। कवि केदारनाथ अग्रवाल की ऐसी कई कविताएँ देखने को मिलती हैं जिनमें साम्प्रदायिक दंगों एवं वैमनस्य के भाव को उजागर करते हुए मानवता की वकालत की गई है। इसी प्रकार की उनकी एक कविता है ‘अलीगढ़ की आग’, जिसमें कवि कहता पाया जाता है –

“अलीगढ़ की लपट आई, धुआँ आया ! मर्मभेदी घटी घटना दिल डराया,  
दुष्ट गुण्डों ने अनेकों घर जलाया। चल-अचल सम्पत्ति को रज में मिलाया,  
ज्वाल में जिह्वा लपालप लपलपाया।  
मौत का डमरू डिमाडिम, डिमडिमाया। अलीगढ़ में लपट आई धुआँ आया।”<sup>6</sup>

एक तरफ तो देश को आजादी के बाद अपने देश को विकसित होने की चुनौतियों से ऊपर उठना था, दूसरी ओर भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिक वैमनस्य एवं लालफीताशाही जन मूल्यों को प्रभावित करती दिखलाई देती हैं। आज जहाँ हम आजादी का अमृत महोत्सव पूरे भारत में मना रहे हैं तो भी स्थितियाँ चुनौतीपूर्ण बनी हुई हैं। कवि केदारनाथ इसी प्रकार की चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों को अपनी कविताओं में उद्घाटित करते हुए उनसे बाहर निकलने की पुरजोर अपील अपनी विभिन्न कविताओं में करता पाया जाता है। अपनी कविताओं के माध्यम से कवि केदारनाथ ने जहाँ एक ओर गरीब, मजदूर, किसान के साथ हो रहे अन्याय और दुराचार का वर्णन किया है वहीं दूसरी ओर सत्ता सुख में लीन नेताओं, भ्रष्टाचार में लिप्त अफसरों के रूप में सत्ता-व्यवस्था के कुरूप चेहरे को उघाड़कर सामने रखा है जिसके कई उदाहरण उनकी कविताओं में देखने को मिलते हैं। इसी के साथ गरीबी में दुर्व्यसनी बन जाने के कारण किस प्रकार व्यक्ति अपने बाल-बच्चों के प्रति लापरवाह होकर अपने परिवार को और कमजोर कर देता है, इस प्रकार की स्थिति को भी कवि ने ‘चैतू’ जैसी कविता के माध्यम से इस प्रकार वर्णित किया है –

“चैतू ने बेहद ठर्रा पी, बेहोशी में मर के सोया  
खून पसीने से जो पाया वह कड़वे पानी में खोया !  
फिर रात गई- फिर भोर हुई, फिर साँस चली चैतुआ जिया,  
कुछ हाथ हिले- कुछ पैर डुले, आँखें खोले उठ खड़ा हुआ !  
बीवी ने खोया पति पाया, बच्चों को खोया बाप मिला !  
घर की माया ने मोह लिया फिर दाम कमाने चला गया।”

‘मजदूर’ कविता में भी श्रमिक जीवन की विवशता एवं लाचारी को कवि ने अभिव्यक्त किया है।

अपनी अन्य कविताओं में भी कवि केदारनाथ पूंजीपति व श्रमिक वर्ग के बीच की खाई को उद्घाटित करते पाए जाते हैं। ‘पूँजीपति और श्रमजीवी’ कविता में कवि ने इस अंतराल को इस प्रकार स्वर प्रदान किया है –

“पूँजीपति अपने बेटे को बेहद काला दिल देता है  
गद्दी पर बैठे रहने को भारी-भरकम तन देता है...  
जाने कितना-कितना अवगुन पूँजीपति सुत को देता है।...  
श्रमजीवी अपने बेटे को टूटी कुटिया, टूटी खटिया  
लोहे का तसला देता है”<sup>8</sup>

वस्तुतः उच्चवर्ग का निम्नवर्ग पर, अमीर का गरीब पर एवं शक्तिशाली व ताकतवर का कमजोर व लाचार पर जो शोषण होता है उसका विरोध कवि केदारनाथ की कविताओं में बराबर दिखलाई देता है जिसे कई आयामों में इनकी कविताओं में हम पाते हैं। कहीं मजदूर-श्रमिक तो कहीं किसान आदि के रूप में। बदस्तूर जारी शोषण को व्यक्त करती इनकी कविता ‘सब कुछ देखा’ को यहाँ देखा जा सकता है -

“सब कुछ देखा- फिर फिर देखा..  
अपनेपन का पीड़न देखा, झोंपड़ियों को रोते देखा  
अठमहलों को हँसते देखा, जाली माला माली देखी  
कंगाली बदहाली देखी, दुनियादारी डसती देखी  
धरती नीचे धँसती देखी”<sup>9</sup>

आम आदमी का किस प्रकार शोषण होता है और वह किस प्रकार शोषण का हथकंडा व कठपुतली बनकर रह जाता है। ‘संसद और संविधान’ कविता इसी ओर इशारा करती है -

“सिर पर लिये  
संसद और संविधान  
एक ही चाल और चरित्र से  
अनुबोधित जीने के लिए  
लघुत्तम इकाई से महत्तम इकाई होने के लिए  
अन्ततोगतवा  
देश के लिए होम में हविष्य हो गये।”<sup>10</sup>

आम एवं सामान्य जन के दुख-दर्द एवं तकलीफ को कवि केदारनाथ ने अपनी कविताओं में बराबर स्वर प्रदान किया है। एक अन्य कविता में भी इसी रूप में जनसामान्य की वकालत को देखा जा सकता है जहाँ कवि ने सत्ता -व्यवस्था के के दलन का शिकार बनते हुए सामान्य जनता की लाचार स्थिति को हमारे अफसर आदमखोर श कविता के माध्यम से व्यक्त किया है -

“करते हैं व्यभिचार- हमारे अफसर आदमखोर !  
हम तो हैं लाचार, हमारे अफसर हैं झकझोर !!  
गायें कैसे गान ?  
हमारी दुर्बल है मुस्कान !”<sup>11</sup>

अपनी एक अन्य कविता ‘न उगी जहाँ कभी पहले’ में कवि राजनेताओं की सुख सुविधाओं और जन सामान्य के कठोर जीवन यापन की ओर प्राकृतिक अवयवों के दृष्टांत से इस प्रकार उल्लेख करता है -

“न उगी जहाँ कभी पहले, लौकी और कुम्हड़े की बेलें,  
उग आई अब वहाँ, नेताओं के घर,  
अलभ्य अंगूर की अनुकूल बेलें !

हम हैं कि अब भी खड़े हैं यहाँ ज्यों के त्यों - घर के बाहर  
कठोर कैथे के तले  
सिर फोड़ फल पाने के लिए, कचोटती जिन्दगी बिताने के लिए।”<sup>12</sup>

अपनी अन्य बहुत सी कविताओं में भी केदारनाथ ने जन सामान्य के हक की आवाज को बुलंद किया है। जन सामान्य के हित साधन के रूप की तरह ही उन्होंने ग्रामीणों एवं कृषकों की समस्याओं और दुख दर्द एवं उनके संघर्षों को भी आवाज दी है। जिस प्रकार उन्होंने मजदूर एवं श्रमिक वर्ग की वकालत अपनी काव्य रचनाओं में की है उसी प्रकार किसान एवं ग्रामीणों के जीवन पर भी उनकी कविताओं में फोकस देखने को मिलता है। ऐसी बहुत सी कविताओं की रचना कवि केदारनाथ ने की है जहाँ इस प्रकार के वर्णन को हम बराबर देख सकते हैं जिसमें ग्रामीण जीवन की समस्याओं एवं अभावग्रस्त जीवन को देखा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार किसान की विभिन्न समस्याओं को भी इन कविताओं में बराबर देखा जा सकता है। आज इक्कीसवीं शताब्दी में जहाँ आजादी का अमृत महोत्सव के रूप में 75वें वर्ष को हम मना रहे हैं बहुत कुछ विकसित होने पर भी किसान एवं ग्रामीणों की समस्याओं और सुविधाओं को लेकर फोकस अभी भी अपेक्षित है। कवि केदारनाथ ने अपनी कविताओं के माध्यम से इसी प्रकार का फोकस किया है जिसे यहाँ कुछ कविताओं के माध्यम से उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है। किसानों के परिश्रम और संकल्पशीलता का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी कविता ‘किसानों का गाना’ कविता में इस प्रकार अपने उद्गार प्रकट किए हैं -

“हमारे हाथ में हल है, हमारे हाथ में बल है  
कि हम बंजर को तोड़ेंगे- बिना तोड़े न छोड़ेंगे।  
कड़ी धरती इधर भी है, कड़ी धरती उधर भी है ,  
कि हम उसको विदारेगें- न चूकेंगे न चूकेंगे।”<sup>13</sup>

यहाँ कवि ने किसान जीवन के संदर्भ को मार्मिकता से उठाया है। इसी प्रकार का भाव कवि केदारनाथ की एक अन्य कविता ‘धरती’ में भी देखने को मिलता है जिसमें कवि किसान जीवन की समस्या को उठाते हुए कहते पाया जाता है -

“यह धरती है उस किसान की, जो मिट्टी का पूर्ण पारखी  
जो मिट्टी के संग साथ ही, तपकर, गलकर, जीकर, मरकर  
खपा रहा है अपना जीवन, देख रहा है मिट्टी में सोने का सपना  
मिट्टी की महिमा गाता है, मिट्टी के ही अन्तस्तल में  
अपने तन की खाद मिलाकर, मिट्टी को जीवित रखता है  
खुद जीता है, यह धरती है उस किसान की!”<sup>14</sup>

कवि केदारनाथ मूलतः संघर्ष की बात करते हैं। वह चाहे किसानी संघर्ष हो, मजदूरों का संघर्ष हो या अन्य किसी भी स्तर पर शोषित-पीड़ित-दलित का संघर्ष हो। उनकी एक कविता ‘करोड़ों का गाना’ इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है कि सामूहिक संघर्ष ही मुक्तिपथ बनता है। कवि अपनी कविता से इस रूप में प्रेरित करता है -

“सभी का तन गुलाम है, सभी का मन गुलाम है  
सभी की मति गुलाम है, सभी की गति गुलाम है  
गुलामियों के चिन्ह को मिटाये चल, मिटाये चल, मिटाये चल, मिटाये चल

हर एक तार साँस का बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल !!”<sup>15</sup>

जिस प्रकार किसान, मजदूर, श्रमिक की दयनीय स्थिति का उल्लेख कवि ने किया है उसी प्रकार स्त्री जीवन के उपेक्षित पहलुओं पर भी कवि ने कविताएँ लिखी हैं। यूँ तो अपनी बहुत सारी कविताओं में कवि ने स्त्री जीवन को आधार बनाया है, यहाँ इसके एक दो उदाहरण रख देना पर्याप्त होगा। केदारनाथ ने अपनी पत्नी की याद में भी बहुत सी कविताएँ लिखी हैं जिनमें स्त्री के प्रति सम्मान का भाव स्पष्ट होता है। कवि ने अपनी माँ की स्मृति में भी ‘आई माँ की याद’ कविता लिखी है जो ‘आत्मगंध’ कविता संग्रह में संकलित है। ‘सूरदास ने कभी कहा था’ कविता के माध्यम से केदारनाथ ने जीवन के कर्म क्षेत्र में स्त्री के पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ने की बात रखी है जो आज की कामकाजी महिलाओं की दोहरी मेहनत की ओर इशारा करती है –

“सूरदास ने कभी कहा था, नारी को श्रृंगार भाव से,  
‘अद्भुत एक अनुपम बाग’ ।  
युग बदला अब नारी बदली, नहीं रही वह बाग पुरातन।  
अब नारी है नर के साथ, करनी करते उसके हाथ।”<sup>16</sup>

‘आत्मगंध’ में ही संकलित एक कविता ‘घर की घुटन में पड़ी औरतें’ भी कवि के स्त्री चिंतन को सामने रखती है जिसमें स्त्री के बंदिनी से जीवन पर कवि ने आश्चर्य और रोष प्रकट किया है। कवि केदारनाथ की एक अन्य कविता भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है जिसका शीर्षक है ‘बंधे’। प्रस्तुत कविता में कवि ने वासना के आकर्षण से वत्सल भाव के आकर्षण को तवज्जो दी है जो अपने आप में स्त्री जीवन को उपभोग एवं लालसा की वस्तु समझे जाने वाले तुच्छ भाव से छिटकाती हुई स्त्री के प्रति कवि के सम्मान भाव को स्पष्ट करता है –

“बंधे  
बेधक बोध वाले –कुच क्लश –पय से भरे जो  
माँ पिलाती दूध जिनसे पुत्र को, वे नहीं फल वासना के  
मले –मसले जिन्हें कोई अंधकामी, और  
रमणी के रमण में डूब जाये –डूबा रहे  
नहीं उबरे– लोकजीवन को बिसारे।”<sup>17</sup>

कृषक, मजदूर, महिला आदि के साथ ही गाँव-शहर की फाँक को भी कवि केदारनाथ ने अपनी कविताओं में वर्णित किया है। ऐसी कई कविताएँ उन्होंने लिखी हैं। ऐसी ही एक कविता है ‘मैंने देखा’ जिसमें कवि ने शहर की प्रदूषित आबोहवा और बनावटीपन का वर्णन किया है–

“मैंने देखा  
बुरा हाल है महानगर का !  
महक उठी दुर्गंध लपेटे बासी भाजी सी आबादी,  
कोई फर्क न आया उसके धर्म कर्म की चक्र चाल में...  
मैं हो गया उदास हतप्रभ रोया ग्लानि गर्त में खोया  
महानगर असमर्थ खड़ा है, मैंने ऐसा देखा।”<sup>18</sup>

गाँवों में विकास की बहुत धीमी रफ्तार पर कवि की टिप्पणी ‘खुली आँखें खुले डैने’ कविता संकलन में संकलित कविता ‘गाँव की सड़क’ में देखा जा सकता है। कवि अपने राष्ट्र और राष्ट्रीय सम्पदा एवं भूगोल

व संस्कृति से अटूट रूप में प्रेम व स्नेह भी करता है जिसे उनकी कविताओं में बखूबी देखा जा सकता है। 'अपना भारत एक है' कविता में कवि ने राष्ट्र प्रेम को इस प्रकार उल्लेखित-वर्णित किया है; जहाँ कवि भारत को एक महादेश बतलाते हुए उसकी तुलना ऐसे अक्षय वट से करता है जो व्यापक, विशाल एवं उन्नत है। कविता के अंत में कवि अपने महादेश का अभिनंदन करते हुए कहता है -

“ मैं अभिनंदन करता अपने महादेश को  
अपने भारत देश को  
मूर्तिमान राष्ट्रीय एकता के  
उन्नत मस्तक  
प्यारे भारत देश का।”<sup>19</sup>

अपने देश, प्रकृति एवं मानव जीवन के सौंदर्य को अपनी कविताओं में इसी प्रकार सर्वत्र उकेरा है। प्रगतिशील चेतना को सरल भाषा और देसी ठाठ के संग कवि केदारनाथ ने अपनी कविताओं में प्रश्रय प्रदान किया है। देश की आंतरिक संप्रभुता के साथ-साथ अपनी कुछ कविताओं में कवि ने बाह्य संप्रभुता के संरक्षण की भी बात की है जो कवि की राजनीतिक चेतना का द्योतक है।

निष्कर्षतः कहा जाए तो कवि केदारनाथ अग्रवाल अपने समय में अपनी कविताओं में मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं के इस वर्णन में कवि ने अपने व्यापक भाव-बोध को संजीदगी से अपनी कविताओं में स्वर प्रदान करते हुए शब्दायित किया है। वैयक्तिक अनुभवों को भी कवि ने जीवन के यथार्थ से जोड़कर बहुत सहजता से वर्णित किया है। इनकी कविता में प्रगतिशील चेतना का प्रवाह बराबर दिखलाई देता है जिसमें मजदूर, किसान, श्रमिक, महिलाओं के जीवन संघर्ष, ग्रामीणों की समस्याओं के अंकन के साथ-साथ सत्ता-व्यवस्था के सवाल बराबर उभरते दिखलाई देते हैं। कवि ने अपनी कविताओं के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ही अपने राष्ट्रीय चिन्तन भाव को भी स्वर प्रदान किया है। अपनी कविताओं एवं काव्य-व्यंजना में केदारनाथ सहज-सरल भाषा का प्रयोग करते हैं। कवि सहजता से मनुष्य एवं व्यवस्था के खोटेपन एवं कुरूपता पर व्यंग्य अवश्य करता है जो कि थोपा हुआ सा ना लगकर उनकी कविताओं की शैली के अभिन्न अंग के रूप में उभरता है। इस रूप में कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में यथार्थ चेतना का आग्रह एवं प्रवाह निरंतर दृष्टव्य है।

संदर्भ :

1. आत्मगंध : 21
2. वही : 60
3. वही : 108
4. गुलमेंहदी : 24
5. कहें केदार खरी खरी : 36
6. वही : 33
7. गुलमेंहदी : 47
8. वही : 156-157
9. खुली आँखें खुले डैने : 63
10. कहें केदार खरी खरी : 189

11. वही : 114
12. आत्मगंध : 151
13. गुलमेंहदी : 66
14. वही : 56
15. वही : 68
16. खुली आँखें खुले डैने : 87
17. आत्मगंध : 203
18. वही : 193
19. वही : 200



## गँवई जीवन के कवि केदारनाथ सिंह

### ○ अमरनाथ प्रजापति

केदारनाथ सिंह ने अपनी कविताओं में ग्रामीण परिवेश के वैविध्यपूर्ण सौन्दर्य को बड़ी ही संजीदगी से अभिव्यक्त किया है। वे मूलतः ग्रामीण पृष्ठभूमि के कवि हैं। उनकी सृजनात्मकता में अनुभूति की प्रामाणिकता साफ दिखाई देती है। ग्रामीण परिवेश के लोक-रंग तथा किसान-मजदूर की संवेदनाओं को उन्होंने अपने रचना-संसार में बड़े ही मनोयोग से उद्घाटित किया है। उनकी स्मृतियों में गाँव की छवि हमेशा बसी रहती है। जब वे अपने पास-पड़ोस की दुनिया से बाहर निकलते हैं तो भी उनके अनुभव की जड़ें बाहरी दुनिया से ज्यादा अपने गाँव, समाज, संस्कृति और बोलचाल की भाषा में ही निहित रहती है। जब वे 'मातृभाषा' कविता में कहते हैं कि -

“ओ मेरी भाषा  
मैं लौटता हूँ तुम में  
जब चुप रहते-रहते  
अकड़ जाती है मेरी जीभ  
दुखने लगती है  
मेरी आत्मा”

स्पष्ट है कि उनमें अपनी भाषा, संस्कृति और मिट्टी की ओर लौटने की बेचैनी सी दिखाई देती है। गाँव के लोग और गाँव की प्रकृति के प्रति उनकी गहरी रागात्मक सम्पृक्ति है। गाँव के विविध रंग, गंध और दृश्यों को उन्होंने मूर्त रूप दिया है। उन्हें बार-बार गाँव के दृश्य, मनुष्य, प्रकृति, खेत-खलिहान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, गँवई जीवन की संवेदना उनकी कविताओं की केंद्रबिंदु है।

केदारनाथ सिंह ने मनुष्य और प्रकृति के बीच मधुर संबंधों को रेखांकित किया है। वे अपनी कविताओं में एक ओर आम के बौर, मौलसिरी का पेड़, अंकुरित होते धान, ज्वार, टमाटर, बारिश, धूप, हवा जैसे अनगिनत प्राकृतिक छटाओं से काव्य संसार रचते हैं तो दूसरी ओर नूरमियाँ, लाल मोहर हलवाहा, ठेठ देहाती कार्यकर्ता, बूढ़ा मल्लाह, गडेरिया, दरजी जैसे गँवई चरित्रों के जीवन के विविध पक्षों पर भी प्रकाश डालते हैं। उनकी ग्रामीण जीवन की कविताएँ एक तरफ प्रकृति प्रधान हैं तो दूसरी तरफ चरित्र प्रधान भी। उन्होंने अपनी रचनात्मक विषयवस्तु और भाषिक संरचना के वैविध्य के माध्यम से समकालीन कविता में एक अलग पहचान बनाई है। ग्रामीण जीवन के उन अनछुए पहलुओं को अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी है जो दैनिक जीवन का एक हिस्सा होता है। गँवई विषयवस्तु को गँवई भाषा-शैली में उतारना उनके शिल्प-विधान का

सबसे मजबूत पक्ष है। उसमें न तो अलंकारिकता की बोझिलता है न शब्दों की क्लिष्टता, बल्कि किसान और श्रमिक जीवन से जुड़ी हुई सरल भाषा का सहज प्रवाह है। यह सीधी-साधी रोजमर्रा की आम बोल-चाल की भाषा है। उनकी भाषा के संबंध में कुँवरनारायण लिखते हैं कि, “कुछ खास बिम्ब, छवियाँ और ध्वनियाँ हैं, जिनके माध्यम से केदार अपनी बात कहना हमेशा पसंद करते हैं- मोटे तौर पर जिन्हें जमीनी, दैनिक, श्रमिक जैसे हकीकी शब्दों-पदों के पास-पड़ोस का माना जाता है।”<sup>2</sup>

जो कवि अपने लोक-परिवेश, लोक-संवेदना से जितना ही जुड़ा रहा, उसकी रचनाएँ उतनी ही उदात्त एवं उत्कृष्ट हुईं। विद्यापति, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन जैसे अनेक कवियों की लोक परम्परा हिंदी साहित्य में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। ये कवि अपनी लोक-संस्कृति, लोक-जीवन तथा लोक-कलाओं को सजीव रूप में चित्रित करते रहे हैं। इनके यहाँ गाँव का एक जीवन्त चित्र उभरता है जिसमें प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ मानवीय जीवन के मधुर एवं आत्मीय रूप भी दिखाई पड़ता है जो गाँव में ही मुनासिब है। केदारनाथ सिंह की कविताओं में भी ग्रामीण परिवेश का जीवन्त चित्र उपस्थित हुआ है। उनके जेहन में अपने गाँव के प्रति अपार मोह एवं जुड़ाव है। उनकी कविता श्रमिक वर्ग और अपने अड़ोस-पड़ोस के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। वे ‘गाँव आने पर’ कविता में कहते हैं कि, “एक बूढ़े पक्षी की तरह लौट-लौटकर/ मैं क्यों यहाँ चला आता हूँ बार-बार?”<sup>3</sup> यहाँ बार-बार गाँव आना उनके गाँवई जीवन के प्रति भाव विह्वलता को द्योतित करता है। वे गाँव की पुरानी स्मृतियों को हमेशा संजोये रखना चाहते हैं तथा उन चीजों को उसी रूप में देखना चाहते हैं जिसमें उन्होंने अपना बचपन जिया है। नगरीय जीवन की चकाचौंध को ग्रामीण परिवेश के शांत वातावरण में नहीं लाना चाहते हैं। गाँव आने पर उनके अन्दर शहर के बनावटी जीवन का चोला उतारकर फेंक देने की एक बेचैनी सी दिखाई पड़ती है-

“छू लूँ किसी को ?  
लिपट जाऊँ किसी से ?  
मिलूँ  
पर किस तरह मिलूँ  
कि बस मैं ही मिलूँ  
और दिल्ली न आये बीच में”<sup>4</sup>

वैश्वीकरण, नगरीकरण, बाजारवाद और पूँजीवाद की चकाचौंध से दूर केदारनाथ सिंह किसान, मजदूर, खेत-खलिहान, फसल और सब्जियों में सौन्दर्य की कल्पना करते हैं। अन्न और सब्जियाँ कितनी परिश्रम से उपजायी जाती हैं, इसे न तो व्यापारी वर्ग ही समझ सकता है और न नगरीय लोग। इसलिए वे सीधे गाँवई जमीन में उगे हुए फसलों से सीधे मिलने का अनुरोध करते हैं जिसमें बाजार बीच में न आये- “कैसा रहे /बाजार न आये बीच में /और हम एक बार /चुपके से मिल आयें चावल से/ मिल आयें नमक से /पुदीने से /कैसा रहे /एकबार ...सिर्फ एकबार...”<sup>5</sup>

केदारनाथ सिंह का सौन्दर्य, सौन्दर्य शास्त्र के प्रतिमानों से भिन्न है। वह एक अलग गंवई मिट्टी की जीवन शैली में पगी हुई है। तीसरा सप्तक के वक्तव्य में कहते हैं कि, “मेरे भीतर भी कहीं गंगा और घाघरा की लहरें बराबर टकराती रहती हैं। खुले कछार, मक्का के खेत और दूर-दूर तक फैली पगडंडियों की छाप आज भी मेरे भीतर उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस दिन थी, जब मैं पहली बार देहात के ठेठ वातावरण से शहर के धुमैले और शतशः खण्डित आकाश के नीचे आया।”<sup>6</sup> ‘पानी में घिरे लोग’ कविता में बाढ़ की भयंकर विभीषिका में जी रहे लोगों के भीतर भी आत्मविश्वास और स्वाभिमान का सौन्दर्य देखते हैं। उन

लोगों के अन्दर न तो मृत्यु का भय है न विस्थापन की बेचैनी, किसी के सामने न तो हाथ फैलाते हैं न ही किसी से कुछ उम्मीद ही करते हैं, बल्कि वे बाढ़ को जीवन की रोजमर्रा घटना की तरह देखने के आदी हो गए हैं- “पानी में घिरे हुए लोग /प्रार्थना नहीं करते /वे पूरे विश्वास से देखते हैं पानी को”” फिर एक दिन वे लोग अपने असबाब और पशुओं को लेकर कहीं अन्यत्र सुरक्षित जगह चले जाते हैं। किसी ऊँचे स्थान या सड़क के किनारे बोरों और डंडों की सहायता से अपना चलता-फिरता आशियाना बना लेते हैं। उनका सब कुछ बाढ़ के पेट में समा जाता है। खेत-खलिहान, फसल, घर बह जाते हैं। दूर-दूर तक जल ही जल। रात्रि के घोर अंधकार में उनके होने का अस्तित्व केवल टुटही लालटेन की मद्धिम रोशनी से होता है-

“वे जला देते हैं  
एक टुटही लालटेन  
टाँग देते हैं किसी ऊँचे बाँस पर  
ताकि उनके होने की खबर  
पानी के पार तक पहुँचती रहे”<sup>8</sup>

लोकगीत और लोकनृत्य ग्रामीण परिवेश का एक अहम् हिस्सा है। इनमें लोक संवेदना और जीवन शैली का जीवन्त और सशक्त रूप में बहुरंगी चित्र उभरता है। कंदारनाथ सिंह ‘भिखारी ठाकुर’ कविता में लोक कवि एवं लोक अभिनेता भिखारी ठाकुर के ‘बिदेसिया नाच’ के महत्त्व का उल्लेख करते हैं जिसने आजादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसमें लोगों को इकट्ठा करने की अद्भुत शक्ति थी। बड़े-बड़े क्रान्तिकारी, स्वतंत्रता सेनानी बिदेसिया नाच के अद्भुत कौशल से प्रभावित थे। एक रात गाँधी भी इसमें सम्मिलित होते हैं -

“पर क्या आप विश्वास करेंगे  
एक रात जब किसी खलिहान में चल रहा था  
भिखारी ठाकुर का नाच  
तो दर्शकों की पाँत में  
एक शख्स ऐसा भी बैठा था  
जिसकी शक्ल बेहद मिलती थी  
महात्मा गाँधी से।”<sup>9</sup>

यहाँ कवि की चिंता यह है कि इतना सक्षम लोक नृत्य एवं लोक कला का अस्तित्व आज संकट में है। जन मानस में संघर्ष का बिगुल बजा देने वाले इस नाच का स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं है, “वह अजब बेचैन-सा चीख-भरा नाच / जिसका आजादी की लड़ाई में / कोई जिक्र नहीं।”<sup>10</sup> आज यह एक बहस का मुद्दा हो गया है कि उसका आजादी से क्या सम्बन्ध है।

जिस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंधों में ‘अशोक के फूल’ और ‘शिरीष के फूल’ जैसे उपेक्षित फूल में सौन्दर्य एवं उसकी असीम जिजीविषा को उद्घाटित किया है, उसी प्रकार कंदारनाथ सिंह भी ‘कपास के फूल’ कविता में उसकी उपयोगिता की दृष्टि से उसके महत्त्व को उद्घाटित करते हैं। यह फूल मनुष्य के नंगापन को ढकता है तथा यह मनुष्य का आदिम खोज भी है। उनका मानना है कि मनुष्य ने पृथ्वी पर पहले फूल के तौर पर कपास के फूल को ही खोजा होगा। तब से लेकर अब तक मानवीय सभ्यता के विकास में उसका अविस्मरणीय योगदान रहा है। इससे बने वस्त्र को पूरी मानव जाति उपयोग करती है जो किसानों तथा मजदूरों के अथक परिश्रम का फल है। इसलिए यह फूल मेहनतकश सर्वहारा

वर्ग का प्रतीक भी है। किन्तु इसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता, वे कहते हैं- “पर क्या कभी सोचा है आपने/ वह जो आपकी कमीज है /किसी खेत में खिला /एक कपास का फूल है”<sup>11</sup> यहाँ कवि की दृष्टि इतनी सूक्ष्म, बारीक एवं अर्थगर्भित है कि फूल से वस्त्र बनने तक की लम्बी प्रक्रिया से जुड़े हुए तमाम श्रमिक वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति व्यक्त करते हैं। वे अभिजात्य वर्ग की शान-शौकत और सुख-सम्पदा की जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं जो किसानों एवं मजदूरों के श्रम पर निर्भर है। फिर भी अभिजात्यवर्ग श्रमिक वर्ग से लाभ लेने के बावजूद उसके प्रति उदासीन रहता है।

हाशिये पर पड़े हुए मजदूर एवं कामगर लोगों की संवेदनाओं को केदारनाथ सिंह अपनी कविताओं में पूरे मनोयोग से उतारते हैं। मानव श्रम के प्रति उनका गहरा लगाव है। जातिगत पेशेवाले समाज तथा उनके क्रियाकलापों और उनके विभिन्न कलाओं की ओर कवि की सूक्ष्म एवं गहरी संवेदनात्मक दृष्टि जरूर ही पहुँच जाती है। इस संबंध में कुँवरनारायण लिखते हैं- “बढ़ई, मेमार, कारीगर, कुम्हार आदि की अनेक झलकें केदार की कविताओं में आती रहती हैं, जिनसे वह अपनी कविताओं का स्थापत्य रचते हैं।”<sup>12</sup> ‘नयी ईंट’ कविता में उन हजारों मजदूरों एवं कारीगरों के मार्मिक कल्पनाओं को अभिव्यक्त करते हैं जिसे वे कभी पूरा नहीं कर पाते हैं। जो कारीगर एवं मजदूर दूसरों का घर, बंगला, महल बनाते हैं, स्वयं सिर्फ कल्पनाओं में ही जीते हैं, जो रोज बनती और बिखरती रहती हैं-

“ नयी ईंट रक्खूँगा,  
नये चाँद जोड़ूँगा,  
नया घर उठाऊँगा,  
नयी किरन रंग दूँगा,  
पर इस से क्या होगा ?  
जब कि साँझ उतरेगी  
कुहरा छितरायेगा  
ईंटोंवाला यह व्यक्तित्व बिखर जायेगा”<sup>13</sup>

‘कुदाल’ कविता में उन्होंने किसानों और मजदूरों से जुड़ी हुई कुदाल की आज के भौतिक और बाजारू चका-चौंध में महत्वहीनता की ओर संकेत किया है। मिट्टी की खुदाई हो जाने के बाद दरवाजे पर पड़ा हुआ कुदाल के लिए घर के अन्दर कोई स्थान नहीं है। कवि कुदाल को घर के अन्दर ड्राइंग रूम, रसोई घर, पलंग के नीचे रखने के लिए सोचता है, किन्तु रखने में असफल है। क्योंकि घर में कुदाल के होने से घर की सजावट और संतुलन बिगड़ने की संभावना है, “कुदाल नहीं रह सकती ड्राइंग रूम में/ इससे घर का संतुलन बिगड़ सकता है।”<sup>14</sup> आज बढ़ते हुए नगरीकरण का प्रभाव गाँव को अपने गिरफ्त में लेता जा रहा है। इसतरह भौतिक और फैशनयुक्त समय में कुदाल जैसे वस्तु के लिए घर में कोई स्थान नहीं है।

केदारनाथ सिंह ने अपनी कविताओं में गाँव की जीवन शैली और संस्कृति के साथ-साथ ग्रामीण वातावरण और प्राकृतिक सौन्दर्य के मनोरम रूप को एक लय में पिरोकर मानवीय जीवन के विविध रूपों को आकार दिया है, जिसमें प्रकृति और मनुष्य का साहचर्य भाव दिखाई देता है। गाँवई अंचल का मानवीय सुख-दुःख, रहन-सहन, भाव-भंगिमा प्रकृति के कण-कण में घुल-मिलकर अभिव्यक्त हुई है। प्राकृतिक सौन्दर्य अपने आस-पास के विविध रंगों में रंगकर जीवन्त रूप में प्रस्फुटित हुई है। ‘दुपहरिया’, ‘पूर्वाभास’, ‘फागुन का गीत’, ‘वसंत गीत’, ‘धानो का गीत’, ‘शरद प्रात’, ‘रात’, ‘पात नये आ गये’, ‘कुहरा उठा’, ‘शामें बेच दी है’ आदि कविताओं में प्रकृति अपने इर्द-गिर्द की जीवन की लय के साथ लय मिलाकर

चलती है। धूप का होना, दिन-रात होना, हवा का चलना, फसल का लहलहाना, पेड़-पौधे का चित्रण, बदलते हुए ऋतुओं, मौसमों और प्रत्येक महीनों में बदलते हुए प्रकृति की सूक्ष्म रंगों की अभिव्यक्ति उनकी अनेकानेक कविताओं में दिखाई पड़ती है। प्राकृतिक दशाओं का सूक्ष्म अंकन एवं बिम्ब-विधान मानवीय संवेदनाओं के विविध पहलुओं को उकेरती है। फागुन महीना के शुरुआत होने पर बदलते हुए मौसम का चित्रण कुछ इस प्रकार करते हैं, “धूप चिड़चिड़ी, हवा बेहया, दिन मटमैला/ मौसम पर रंग चढ़ा फागुनी, शिशिर टूटते।”<sup>15</sup> ‘पात नये आ गये’ कविता में वसंत ऋतु के आगमन पर पेड़-पौधों के नये-नये लाल-लाल कोपलों से वन में एक नया रंग उभर रहा है जिसमें वन के साथ-साथ आदमी का मन भी उमंग और उत्साह से प्रफुल्लित हो जाता है-

“टहनी के टूसे पतरा गये !  
पकड़ी को पात नये आ गये !  
नया रंग देशों से फूटा  
वन भीज गया,  
दुपहरी यह कूक, पवन झूठा-  
मन भीज गया”<sup>16</sup>

किसानों के जीवन और उनकी समस्याओं, उनकी भावनाओं, उनके अपने खेत-खलिहानों से लगाव तथा प्रकृति के साथ अंतर्संबंध उनकी कविताओं में पूरे मनोयोग से अभिव्यक्त हुई है। ‘शरद प्रात’ कविता में शरद ऋतु के शुरुआत होने पर प्रातःकाल की मनोरम दृश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं-

“नये धान की गंध सरीखा-  
घर आँगन, जंगल दरवाजों में बस जाये  
शरद कि जो मेरी खिड़की से भी -  
भिनसारे दिख जाता है।”<sup>17</sup>

‘शामें बेच दी है’ कविता में गँवई जीवन की विखरती हुई शाम का चित्रण हुआ है। किस तरह गाँव अपनी मूल संवेदना को खोता जा रहा है? इस कविता में देखा जा सकता है। यह कविता शुरू से अंत तक एक संगीतात्मक लय के साथ ग्रामीण परिवेश की छोटी से छोटी जीवनानुभवों को परत दर परत खोलती है। ग्रामीण जीवन की शाम किसानों और मजदूरों के लिए सुकून और शांति की शाम होती है। वे लोग दिन भर के थके-हारे होने के बाद शाम के वक्त सब दुःख-दर्द भूलकर आराम और चैन से किस्से-कहानी में मशगूल दिखाई देते हैं। स्त्रियाँ हँसी ठिठोली करती हुई अपने-अपने चूल्हे बर्तन में लग जाती हैं। बच्चों की लुकाछिपी की चंचलता और लोरी की मधुरता की घुली-मिली शाम की अनुगूँज अब धीरे-धीरे टूटती जा रही है-

“वो लुकना, वो छिपना, वो चोरी की शाम,  
वो ढेरों दुआएँ, वो लोरी की शाम,  
वो वरगद पै बादल की पाँतों की शाम,  
वो चौखट, वो चूल्हे से बातों की शाम,  
वो पहलू में किस्सों की थापों की शाम,  
वो सपनों के घोड़े, वो टापों की शाम,  
वो नये-नये सपनों की शाम बेच दी है

भाई, शाम बेच दी है, मैंने शाम बेच दी है।”<sup>18</sup>

निराला, पन्त और नागार्जुन जैसे बड़े-बड़े कवियों ने बादल के सौन्दर्य और किसानों से उसके अंतर्संबंधों को मार्मिक ढंग से उद्घाटित किया है। निराला की ‘बादल राग’, पन्त की ‘बादल’ नागार्जुन की ‘बादल को घिरते देखा है’ कविताओं में बादल के विविध रूपों में चित्रण हुआ है। उमड़ते-धुमड़ते बादल में किसानों को आत्मनिर्भरता दिखाई पड़ती है, क्योंकि गरजते-बरसते बादल ही उनके जीवन का आधार है। उनके आशाओं-निराशाओं का आधार-स्रोत है। उर्वर भूमि, लहलहाते खेत, हरी-भरी वनस्पतियाँ, पेड़-पौधे, नदी, तालाब, पोखर आदि बिना बरसात के संभव नहीं हैं। उनके उल्लास, उमंग बरसात की संभावनाओं पर ही टिकी होती है। केदारनाथ सिंह भी इससे अछूते नहीं हैं, उनकी कविता ‘बादल ओ !’ में किसान भाव विह्वल होकर अपनी खुशहाल जीवन के लिए, अंकुरित होते बीज और फसल के लिए बादल का आह्वान करते दिखाई देते हैं, “खेतों की मेड़ों पर घिरते तुम को देखा है/ ओठों से विवश छू लिया है/ ओ सुनो, बीज-वर्षा बादल/ ओ सुनो अन्न-वर्षा बादल/ हम पंख मांगते हैं।”<sup>19</sup>

केदारनाथ सिंह अपनी भाषा को एक अलग सांचे में ढालकर चलते हैं जो आम बोलचाल और जमीन से जुड़ी हुई है। वे भाषा को सम्प्रेषण का सबसे महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। तीसरा सप्तक के वक्तव्य में कहते हैं कि “कविता का सबसे सीधा संबंध भाषा से है। भाषा प्रेषणीयता का सर्वसुलभ माध्यम है। अतः ‘शुद्ध कविता’ जैसी किसी चीज की कल्पना बिल्कुल बेमानी है।”<sup>20</sup> इसलिए उनकी भाषा में न तो पांडित्य है न नीरसता और न क्लिष्टता, बल्कि उसमें गाँव और अपने अड़ोस-पड़ोस की चलती-फिरती भाषा है जो एक लय, एक ध्वनि के साथ गवई वातावरण एवं जीवन शैली को उकेरती है। उसमें एक मधुर खनखनाती हुई ध्वनियाँ बोलचाल की धुन में मिठास लिए हुए अभिव्यक्त होती है। जब केदार जी ग्रामीण जीवन को अपनी कविताओं में उतारते हैं तो गवई लोगों के जीवन लय की तरह उनकी भाषा भी उसी लय में चलती है। जब वे सरल भाषा में प्रकृति का मानवीकरण करते हैं तो पूरा अंचल ही जीवन्त हो उठता है-

“साँस रोक कर खड़े हो गये  
लुटे-लुटे से शीशम उन्मन,  
चिलबिल की नंगी बाहों में  
भरने लगा एक खोयापन,  
बड़ी हो गयी कटु कानों को ‘चुर-मुर’ ध्वनि बासों के बन की।”<sup>21</sup>

यहाँ पर ‘चुर-मुर’ शब्द उनके क्षेत्रीय जन-मानस की बोल-चाल के शब्द हैं। इस तरह के अनेक शब्द उनकी कविताओं में प्रयुक्त होकर गवई जीवन की गहराईयों को उकेरती है।

लोकभाषा और क्षेत्रीय भाषा के अस्तित्व पर मंडरा रहे संकट को लेकर केदार जी चिंतित हैं, क्योंकि लोकभाषा के समाप्त होने का मतलब है लोक संस्कृति, लोकनृत्य, लोकगीत, लोककथा, लोककला एवं लोक के बहुरंगी जीवन शैली का समाप्त हो जाना। लोकभाषा ही मातृभाषा होती है जिसके गर्भ में विविध लोक कलाएँ छिपी होती हैं। किन्तु भौतिक साम्राज्यवाद और विदेशी भाषाओं के बढ़ते प्रभाव से न तो लोक कलाओं का विकास ही हो पा रहा है और न इसका महत्व ही समझा जा रहा है। इस से प्राचीनतम जीवन शैली एवं कलाओं की विकास परंपरा की जड़ें धीरे-धीरे लोप होती जा रही हैं। इस तरह लोक संस्कृति और लोकभाषाओं के लोप होने से कवि आहत एवं व्यथित है-

“पर पहला झिंगोला

कब पहना उसने  
पहले तागे से पहली सुई की  
कब हुई थी भेंट  
यह भूल गयी है हमारी भाषा”<sup>22</sup>

इतना ही नहीं वे एक ओर मरती हुई लोकभाषा से आहत हैं तो दूसरी ओर विदेशी भाषाओं के बढ़ते वर्चस्व के प्रति चिंतित भी हैं। ‘गमछा और तौलिया’ कविता में कहते हैं- “मैंने सुना /तौलिया गमछे से कह रहा था /तू हिंदी में सूख रहा है /सूख /मैं अंग्रेजी में कुछ देर/ झपकी लेता हूँ।”<sup>23</sup> यहाँ गमछा भारतीय संस्कृति का प्रतीक है तो तौलिया पाश्चात्य संस्कृति का। कुछ लोग विदेशी भाषाओं को सीख जाने तथा विदेशी जीवन शैली अपना लेने पर किस तरह भारतीय भाषा और संस्कृति को उपहास की दृष्टि से देखते हैं, इस कविता से समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केदारनाथ सिंह की कविताओं में गँवई जीवन की बोली-भाषा, संस्कृति, किसानों की जीवनशैली, उनकी भावनाएँ, खेत-खलिहान एवं प्राकृतिक सौन्दर्य पूरे मनोयोग से अभिव्यक्त हुआ है। गंगा और घाघरा की लहरें, ज्वार और मक्का के खेत, दूर-दूर तक फैली पगडंडियाँ, पक्षियों के कलरव आदि से उनकी रचनात्मक वैविध्य निर्मित होती है। उन्होंने ग्रामीण परिवेश की मनःस्थिति, दैनिक जीवन की घटनाओं, लोक व्यवहार, जीवनदृष्टि के अनछुए पहलुओं को अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी है। उनकी कविताओं में प्रकृति और मनुष्य का साहचर्य भाव दिखाई देता है। गँवई जीवन का मानवीय सुख-दुःख, भाव-भंगिमा प्रकृति के साथ घुल-मिलकर विविध रंगों में रंगकर जीवन्त रूप में प्रस्फुटित हुआ है। गँवई जीवन को गँवई भाषा-शैली में प्रस्तुत करना उनका शिल्पगत वैशिष्ट्य है। उनकी भाषा सहज, सरल, कोमल एवं लयात्मक है।

सन्दर्भ :

1. केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ , संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2021 : 13
2. कुँवरनारायण, आलोचना, संपा. अरुण कमल, अक्टूबर-दिसम्बर, 2013 : 19
3. केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2021 : 42
4. वही : 43-44
5. वही : 90
6. केदारनाथ सिंह, तीसरा सप्तक, संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2009 : 122
7. केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2021 : 30
8. वही : 31
9. वही : 47
10. वही : 47
11. केदारनाथ सिंह, आलोचना, संपा. अरुण कमल, अक्टूबर-दिसम्बर, 2013 : 14

12. कुँवरनारायण, आलोचना, संपा. अरुण कमल, अक्टूबर-दिसम्बर, 2013 : 19
13. केदारनाथ सिंह, तीसरा सप्तक, संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2009 : 140
14. केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2021 : 45
15. केदारनाथ सिंह, तीसरा सप्तक, संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2009 : 130
16. वही : 133
17. वही : 136
18. वही : 139
19. वही : 147
20. वही : 124
21. वही : 130
22. केदारनाथ सिंह, आलोचना, संपा. अरुण कमल, अक्टूबर-दिसम्बर, 2013 : 13
23. वही : 14



## दुष्यंत कुमार : पर्वत-सी पीर के साए में धूप की तलाश

### ○ नीरज

हिंदी ग़ज़ल-परंपरा को एक मुकम्मल पहचान दिलवाकर उसे शिखर तक पहुँचाने में जो लोकप्रियता दुष्यंत कुमार को हासिल हुई वैसी लोकप्रियता शायद ही किसी को प्राप्त हुई हो। उनकी कई ऐसी बहुचर्चित गजलें हैं जिसने न केवल लोकप्रियता के नए प्रतिमान स्थापित किए बल्कि गंभीर साहित्यिक आलोचना को भी अपनी ओर मोड़ने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। ऐसी गजलों में कहाँ तो तय था चिरागां, ये सारा जिस्म झुककर, हो गई है पीर पर्वत सी पिघलनी चाहिए, मत कहो आकाश में कुहरा घना है, तुम्हारे पांवों के नीचे कोई जमीन नहीं, आदमी नहीं है वो मुकम्मल बयान है, कैसे कैसे मंजर सामने आने लगे हैं, इस नदी की धार से ठंडी हवा आती तो है, भूख है तो सब्र कर, मेरे गीत तुम्हारे पास सहारा पाने आएंगे इत्यादि बहुत ही प्रचलित हैं। कवि के रूप में दुष्यंत कुमार उस समय की उपज हैं जहाँ एक ओर देश में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बहुत से स्वप्न टूट रहे थे, बहुत सी धारणाएँ बन रहीं थी तो दूसरी ओर जनता की उम्मीदें आशाओं के विपरीत टूटती बिखरती जा रही थी। जनता हतप्रभ थी कि किस प्रकार अपनी जरूरतों को पूरा किया जाए। इन तमाम परिस्थितियों को जहाँ प्रगतिशील कवियों ने राजनीतिक व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत किया वहीं अपने समकालीन रचनाकारों से बिल्कुल भिन्न दुष्यंत ने साहित्य में एक नए भाव, नए विषय के साथ अपनी जगह बनाई। सारिका पत्रिका के दुष्यंत कुमार स्मृति अंक के सम्पादकीय में कमलेश्वर लिखते हैं, “हम सब जो जीवित हैं- आदमी के सपनों को लेकर चले थे और अपने सपनों को लेकर जीने लगे। दुष्यंत अपने सपने लेकर आया था और आदमी का सपना देकर चला गया। उस आदमी का सपना जो विराट समय को पहचानते हुए उसी में जीता और मरता है।”

दुष्यंत कुमार के हिंदी ग़ज़ल की ओर उन्मुख होने का सबसे बड़ा कारण था हिंदी कविता का लगातार कम होता पाठकीय आधार। प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा ने रूमानी भाव भंगिमा से अलग हटकर हिंदी में ग़ज़ल लेखन करने वाले शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़लों के परिप्रेक्ष्य में कहा था, “ग़ज़ल तो दरबारों से निकली हुई विधा है, जो प्रगतिशील मूल्यों को व्यक्त करने में अक्षम है।” लेकिन दुष्यंत कुमार ने अपनी रचनात्मक क्षमता और सामाजिक दृष्टि के बल पर ग़ज़ल के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा की उपयुक्त मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया। उन्होंने न केवल ग़ज़ल विधा के माध्यम से हिंदी कविता के क्षेत्र में एक नई क्रांति का उन्मेष किया बल्कि उनके लेखन के बल पर ही हिंदी ग़ज़ल हिंदी कविता की एक स्वतंत्र धारा के रूप में स्वीकृत हुई। इसलिए ग़ज़ल के क्षेत्र में दुष्यंत के वैशिष्ट्य को समझने के लिए संक्षेप में ग़ज़ल की परम्परा को भी जान लेना चाहिए। ग़ज़ल मूलतः फारसी काव्य-विधा है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता

है- प्रेमी और प्रेमिका का संवाद। फारसी से ग़ज़ल उर्दू में आई और उर्दू की केन्द्रीय विधा बन गई। हालाँकि, कुछ विद्वानों का मानना है कि फारसी से ग़ज़ल सीधे हिंदी में आई और उर्दू में जन्म से बहुत पहले अमीर खुसरो ने हिंदी में पहली ग़ज़ल लिखी थी। विधात्मक विकास की दृष्टि से देखें तो हिंदी में ग़ज़ल की उल्लेखनीय परम्परा आधुनिक काल के आरम्भ के साथ ही दिखाई देने लगती है। भारतेंदु युग में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, बद्रीनारायण प्रेमघन समेत कई साहित्यकारों ने गजलें लिखी हैं। छायावादी कवियों में प्रमुख रूप से निराला और प्रसाद ने ग़ज़ल लेखन किया तो छायावादोत्तर एवं स्वातंत्र्योत्तर युग में दुष्यंत कुमार से पहले जानकी बल्लभ शास्त्री, हंसराज रहबर, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, गोपाल दास नीरज इत्यादि ने ग़ज़ल लेखन के क्षेत्र में विशेष भूमिका निभाई। दुष्यंत कुमार ने हिंदी गजल को वह ऊँचाई दी जिसकी छत्रछाया में कई रचनाकारों ने अपनी रचनत्माकता की केन्द्रीय विधा के रूप में हिंदी ग़ज़ल को अपना लिया। विजय बहादुर सिंह मानते हैं, “उनके यहाँ न तो छायावाद-काल का उदात्त स्वप्नदर्शी देवोपम मनुष्य था, न वह ‘लघुमानव’ जिसकी गाथा ‘नई कविता’ और ‘नवलेखन’ में करुण कंटों से गाई जा रही थी। उनकी कविता तो लोक के उन प्रत्यक्ष अनुभवों का साक्षात्कार कर रही थी, जो वस्तुतः उनके चारों ओर बिखरा फैला था। इसमें स्वतंत्रता आन्दोलन की स्मृतियाँ तो थी ही, भारत का वह पौरुष और अपराजयेता बोध भी था जिसकी अनुपस्थिति में दुष्यंत पहचाने ही नहीं जा सकते”<sup>2</sup>

कवि के रूप में अपने लेखन की शुरुआत दुष्यंत ने बीसवी सदी के पांचवें-छठवें दशक में इलाहाबाद से की, जो उस दौर में नवलेखनवादियों का केंद्र था। बच्चन, शमशेर, अज्ञेय जैसे दिग्गज कवि उस स्थान पर साहित्यिक परिदृश्य का नेतृत्व कर रहे थे। दुष्यंत की शुरुआत भले एक कवि के रूप में हुई किन्तु उनका लेखन बहुआयामी रहा। वे गीतों से चलकर नई कविता में आए थे, इसलिए उनकी कविता विचार के स्तर पर भी अपने समकालीनों से बिलकुल भिन्न थी। उनके पहले काव्य संग्रह ‘सूर्य का स्वागत’ को पढ़कर कवि दिनकर ने कहा था कि “प्रयोगवादियों की सड़ांध से बचने के लिए गुलाब को सूँघना जरूरी है।” आलोचक विजय बहादुर सिंह भी लिखते हैं कि “गीतों की जिस नितांत व्यक्तिगत और कोमल भावभूमि से चलकर वे कठिन जीवन-यथार्थ के इस चौराहे पर आ खड़े हुए थे, वह जितना राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक था, उतना ही सांस्कृतिक और भावपूर्ण भी। पर यहाँ भी वे यह स्वीकारने को तैयार नहीं थे कि मध्यवर्गीय बौद्धिकता और कोई एक क्रांतिकारी विचारधारा ही रामबाण का काम करेगी। शायद उनकी चेतना में यह बात भी छिपी बैठी थी कि कोरा कवि-कर्म एक अधूरा कर्म है। वह तो तभी सार्थक होता है जब वह अपने पाठकों के भाव-प्रेरित आचरणों में उतरता है। और, संभवतः यही कारण है कि उनकी कविता उस जटिलता और गूढ़ता को अपने काव्य-प्रतिमान के रूप में अंगीकार नहीं कर सकी जो उन दिनों के इलाहाबाद के कवियों के बीच एक काव्य गुण बनी हुई थी।”<sup>3</sup>

1956 में उनका पहला काव्य संग्रह ‘सूर्य का स्वागत’ प्रकाशित हुआ। इसके पहले अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होती रहीं; जैसे- निकष, संकेत, नई-कविता इत्यादि। 1963 में दूसरा काव्य संग्रह ‘आवाजों के घेरे में’ प्रकाशित हुआ, 1964 में काव्य नाटक ‘एक कंठ विषपायी’ वर्ष 1964 में ही उन्होंने एक उपन्यास ‘छोटे-छोटे सवाल’ की रचना की। 1970 में उनका दूसरा उपन्यास ‘आंगन में एक वृक्ष’ प्रकाशित हुआ। 1973 में कविताओं का तीसरा संकलन ‘जलते हुए वन का बसंत’ प्रकाशित हुआ। 1975 में उनके ग़ज़लों का संकलन ‘साये में धूप’ प्रकाशित हुआ। अपने पहले काव्य संग्रह ‘सूर्य का स्वागत’ में वे भारत की आजादी का स्वागत करते हैं, साथ ही आजादी के लिए संघर्षरत जन का अनुभव था जिसे शायद ही कोई भूल सकेगा।

“ये बाग बुजुर्गों ने आंसू और श्रम देकर/ पाले से रक्षा कर पाला है गम देकर  
हर साल कोई इसकी भी फसलें ले खरीद/ कोई लकड़ी, कोई पत्तों का हो मुरीद  
किस तरह गवारा हो सकता है या हमको ?”

दुष्यंत अपने रचना कर्म के प्रारंभिक दौर में रचना कर्म की सामाजिक उपादेयता को महत्वपूर्ण मानते हैं। यह बात सर्व प्रमाणित है की आजादी हमें यूँ ही नहीं मिली है। बहुत से लोगों ने आजादी के लिए अपने प्राणों की आहुति दी है, किन्तु आज यही समाज उन वीरों को भूल देश को खोखला बनाने में लगा है। इस बात का जिक्र करते हुए विजय बहादुर सिंह लिखते हैं, “सर्जन तो वही है जो अतीत की जीवन्त पुनर्सृष्टि करे, न कि वह जो या तो उसे गालियाँ देने के लिए साकार करता है या फिर अंधपूजा के लिए। ...दुष्यंत के सामने केवल अतीत की पुनर्सृष्टि का प्रश्न नहीं था। उन दिनों की जाने वाली बहसों, तरह तरह की आधुनिकताओं और पीढ़ियों के संघर्ष का प्रश्न भी था। वे उन सवालियों को जिन ठोस जमीनों पर उठाते हैं वे पूर्व या पश्चिम की किताबी भूमियाँ नहीं हैं। वे तो वस्तुतः वे प्रमाणिक भूमियाँ हैं जहाँ एक पूरा समाज अपनी समूची सांस्कृतिक अस्मिता के साथ संघर्षरत है।”<sup>4</sup> स्पष्ट है कि दुष्यंत की दृष्टि आरम्भ से ही युगीन परिस्थितियों पर थी। वे भली भाँति जानते थे कि आधुनिकता के नाम पर देश की जनता की अस्मिता मानो खो सी गयी है। शहर की पीड़ा यदि उनके यहाँ उभर कर आती है तो लोक जीवन के प्रति लगाव और गाँव से उनका गहरा सम्बन्ध भी है। उनकी यह रागात्मकता कविता के अलावा दूसरी विधाओं की रचनाओं में भी साफ झलकती है।

आजादी के बाद देश के सत्ताधारियों ने जैसे आजादी के मर्म के मायने को खोखला कर दिया है। राजनीति के नाम पर लगातार मूर्ख बनाई जा रही जनता किस प्रकार सामाजिक शोषण, राजनीतिक कुचक्रों और पूँजीवादी दमन नीतियों की शिकार हो रही है, दुष्यंत इसे उजागर करते हैं। वे जनता की समस्याओं को उनके दुःख दर्द को अभिव्यक्त करके खामोश नहीं हो जाते, अपने रागात्मक लगाव और अपने उत्तरदायित्व का बोध करते हुए एक छटपटाहट भी उनके काव्य में दिखाई पड़ती है।

“तब न यों श्रम-स्वेद कण से/ लिप्त मानव काम करता  
तब न हंटर मार देना /इस तरह आसान होता  
काश मैं भगवान होता /तब न यो बन दीन मानव  
मार खाता कुर्छ रवि की/तब न यों धनवान मानव  
आह पाटा क्षुब्ध कवि की।”

पूँजीवाद के विरुद्ध एक आम श्रमिक की पीड़ा को और उसके प्रति एक गहरे लगाव को यह कविता साफ साफ प्रदर्शित करती है। निश्चय ही दुष्यंत की आरंभिक सभी कविताएँ लोकजीवन और जनता के प्रति समर्पित रहीं हैं। किसान और श्रमिक की पीड़ा से मानो वे अपने आप को जोड़ के खुद को संपृक्त करते हैं और जनपक्षधरता का यही विराट रूप उनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है। ‘जलते हुए वन का वसंत’ की भूमिका में इस बात को वे स्वयं लिखते हैं कि “ये कविताएँ इसी हद तक मेरी हैं कि मैंने इन्हें लिखा और भोगा है यदि आपको इनमें पहचाना सा स्वर, आत्मीय सी भाषा और अपनी सी बात नजर आए तो यह मेरी सफलता है।”<sup>5</sup> इस कथन से जाहिर है कि दुष्यंत अपनी कविताओं को सामाजिक यथार्थ के रूप में अभिव्यक्त करना चाहते हैं। उनके लिए वही रचना सार्थक है, जिनमें जनता को अपनापन नजर आए, उनकी भाषा में अपनी भाषा। इस तरह उन्होंने अपनी कविताओं में रचनाशीलता को सार्थक करने की चेष्टा की है। अनुभव की प्रामाणिकता ही उसकी कविताओं का मूल मन्त्र है, जो उनकी कविताओं में साफ

परिलक्षित होता है।

भले ही हिंदी साहित्य में दुष्यंत कुमार एक ऐसे साहित्यकार के रूप में सामने आये हों जिन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा पर लिखा किन्तु हिंदी कविता में गीत और ग़ज़ल में दुष्यंत का कोई सानी नहीं है। उन्होंने गीतों और ग़ज़लों को इतनी तल्लीनता से लिखा है कि पाठक के भीतर के भाव मानो शब्दों में पिरो दिए गये हों। उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता भी यही रही कि उनकी कविता कलात्मक अतिवादिता से मुक्त थी, विचार के स्तर पर भी वे उन प्रगतिवादी कवियों से भिन्न थे जिनकी कविताओं के निष्कर्ष तय थे। दुष्यंत ने अपने अनुभव को अपनी कविता के मूल में प्रस्तुत किया। देश की उथल-पुथल और जन-जीवन पर उनकी कविताएँ एक नए दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। ‘साये में धूप’ से उनको ग़ज़लकार के रूप में विशेष लोकप्रियता हासिल हुई। यदि यह कहा जाए कि उर्दू-फारसी की ग़ज़ल विधा को हिंदी में विकसित करने का काम केवल दुष्यंत ने किया तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे मानते हैं कि दोनों भाषाओं को और करीब लाने की एक सशक्त विधा ग़ज़ल ही थी। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं, “उर्दू और हिंदी अपने-अपने सिंहासन से उतरकर जब आम आदमी के पास आती है तो उनमें फर्क कर पाना बड़ा मुश्किल होता है। मेरी नीयत और कोशिश यह रही है कि इन दोनों भाषाओं को ज्यादा से ज्यादा करीब ला सकूँ। इसलिए ये ग़ज़लें उस भाषा में कहीं गयी हैं, जिसे मैं बोलता हूँ।”<sup>6</sup>

दुष्यंत पहले ऐसे ग़ज़लकार हैं जिन्होंने प्रेम और इश्क की विधा ग़ज़ल को सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनकी ग़ज़लों में सामाजिक राजनीतिक द्वंद्व साफ दिखाई देता है। दुष्यंत की ग़ज़ल केवल सत्ताधारियों की वादाखिलाफी के विरुद्ध प्रश्न नहीं करती अपितु उस चेतना को भी मुखरता से अभिव्यक्त करती है जिसका विकास आजादी के मोहभंग से हुआ। आजादी के बाद के परिदृश्य पर दुष्यंत कुमार ने खुद लिखा है, “भ्रष्टाचार की कहानियाँ अमरबेल की तरह बढ़ती रही। अफसरशाही फलती फूलती रही जनता का पैसा ठेकेदारों की जेब में जाता रहा और सारे विचार विमर्श और बहस मुबाहिसे के बावजूद समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।”<sup>7</sup> स्पष्ट है कि जब तक समस्याएँ मुद्दा बनने से निकलकर क्रियान्वयन के सही और ठोस नतीजों तक नहीं पहुँचती तब तक लोग जीवन में एक एक चिराग के लिए तरसते रहेंगे।

“कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए

कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए

\* \* \* \* \*

वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता

मैं बेकरार हूँ आवाज में असर के लिए”

दुष्यंत की ‘कवि-आकांक्षा’ इतिहास का हिस्सा बनने की नहीं, उसे बदलने की रही। वह आवाज में असर के लिए बेकरार रहने वाले कवि हैं, एक ऐसा कवि जिसके भीतर पत्थर को पिघला देने का हौसला खदबदाता रहा, जो खुदा से अधिक आदमी के ख्वाब को महत्व देता रहा और जो राजनीति की इस मुतमइनगी को नकारता है कि जनता क्रांति नहीं कर सकती। दुष्यंत की रचनाधर्मिता अपने समय के सत्ता प्रतिष्ठान से मुखामुख रहने वाली है। वह निजाम से टकराने से बच निकलने वाली नहीं उससे जिरह करने वाली है, भले ही वह इस शायर की जुबान सिल दे। जब भी सत्ता का सर्वशक्तिमान रूप अपने अहंकार के सामने किसी भी तरह के नागरिक प्रतिरोध को कुचलने के लिए तैयार है। ऐसे में दुष्यंत कुमार हमारे लिए और प्रासंगिक हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में उर्दू के मशहूर शायर निदा फाजली भी लिखते हैं कि “दुष्यंत

की नजर उनके युग की नयी पीढ़ी के गुस्से और नाराजगी से सजी है। यह गुस्सा और नाराजगी उस अन्याय और राजनीति के कुकर्मों के खिलाफ नए तेवरों की आवाज थी, जो समाज में मध्यवर्गीय झूठेपन की जगह पिछड़े वर्ग की मेहनत और दया की नुमाईदगी करती है। उनकी गजलें स्वतंत्र भारत में आम आदमी की पीड़ा, शासकों का दोहरा चरित्र, शोषण, पराजय, दुर्व्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश प्रस्तुत करती हैं।”<sup>8</sup>

देश की सामाजिक स्थिति इतना दयनीय है कि कोई आवाज उठाने से भी डरता है, कोई भी इस व्यवस्था को बदलना नहीं चाहता। सब चुप-चाप इस व्यवस्था का शिकार होने की नियति को केवल और केवल सहते जा रहे हैं; जबकि जरूरत है अब इस कुव्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने की। लेकिन इस व्यवस्था ने आम आदमी को मौन बना दिया है। पीर का पर्वत-सी हो जाना स्वतंत्रता के बाद विकास और जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओं- भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, गरीबी इत्यादि से मुक्ति की उम्मीद लगाए आम जनता के दर्द की सघनता और व्यापकता को बयान करता है। स्वतंत्रता के बाद आए विभिन्न सरकारों की अकर्मण्यता, लालफीताशाही, भ्रष्टाचार और निहित स्वार्थों के कारण आम जनता अपने जीवन में विभिन्न प्रकार की समस्याओं से पीड़ित होती रही। इसलिए दुष्यंत पर्वतरूपी पीर को पिघलाकर बुनियाद को हिलाने का आह्वान करते हैं-

“हो गई है पीर पर्वत सी पिघलनी चाहिये  
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिये।...  
आज यह दीवार, परदों की तरह हिलने लगी,  
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिये।”

दुष्यंत कुमार व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन के आकांक्षी हैं। वे जानते हैं कि छोटे-मोटे बदलावों से, अल्पजीवी विरोधों एवं आंदोलनों से आम मनुष्य के जीवन में कोई बड़ा परिवर्तन संभव नहीं है। इसलिए वे स्वाधीनता आंदोलन में जनता की भागीदारी को सुनिश्चित करनेवाले उस वादे की याद दिलाते हैं जिसमें ब्रिटिश गुलामी से मुक्ति के बाद स्वतंत्र भारत में नई लोकतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत जनोन्मुखी सत्ता-व्यवस्था का स्वप्न दिखाया गया था-

“आज यह दीवार, परदों की तरह हिलने लगी,  
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिये।”

लेकिन इतने बड़े परिवर्तन के लिए सामूहिकता एवं एकजुटता जरूरी है। इसलिए दुष्यंत कुमार हर उस व्यक्ति को जागरूक करने की बात करते हैं जो इतनी मनुष्य विरोधी परिस्थितियों के बाद भी विचारशून्यता, यथास्थितिवादिता या भयवश चुप बैठा हुआ है। परिवर्तन के लिये पूरे भारतवर्ष का जागरूक होना और आंदोलनरत होना जरूरी है-

“हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गाँव में,  
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिये।”

दुष्यंत कुमार यह आह्वान करते हुए स्पष्ट करते हैं कि उनका उद्देश्य महज हंगामा खड़ा करना नहीं है, बल्कि उनके इस रचनात्मक प्रयत्न का लक्ष्य वर्तमान व्यवस्था एवं परिस्थितियों में बदलाव लाना है-

“सिर्फ हंगामा खड़ा करना, मेरा मकसद नहीं  
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिये”

अपने व्यंग्यार्थ में उनका यह कथन उन राजनेताओं की ओर इशारा करता है जो सत्ता पाने की लालच

में चुनावी राजनीति करते हुए जनता की समस्याओं को बढ़-चढ़कर उठाते हैं और सत्ता में आने पर जनता के दुख-दर्द की उपेक्षा कर पुरानी व्यवस्था के ही पोषक बन जाते हैं। दुष्यंत कुमार जानते हैं कि परिवर्तन की इस चेतना को सत्ता कुचलेगी। ऐसे में कई लोग टूट जाएंगे। लेकिन वे कहते हैं कि किसी भी परिस्थिति में यह परिवर्तनगामी चेतना बुझनी नहीं चाहिये, उसे समाज में हमेशा प्रज्वलित रखने की आवश्यकता है। परिवर्तन हेतु संघर्ष तब तक चलना चाहिये जब तक अन्याय, शोषण और अत्याचार का अंत न हो जाए-

“ मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही,  
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिये।”

देश में भ्रष्टाचार ने स्थिति को इतना लचर कर दिया है कि समाज का हर वर्ग आज उसके गिरफ्त में है। अमीर और अमीर होते जा रहे हैं। सुविधाएँ केवल एक वर्ग तक सीमित हैं और जो निर्धन है उसको दो वक्त की रोटी भी मय्यसर नहीं।

“ हो गयी हर घाट पर पूरी व्यवस्था  
शौक से डूबे जिसे भी डूबना है  
दोस्तों ! अब मंच पर सुविधा नहीं है,  
आजकल नेपथ्य में सम्भावना है।”

दुष्यंत की ग़ज़लें आस्था और विश्वास के टूटने की कहानी कहती हैं। वे जानते हैं कि टूटने के बाद नया भले दर्द भरा हो पर एक नए जीवन की शुरुआत भी होती है। इसलिए सपने हमेशा देखते रहने चाहिए क्योंकि सपने ही हैं जो कभी न कभी सच भी होंगे :

“ हौले-हौले पाँव हिलाओ, जल सोया है छोड़ो मत,  
हम सब अपने अपने दीपक यहीं सिराने आएंगे  
थोड़ी आँच बची रहने दो, थोड़ा धुँआ निकलने दो,  
कल देखोगे कई मुसाफिर इसी बहाने आएँगे”

सामाजिक विषमताओं और राजनीतिक विषमताओं को अभिव्यक्त करता दुष्यंत का यह संग्रह साहित्य में खासा महत्वपूर्ण रहा है। सफलता का आलम यह था कि राजनीतिक दल भले वे पक्ष में हो या विपक्ष में दुष्यंत की ग़ज़लों को दोहराया करते रहे हैं। आज भी आम जन की होठों पर यह ग़ज़लें बदस्तूर जारी हैं। नई कविता के दौर में दुष्यंत एक ऐसे कवि थे जिन्होंने जनता के दुःख को समझा है उनकी गहराइयों को टटोला है, अनुभव को अपने शब्दों में पिरोया है। यही कारण है कि 1948 में गांधी की मृत्यु पर जब पूरा देश क्षुब्ध था तो दुष्यंत भी अपनी ग़ज़ल से इस पीड़ा की अभिव्यक्ति करते हैं।

“ ये कैसा भीषण वज्रपात/ सहसा हृदयगति हुई मौन  
सो गया सदा के लिए आज/ चिर अविनाशी सेगांव संत  
किस दुर्दिन में इस भारत की /मानवता का हो गया अंत”

भाषा के प्रति एक खास सजगता भी दुष्यंत कुमार के यहाँ दिखाई पड़ती है। उर्दू और हिंदी इस रूप में उनके यहाँ आती है जैसे दूध और पानी। उर्दू के शब्द जैसे हिंदी के खड़ी बोली के बन जाते हैं। अपनी भाषा के सम्बन्ध में वे लिखते हैं “कि ग़ज़लों को भूमिका की जरूरत नहीं होनी चाहिए लेकिन एक कैफियत इनकी भाषा के बारे में जरूरी है। कुछ उर्दूदां दोस्तों ने कुछ उर्दू शब्दों के प्रयोग पर एतराज किया है। उनका कहना है कि शब्द ‘शहर’ नहीं ‘शह’ होता है ‘वजन’ नहीं ‘वज्ज’ होता है। - कि मैं उर्दू नहीं

जानता, लेकिन उन शब्दों का प्रयोग यहाँ अज्ञानतावश नहीं, जानबूझ कर किया गया है। यह कोई मुश्किल काम नहीं था कि ‘शहर’ की जगह ‘नगर’ लिखकर इस दोष से मुक्ति पा लूँ, किन्तु मैंने उर्दू शब्दों को उस रूप में इस्तेमाल किया है जिस रूप में वे हिंदी में घुल-मिल गए हैं। उर्दू का ‘शह’ हिंदी में ‘शहर’ लिखा और बोला जाता है ठीक उसी तरह जैसे हिंदी का ‘ब्राहमण’ उर्दू में ‘बिरहमन’ हो गया है और ऋतु ‘रुत’ हो गई है।”<sup>9</sup>

दुष्यंत अपनी गज़लों में हिंदी और उर्दू को साथ लाने की बात करते हैं और गजल की अपनी भाषा की बात करते हैं। उनकी गजलें आम आदमी की पीड़ा की बयानगी हैं और यही कारण है कि उनकी भाषा में बड़े ही चुनिंदा और आम आदमी की स्थिति को बयान करने वाले शब्दों का वे चयन करते हैं। जिसका एक सटीक उदाहरण ये गज़ल प्रस्तुत करती है,

“तू किसी रेल सी गुजरती है  
मैं किसी पुल सा थरथराता हूँ  
मैं जिसे ओढ़ता-बिछाता हूँ वो गजल आपको सुनाता हूँ”

कुल मिलाकर देखें तो दुष्यंत कुमार ने हिन्दी गज़ल की परम्परा को न केवल नये प्रस्थान बिंदु तक पहुँचाया वरन चली आ रही गजल की संरचना को नाकाफी पाते हुए उसे आमूलचूल बदला। उन्होंने न केवल ‘प्रेम और रहस्य’ की चारदीवारी से हिंदी गजल को मुक्त करने में अभूतपूर्व भूमिका निभाई बल्कि उसे गहन विवेक संपन्न वैचारिकता और परिवर्तनकारी उर्जा से भी युक्त किया। जिस दौर में दुष्यंत ने साहित्य कर्म की शुरुआत की, उस दौर की राजनितिक सामाजिक स्थिति पर भी एक पैना कटाक्ष उनकी कविताएँ करती हैं। साथ ही गज़ल के माध्यम से दुष्यंत ने व्यवस्था की खामियों और परिवर्तन की अड़चनों को सामने रखते हुए बदलाव की जरूरत की ओर इशारा किया है और उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत किया है। उनकी गज़लें संरचना और शिल्प दोनों ही स्तरों पर अनुभूति की ईमानदारी को बरतती हैं। ‘हिंदी गज़ल की विकास यात्रा’ में ज्ञानप्रकाश विवेक लिखते हैं, “दुष्यंत की गज़लों में निस्संदेह आम आदमी की संघर्ष गाथा, सपनों का टूटना-जुड़ना, उम्मीदें, निराशा, संशय, दुःख की छायाएँ, अपने समय से टकराने की जुस्तजू और फिर किसी नए सपने के बनने टूटने की अनुगूँज शामिल है। कुल मिलाकर देखें तो एक हिंदुस्तान है अपनी पूरी कायनात के साथ, रागात्मकता के साथ, जीवन राग गाता हिन्दुस्तान- दुष्यंत की गजलों में।”<sup>10</sup> स्पष्ट है कि उनकी रचनाएँ आम जन के दर्द की बयानगी है। आम लोगों की जिंदगी में पर्वत सी पीर का जो एवेरेस्ट है उसे बिना हंगामा खड़ा किये राजनीतिक सक्रियता और जागृति सजगता में ढालकर मुकम्मल हिन्दुस्तान की बयानगी बना देना बिना जबाबदेही के संभव ही नहीं है। इसलिए यदि ये कहा जाए कि हिंदी में दुष्यंत से पहले गज़ल की कोई विशेष परम्परा नहीं थी तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संदर्भ :

1. कमलेश्वर (सं.), सारिका पत्रिका, अंक (181) मई 1976, सम्पादकीय
2. सिंह, विजय बहादुर, दुष्यंत कुमार, साहित्य अकादमी : 54
3. सिंह, विजय बहादुर, दुष्यंत कुमार, साहित्य अकादमी : 10-11
4. सिंह, विजय बहादुर, दुष्यंत कुमार, साहित्य अकादमी : 11
5. कुमार, दुष्यंत, जलते हुए वन का वसंत, भूमिका से

6. कुमार, दुष्यंत, साये में धूप, भूमिका : 7
7. सिंह, विजय बहादुर, दुष्यंत कुमार रचनावली, भाग 4 : 203
8. <https://bharatdiscovery.org>
9. कुमार दुष्यंत, साये में धूप, भूमिका : 7
10. विवेक, ज्ञान प्रकाश, हिंदी ग़ज़ल की विकास यात्रा : 71



## रीति के विपरीत, रीतिमुक्त कविता की प्रासंगिकता

○ कुमार भास्कर

रीति से अभिप्राय मार्ग, पद्धति, परिपाटी, शैली इत्यादी है। इसके अलावा रीति कई बार परंपरा के नाम पर भी अभिहित होता है। रीतिकालीन कविता में रीति से तात्पर्य एक विशेष प्रकार की रचना पद्धति से है जो अपने आप में रूढ़ है। रीतिकालीन साहित्य का रीति संस्कृत के रीति पद्धति से अलग है। संस्कृत में रीति को वामन ने काव्य की आत्मा माना है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति का आधार गुण के संदर्भ में प्रयोग होता है। रीतिकालीन साहित्य में रीति जिस विशेष अर्थ में प्रयोग होती है वह “ऐसा काव्य जो अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका भेद आदि की काव्यशास्त्रीय प्रणालियों के आधार पर रचा गया हो। इनके लक्षणों के साथ या स्वतंत्र रूप से इनके आधार पर काव्य लिखने की पद्धति ही रीति नाम से विख्यात हुई और यह पद्धति जिस काल में सर्वप्रधान रही, वह काल ‘रीतिकाल’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।”<sup>6</sup>

हमारे इतिहास में भक्ति आंदोलन साहित्यिक दृष्टिकोण से और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सुनहरा दौर है, जहाँ कबीर, नानक, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा जैसे रचनाकार हुए। इस दौर में लोकमंगल को लेकर कई तरह के विचार, इन रचनाकारों के द्वारा प्रस्तुत किए गए। इन सभी के योगदान से भक्ति आंदोलन, समाज को दिशा प्रदान करता है। इस नजरिए से रीतिकालीन कविता का दौर भक्ति आंदोलन की तुलना में अपनी साहित्यिक-सामाजिक जिम्मेदारी निभाने में असफल रहा है। रीतिकालीन कविता शास्त्रीय और नायिका भेद के साथ भाषा को चमत्कार पैदा करने वाली वस्तु के रूप में प्रस्तुत करती है। जिसकी वजह से कविता, भाव और भाषा दोनों धरातल पर लोक समाज से दूर हो जाती है। भक्तिकालीन कविता ने जिस लोक समाज के साथ तादात्म्य स्थापित किया था, रीतिकालीन कविता उस परंपरा को निभाने में असफल हो जाती है। लोक समाज से दूर रीतिकालीन कविता उस जिम्मेदारी का वहन नहीं कर पाती है, जो भक्तिकालीन कविता अपनी रचनाओं में सामाजिक समन्वय, लोक भाषा, समानता इत्यादि के भाव को समाहित करके चलती है। भक्तिकालीन कविता अपनी रचनाओं में भक्ति के माध्यम से समाज को दिशा देने का काम करती है। वहीं रीतिकालीन कविता अपनी सामाजिक जिम्मेदारी को दरकिनार करते हुए, कविता के परंपरागत शिल्प को मुख्य रूप से प्रस्तुत करती है। लोक और शास्त्र के द्वंद्व में भक्तिकाल के रचनाकार लोक तत्त्व को चुनते हैं और रीतिकालीन रचनाकार शास्त्र को। शायद इन्हीं कारणों की वजह से भक्तिकाल का अवसान और रीतिकाल का उदय होता है। नेतृत्व का अभाव, कविता का उद्देश्य अर्थोपार्जन और चमत्कार पैदा करना साथ ही रचनाधर्मिता का संकुचित भाव भी रीतिकाल के उदय की वजह बनती है। इसके अलावा मुक्तिबोध ने भक्तिकाल के अवसान को लेकर विचार किया है। उनका मानना था कि “भक्ति-आंदोलन, जिस पर प्रारंभ

में निम्नजातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह से छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण मतवाद की विजय हुई।”<sup>10</sup> निम्न वर्णों द्वारा प्रारंभ आंदोलन, जिसे कालांतर में उच्च वर्ण द्वारा, भक्ति आंदोलन की वैचारिकी का अपहरण कर लिया गया। सम्भवतः जिसकी वजह से भक्ति आंदोलन की ऊर्जा और उसकी मानवीय दिशा भटक गई। यह सभी कारण हो सकते हैं, जिसकी वजह से रीतिकाल, भक्तिकाल को पीछे छोड़ कर रूढ़िगत शास्त्रीयता को अपनाता है, जिसमें जीवंतता का अभाव है। ऐहिकता रीतिकाल के केंद्र में आ जाती है। हम कह सकते हैं कि कविता बाजार के अनुकूल बन जाती है। इस संदर्भ में डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं, “लक्ष्मणों के घरे में लक्ष्य को बाँधने का परिणाम यह हुआ कि कवि की भावभूमि संकुचित हो गई। इस घरे को तोड़कर जीवन-जगत के व्यापक अनुभवों को कविता में ले आने का अवसर ही नहीं मिला। जिस वर्ग के लिए वे कविताएँ लिखी जा रही थीं उस वर्ग के सामने विलास के अतिरिक्त कोई बड़ा लक्ष्य नहीं था।”<sup>11</sup>

इस अभाव को खत्म करने में रीतिमुक्त कविता का बहुत बड़ा योगदान है। जिसको देखने का नजरिया आज भी मायने रखता है। निःसंदेह घनानंद रीतिमुक्त परंपरा के अग्रदूत हैं जैसे संत काव्य के कबीर। रीतिमुक्त कविता के जेहन में कुछ खास है जो कुछ मायनों में उसे श्रेष्ठ बनाती है। भक्तिकाल में प्रेम का वर्णन सब ने किया है, लेकिन जिस जीवंतता और मनोवैज्ञानिकता के साथ रीतिमुक्त कवि प्रेम का वर्णन करते हैं, वह उसे आगे ले जाती है। आगे इसलिए कि प्रेम का उद्भरण रीतिमुक्त कविता में हमारे आसपास और खुद के करीब महसूस होता है। सामाजिक-सामंती दौर में यह कुछ इस तरह से है जैसे सूरदास का वात्सल्य वर्णन। जिसे पढ़कर या सुनकर किसी भी माँ या अभिभावक को कृत्रिम न लगकर सच्चा और अपने अनुभव जैसा प्रतीत होगा। भक्तिकाल में प्रेम का सबसे स्वच्छंद वर्णन कृष्णकाव्य में है। जहाँ प्रेम स्त्री-पुरुष को बराबर बनाकर, सामंती मानसिकता को चुनौती देता है। इन सब के बावजूद कृष्ण के प्रेम और रासलीला में कृष्ण के देवत्व का भान भी पर्दे के पीछे से महसूस होता है। प्रेम का खरा भाव जो साधारण हो, वह रीतिमुक्त कविता में मौजूद है। बड़ी बात तो यह भी है कि इस प्रेम में विरह का पक्ष बलवती है, वह भी पुरुष का। जिस सामंती समाज में पुरुष का रोना लड़कीपन की तरह देखा जाता है। वहाँ इतने सारे कवियों ने अपनी विरह वेदना, अपनी कविता में प्रस्तुत किया है। प्रेम की शक्ति का प्रगतिशील रूप हमें रीतिमुक्त में देखने को मिलता है। ना कोई दुराव ना छिपाव। सच बयां करने की शक्ति रीतिकालीन दैहिक प्रेम की कोटि से रीतिमुक्त कविता को अलग करता है। अक्सर पुराने साहित्य में पुरुष की पहचान, वीरता और भक्ति रस के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। वेदना की तीव्रता स्त्री-पुरुष के प्रेम में समान होती है। जिसे रीतिमुक्त कवि स्वीकार करते हैं। जैसे, समाज मानसिक बीमारी को पागलपन की तरह देखता है, क्योंकि वह मनोविज्ञान को समझता नहीं और कई बार समझना भी नहीं चाहता है। वह बस रूढ़ संस्कारों में फंसा रहता है। डर है कि समाज किसी पुरुष के विरह पर क्या सोचेगा? अगर डर नहीं है तो प्रेम की प्राकृत अवस्था को धर्म और नैतिकता के नाम पर कुचल दिया जाता है। जिसकी वजह से जो सहज है वह सहज नहीं रह जाता है। सिगमंड फ्रायड ने आगे चलकर इसी बात को साबित किया था। इसलिए आधुनिक सोच के विचारकों में उनका नाम भी शुमार है। इस दृष्टिकोण से रीतिमुक्त कविता मध्ययुगीनता में आधुनिकता का दृष्टिकोण देती है। रीतिमुक्त कविता के दो उदाहरण से हम उसके तेवर को और उसकी अभिव्यक्ति को समझ सकते हैं। कवि ठाकुर की पंक्तियाँ हैं, “ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात, याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है। ढेल सो बनाय आप मेलत सभा के बीच, लोगन कबित्त कीबौ खेल करि जानो है।”

और दूसरी पंक्ति घनानंद की है, “लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।”

यह दोनों पंक्तियाँ काफी प्रसिद्ध हैं। इसका मतलब कृत्रिम कविता के विरुद्ध अनुभव से रचित कविता को सर्वोत्तम माना गया है। साथ ही जिस प्रकार से कविता दरबारीपन और भौतिकता की गुलाम बन गई है, उस पर प्रहार किया गया है। इससे यह भी साबित होता है कि रीतिमुक्त कविता के कवि अपने समय काल को लेकर सजग थे। कविता का उद्देश्य और लक्ष्य क्या होना चाहिए? इसको लेकर भी चिंतित थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि रीतिमुक्त कविता समाज के विभिन्न सरोकारों को सीधे-सीधे नहीं उठाती है। सूर की तरह ही प्रेम के माध्यम से रीतिमुक्त कविता अपने विचार को प्रेषित करती है। जहाँ प्रेम महत्वपूर्ण है, वहाँ समन्वय और समानता स्वाभाविक तौर पर मौजूद होगा। कवि ठाकुर का रोष उस मानसिकता को लेकर भी है जो सहजता को कृत्रिमता से कम श्रेष्ठ मानता है। रीतिमुक्त कविता की दृष्टि उस ओर भी प्रश्न खड़ा करती है जहाँ हम कृत्रिम आवरण को अपनाते हैं और सहजता को नकारते हैं। जब प्रेम जैसे सहज मनोवैज्ञानिक गतिविधि को पुरुषत्व, देवत्व, संतत्व इत्यादि के नाम पर उसको बदलकर या दबाकर पेश करेंगे तो समाज कैसे बदलेगा? इसलिए हमारे राजनेता भी जो हैं, वह नहीं, जो दिखना चाहिए इस पर चलते हैं। जबकि भगत सिंह, विवेकानंद, आंबेडकर जैसे नायकों ने समाज के हिसाब से नहीं अपितु अपनी तार्किक प्राकृतिक चेतना के हिसाब से अपने जीवन और विचार को संचालित किया था। रीतिमुक्त कविता, कविता को सहज प्राकृत तरीके से अनुभव और वैयक्तिक चेतना से रचती है। प्रेम का सच्चा स्वरूप प्रत्येक बंधन को तोड़ देता है या तोड़ने की संभावना रखता है। प्रेम किस से? इसके बाद भी मायने रखता है। घनानंद वेश्या से, बोधा नर्तकी से प्रेम करते थे, आलम हिंदू ब्राह्मण होते हुए भी एक मुस्लिम युवती के लिए, प्रेम में मुसलमान बन गए। इसे लिखना आसान है, लेकिन जीवन में यह अपना पाना बहुत मुश्किल है। न तो परिवार के स्तर पर और ना ही समाज के स्तर पर, इसे कर पाना इतना आसान होता है। लेकिन यह वही देश है जहाँ ऐसे उदाहरण हैं। महत्वपूर्ण इसलिए भी इन्हीं उदाहरणों को हमने अपने विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल किया है। आज आधुनिक काल कहे जाने वाले समाज में भी इस बात की परिकल्पना कर पाना बहुत मुश्किल है, जो रीतिमुक्त कवि कर जाते हैं। उस समय काल में इतना भी आसान नहीं रहा होगा। सोने पर सुहागा यह भी कि जिस वेश्या सुजान से घनानंद प्रेम करते हैं, वह उनसे प्रेम नहीं करती हैं। इस पहलू को समझना होगा। यहाँ घनानंद का प्रेम पुरुषवादी नहीं है, जो किसी वेश्या के शरीर को धन से पाकर संतुष्ट हो जाए। प्रेम तो मन के मिलने से होगा। चाहे प्रेमिका जो भी हो घनानंद के लिए उसका आदर सम्मान कम नहीं होता है। दूसरी तरफ एक वेश्या, शरीर से किसी के साथ हो सकती है लेकिन मन से नहीं। इसलिए घनानंद लिखते हैं- “तुम कौन धौ पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।”

एक तरफा प्रेम का वर्णन रीतिमुक्त कविता के केंद्र में है। वह भी पुरुष का होना मायने रखता है। उस दौर में जब स्त्री दरबारी कविता में मांसल, स्थूल और वासना की वस्तु की तरह पेश की जा रही थी। डॉक्टर बच्चन सिंह लिखते हैं- “बद्धरीति कवियों का प्रेम सामान्यतः क्रीड़ापरक था तो स्वच्छन्द कवियों का प्रेम पीड़ापरक। प्रेम को इन्होंने अपने जीवन में जिया था। इसको आज की शब्दावली में भोगा हुआ यथार्थ कहा जाता है।”<sup>12</sup>

वैयक्तिकता रीतिमुक्त काव्य की विशेषता है। व्यक्ति की अपनी अनुभूति और सोच महत्वपूर्ण है। जब चारों तरफ दरबारीपन का माहौल है, उसमें स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ रहना यह कोई आसान काम नहीं था। वह रीति से मुक्त होकर चलता है। वैचारिकी में भी यही तो महत्व रखता है। दरबारी कविता की स्थूलता और धनोपार्जन का दबाव भी मुक्त चेतना को प्रभावित नहीं कर पाता है। व्यवस्था के साथ बने रहने में अपने चरित्र और विचार का हनन होना तय है। अपनी स्वच्छंदता से समाज की स्वच्छंदता भी पाई जा सकती है।

रीतिमुक्त कविता इन्हीं संदर्भों में स्वच्छंद है। कई बार प्रेम के दैहिक वर्णन में रीतिमुक्त कवि बोधा अश्लील हो जाते हैं। ऐसा विद्वान मानते हैं। लेकिन बात दैहिक और मानसिक संतुलन का है। प्रेम सिर्फ मानसिक होने की चाहत नहीं है। स्पर्श की अपनी भूमिका है। बोधा सच्चे प्रेम का स्वरूप को बताते हुए कहते हैं—

“उपजै इस्क जु अंग तैं रहत अंग के बीच।

हाड़ माँस गलिबो करै इस्क न जानत नीच॥”

प्रेम/इश्क अगर शरीर केंद्रित है, तो ऐसे लोग नीच हैं, जो कभी प्रेम को समझ ही नहीं सकते हैं। इसलिए जब कवि का नजरिया इसप्रकार का है तो उनके शृंगार वर्णन में कामुकता, प्रेम का ही एक रूप है। जहाँ रीतिकालीन कविता सिर्फ दैहिक दृष्टिकोण को अपनाती है। वहीं रीतिमुक्त कविता मानसिक दृष्टिकोण को अपनाती है। ऐसे में बोधा जैसे रचनाकार कुछ दैहिक वर्णन प्रेम के संबंधों में कर भी दें तो उनका विरह वर्णन, प्रेम को पूर्णता प्रदान करता है। जिसमें प्रेम की संपूर्ण अभिव्यक्ति है। रीतिमुक्त कविता की नायिकाएँ, शास्त्रीय नियमों से नहीं परिभाषित होती हैं। डॉक्टर मनोहर लाल गौड़ लिखते हैं, “इन कवियों की नायिकाएँ व्यक्ति हैं, उनकी रूप चेष्टाओं का उन्होंने आंखों देखा वर्णन किया है।... जिनकी प्रेरणा नायिका भेद से नहीं प्राप्त हो सकती।”<sup>3</sup>

रीतिमुक्त कविता सामंती भोगपरक मानसिकता के बहाव में ना बहकर, एकतरफा प्रेम करते हुए भी ज्यादातर रचनाकार प्रेम को उच्च कोटि तक ले जाते हैं। यह आज भी प्रेरणा स्रोत है।

भारतीय संस्कृति में अमूमन विरह के नाम पर मीरा और राधा को याद करते हैं। समाज के पॉपुलर नजर में मानो विरह स्त्री का स्थाई भाव है। जबकि भक्ति में विरह, पुरुषों का बहुत देखने को मिलता है। दूसरी ओर विरह को अगर पॉपुलर अर्थों में देखा जाए तो, हिंदी सिनेमा ने बेहतरीन ढंग से इसे पेश किया है और उस पर आधारित फिल्में प्रसिद्ध भी हुई हैं। इसका मतलब है कि समाज में पुरुष के विरह की स्वीकृति तो है लेकिन उसको मानक मानने का और उच्चतम पायदान पर रखने का भाव स्पष्ट तौर पर नहीं है। देवताओं के संदर्भ में विरह की स्वीकृति, भक्ति भाव के अर्थ में समाज आत्मीय और दैन्य भाव से स्वीकार करता है। लेकिन उसी विरह को सामान्य पुरुष के लिए, जनमानस को उसे स्वीकार करने में दिक्कत होती है। यह अपने आप में बहुत बड़ा द्वंद्व है जो समाज के पाखंड को दर्शाता है। रीतिमुक्त कविता का विरह वर्णन का इतना बड़ा स्रोत जनमानस को आकर्षित नहीं कर पाता है। हो सकता है पुरुषवाद का वर्चस्व पुरुष के विरह को लोकप्रिय नहीं होने देता है। अन्यथा रीतिमुक्त कविता में घनानंद की सुजान, आलम की शेख (नाम को लेकर विवाद है), बोधा की सुभान इत्यादि सभी ने अपनी प्रेमिका को मीरा और राधा के कृष्ण की तरह ही वर्णन किया है। उनकी रचना लैला-मजनू की कहानी की तरह प्रसिद्ध तो नहीं लेकिन अपने प्रेम के प्रभाव को आज भी प्रासंगिक बना गए हैं। प्रेम में विरह का महत्व आज भी रीतिमुक्त कविता का ऋणी रहेगा। जहाँ विरह की पीड़ा आत्मघाती न स्वयं के लिए और ना दूसरे को प्रताड़ित करने के लिए है। प्रेम पर चलना रीतिमुक्त कवि तलवार की धार पर चलने की तरह मानते थे— “यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।” घनानंद का इस संदर्भ में बहुत प्रसिद्ध एक सवैया है जहाँ वह कहते हैं— “हीन भये जल मीन अधीन कहा कहूँ मो अकुलानी समानै, नीर सनेही को लाप कलंक निरास है काय त्यागत प्राणै। प्रीति की रीति को क्या समुझै जड़ नीति के पानि परै को प्रमानै, मो मन की जु दसा घन आनंद जीव की जीवन जान ही जानै॥”

तात्पर्य यह है कि घनानंद अपने प्रिय के लिए उस प्रसिद्ध प्रेमी को कुछ नहीं समझते जो अपने प्रिय

के वियोग में कायरता पूर्वक अपने प्राण त्याग देता है। प्रेम में अकेले जलते रहना यही प्रेम की सच्ची पहचान है और इस प्रेम को केवल प्रेम का पात्र या प्रेमी घनानंद और प्रेयसी सुजान ही जान सकती है। यहाँ पर महत्वपूर्ण यह है कि घनानंद के प्रेम को स्वयं घनानंद ने महसूस किया, सुजान ने नहीं। यही एकतरफा प्रेम जिसके लिए घनानंद एक कसौटी रखते हैं। उस कसौटी में अपने प्रिय को कोई तकलीफ नहीं देना चाहते। वह स्वयं उस तकलीफ में रहते हुए भी किसी दुर्भावना के शिकार नहीं होते हैं। अक्सर हम आज के दौर में प्रेम में या तो स्वयं को आहत करते हुए कई खबरें देखते हैं या दूसरों को आहत करते हुए। घनानंद एक तरीके से अपने अनुभवों से प्रेम की जो नैतिकता है उसको बताने की कोशिश करते हैं। उसमें जिया भी जा सकता है और जीवन को उस एक तरफा प्रेम से भी संचालित किया जा सकता है। इन बेहतरीन उदाहरणों के साथ एक सकारात्मक रवैये के साथ वह अपने प्रेम को प्रकट करते हैं। अपने प्रेम की अभिव्यक्ति से रीतिमुक्त कविता समाज को नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि रीतिमुक्त कविता समाज के यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट तरीके से अभिव्यक्त नहीं करती है। कालांतर में इसी तरह का आरोप छायावाद पर भी लगता है। इस कमी के बावजूद रीतिमुक्त कविता अपने प्रेम के सरोकार से उस भाव को जरूर प्रस्तुत करती है, जिसमें कोई आडंबर नहीं है। रीतिमुक्त के रचनाकार सिर्फ घोषणा नहीं करते हैं, उसे अपने जीवन में उतार कर आने वाले समय के लिए अपनी प्रासंगिकता बनाए रखते हैं।

संदर्भ :

1. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ.बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण-2002 :185
2. वही : 223
3. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र (सं.), मयूर पेपरबैक्स-के.एल.मलिक एण्ड संस प्रा.लि., नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण-2001 : 366
4. हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास(रीतिकालीन साहित्य), प्रो.निर्मला जैन (सं.), इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली, पुनर्मुद्रित- 2009.
5. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. श्रीनिवासन शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 2005
6. हिंदी साहित्य कोश(भाग-1), संपादक मण्डल-( धीरेन्द्र वर्मा , बृजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश), पुनर्मुद्रित संस्करण-2000, प्रथम संस्करण-1985, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी : 563
7. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2), संपादक मण्डल-( धीरेन्द्र वर्मा, बृजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2000, प्रथम संस्करण-1986.
8. रीतिकालीन हिंदी साहित्य, प्रोफेसर पूरन चंद टण्डन, वर्ष-2019, SWAYAM PORTAL, राष्ट्रीय संसाधन केंद्र, MHRD, दिल्ली
9. कवि बोधा और उनका इश्कनामा, वेद प्रकाश, संजय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2003.
10. निबंध- मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू, गजानन माधव मुक्तिबोध, वर्ष 1955 : 7



# पारिस्थितिक विमर्श और समकालीन हिंदी कविता

○ नेहा मिश्रा

पारिस्थितिक विमर्श समकालीन आलोचना का एक महत्वपूर्ण और अनिवार्य पक्ष है। 'समकालीन बनने' के क्रम में आज की हिंदी कविता बहुत सारी चुनौतियों का सामना करते हुए समयबोध के अनुरूप अपने आप को बदलती है। अपने इस रूपगत बदलाव के साथ उन तमाम दायरों से अपने को मुक्त करती चलती है जो आधुनिकता के दौरान देखे गए। एक समग्र परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हुए समकालीन कविता कुछ ऐसे प्रतिमानों का निर्माण भी करती है, जो संदर्भानुसार स्वयं बदलते रहते हैं।

पारिस्थितिक विमर्श एक नए सौंदर्य बोध की मांग करता है। कला और साहित्य को इसी सौंदर्य बोध के माध्यम से परखता है। कला, साहित्य का निर्माण करने वाली परिस्थिति के भिन्न भिन्न तत्वों की पड़ताल यहाँ की जाती है। पारिस्थितिक विमर्श की दृष्टि में मानवीय सभ्यता की विकास यात्राएँ नकली और निरर्थक हैं। विकास के नाम पर विनाश ही हो रहे हैं। पूंजीवाद का जो नया स्वरूप उदारवाद के साथ आया उसने पारिस्थितिक संकट को और भी विस्तार दे दिया। जल, जंगल जमीन पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कब्जा आम हो चला है। इस संकट के प्रति मानुष जाति को सचेतन करना समय की मांग है। पारिस्थितिक विरोधी सभी तत्वों व औजारों का प्रतिरोध और इस प्रतिरोध को सही दिशा में जारी रखने के लिए पारिस्थितिक अवबोध की आवश्यकता है। इन्हीं आधार बिंदुओं पर समकालीन कविता का विश्लेषण इस शोध पत्र का उद्देश्य है।

**बीज शब्द :** पारिस्थितिक विमर्श, पारिस्थितिक अवबोध, समकालीन कविता।

समाज के 'कन्सर्न' से समाज में 'हाशिए' बनते हैं। सामाजिक कन्सर्न की निर्मिति में सामाजिक संरचना और परिस्थितियों का दबाव काम करता है। समाज में कला व साहित्य का स्वरूप भी सामाजिक कन्सर्न के अनुरूप ही निर्मित होता है। आज यदि समाज में प्रकृति हाशिए पर है तो इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के प्रति मुख्यधारा के समाज का 'सामाजिक कन्सर्न' नहीं रहा है। 'कविता यानी प्रकृति' शीर्षक लेख में सुधीश पचौरी लिखते हैं- "आधुनिकतावाद के जमाने में प्रकृति का मानवीयकरण (ह्यूमनाइज) ही किया गया। मनुष्य के अधीन किया गया मनुष्य के लिए समर्पित किया गया।" पर्यावरणीय चिंताएँ आधुनिक युग में रही, लेकिन मनुष्य केंद्र में रहा, अन्य पारिस्थितिक तत्व हाशिए पर। उत्तर-आधुनिकता के दौर में पारिस्थितिक विमर्श एक महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में उभरा, जो मनुष्य केंद्रित पर्यावरणीय चेतना से भिन्न व्यवस्था केंद्रित है।

‘पारिस्थितिकी’ अंग्रेजी के Ecology (इकोलॉजी) शब्द का हिंदी अनुवाद है। 1809 में जर्मन वैज्ञानिक अर्नेस्ट हैकिल ने इकोलॉजी को अकार्बनिक व कार्बनिक वातावरण के पारस्परिक संबंधों के रूप में देखते हुए पर्यावरण को दो आनुवंशिक घटकों में विभाजित किया। पहला “प्राकृतिक पर्यावरण, यथा कार्य की, जलवायु, मृदा, वन्य प्राणी तथा खनिज, दूसरा मानव पर्यावरण तथा सभी तत्व जिन्होंने मानव को छुआ है और जिसके अंतर्गत मानवीय प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं।”<sup>2</sup> कह सकते हैं कि जीव और वातावरण के मध्य निर्मित संबंध का अध्ययन पारिस्थितिकी का विषय है। ‘बीसवीं शताब्दी के चेम्बर्स’ शब्द कोश में इकोलॉजी की दी गई परिभाषा इस प्रकार है— “जन्तुओं अथवा पादपों या जीवसंख्याओं या समुदायों और उनके वातावरण के परस्पर संबंधों के अध्ययन को ही पारिस्थितिकी कहते हैं।”<sup>3</sup> यानी जीवधारियों व उनके पर्यावरणीय संबंधी समस्त भौतिक एवं जैविक वातावरणीय कारक, आदान प्रदान की प्रक्रिया के साथ-साथ विभिन्न जातियों के अन्तर व अन्तर्जातीय संबंधों का निजी अध्ययन पारिस्थितिकी का मूल विषय है और साहित्य के अन्तर्गत पारिस्थितिकी पर चर्चा इन्हें तत्वों के आधार पर की जाती है। प्रश्न यह है कि साहित्य के केन्द्र में ‘पारिस्थितिकी’ क्यों? पारिस्थितिकी के वैज्ञानिक धरातल को प्रस्तुत करना साहित्य का कार्य नहीं। साहित्य कलाओं का संबंध ‘कन्सर्न’ से है। यानी पारिस्थितिक संकट से उत्पन्न विभिन्न सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक समस्याओं से प्रभावित मनुष्य समाज, प्रकृति व मानव के विच्छेद होते संबंधों की पड़ताल साहित्य व कलाओं का मुख्य लक्ष्य है।

पारिस्थितिक चिंतन की एक लंबी परंपरा है। पाश्चात्य जगत के कुछ महत्वपूर्ण पारिस्थितिक चिंतकों का यहाँ उल्लेख जरूरी है। हेनरी डेविड तॉरो 1817-1862 ने संपूर्ण अमेरिका में पारिस्थितिक बोध जगाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने जीवन का अस्तित्व जंगलीपन (Wildness) में देखा। जॉन मिर (John Muir 1838-1914) को नेशनल पार्क (National Park) का पिता माना जाता है। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं— The Mountains of California, National Park आदि। अमेरिका के विभिन्न पारिस्थितिक संगठनों के विकास कार्य में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। अलदो लियोपोल्ड (Aldo Leopold 1878-1948) द्वारा मरुस्थल संरक्षण (Wilderness) के लिए आंदोलन चलाया गया। पर्यावरण नीतिशास्त्र बनाने में इन्होंने सक्रिय भूमिका निभायी। अपनी प्रमुख पुस्तक ‘ए सैंड कंट्री एलमनी’ (A Sand Country Almanac) में ‘भू नीति’ (Land Ethics) संबंधी नये विचार प्रस्तुत किए हैं। लेविस मफोर्ड (Lewis Mumford 1895-1990) ने अपनी पुस्तक ‘मिथ ऑफ दी मशीन’ (Myth of the Machine) द्वारा उत्तर आधुनिक युग में यंत्रों के विरोध पर बल दिया है। रेचल कारसन (Rachel Carson 1907-1964) द्वारा रचित ‘साइलेंट स्प्रिंग’ ने पाश्चात्य जगत में पारिस्थितिक बोध जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जापान के मसनोबु फुकुबोका ने अपनी पुस्तक ‘वन स्ट्रॉ रिवॉल्यूशन’ (One Straw Revolution) ‘नेचुरल वे ऑफ फॉर्मिंग’ (Natural Way of Farming) ‘दी थियरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ ग्रीन फिलॉसफी’ (The Theory and Practice of Green Philosophy) ‘द रोड बैक टू नेचर’ (The Road Back to Nature) के माध्यम से पारिस्थितिक विचारों को शब्दबद्ध करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। मानव व प्रकृति के बीच टूटते संबंध को देखते हुए फुकुबोका ने प्रकृति की ओर लौटने के लिए कहा। विश्व को प्राकृतिक खेतीबाड़ी की देन, फुकुबोका का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

भारत में प्रकृति संरक्षण की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम महात्मा गांधी का आता है। 1908 में लिखित पुस्तक ‘हिंद स्वराज’ के माध्यम से उन्होंने प्रकृति एवं विकास संबंधी अपने विचारों को स्पष्ट किया। टेहरी गढ़वाल निवासी सुंदर लाल बहुगुणा ने वन संरक्षण की दिशा में ‘चिपको आंदोलन चलाया तथा धरती के लगातार

हो रहे शोषण का कारण उपभोगवादी प्रवृत्ति को ठहराया। बहुगुणा का कथन है- “समय की माँग है कि हम एक ऐसी वैकल्पिक जीवन-पद्धति और तकनीकी का विकास करें जो फिजूलखर्ची के स्थान पर आवश्यकताओं की पूर्ति और बड़े के स्थान पर लघु का विकल्प दे सके। लघु से तात्पर्य दीर्घ-जीवी पर्यावरण मित्र और आर्थिक स्थायित्व वाला से है। हमें चाहिए उन साधनों को खोजें जिनसे विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन कायम हो सके।”<sup>4</sup> विश्व के प्रमुख पारिस्थितिक चिंतकों में वंदना शिवा एक चर्चित नाम है। पारिस्थितिक कार्यकर्त्री के रूप में वंदना शिवा ‘इंटरनेशनल फोरम ऑन ग्लोबलाइजेशन’ (International Forum on Globalisation) संगठन तथा ‘रिसर्च फाउंडेशन फॉर साइंस टेक्नोलॉजी नेचुरल रिसोर्स पॉलिसी’ (Research Foundation for Science Technology Natural Resources Policy) जैसी संस्था से जुड़ी हुई हैं। इन्होंने मूकघाटी आंदोलन, चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आदि प्रमुख पारिस्थितिक आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी निभाई। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं ‘दी हाइजैकिंग ऑफ ग्लोबल फूड सप्लाई’ (The Hijacking of Global food supply), स्टोलन हार्वेस्ट (Stolen Harvest), वॉटर वॉर (Water war)। भारत में प्रथम प्रकृति संरक्षण संगठन की संस्थापक सुगत कुमारी के पारिस्थितिक संबंधी विचारों को उनकी पुस्तक ‘कावुतीण्डल्ले’ तथा ‘वनरोदनम’ से जान सकते हैं। सुगत कुमारी ने प्रदूषण को एक बड़ी विपत्ति के रूप में देखते हुए इसे पारिस्थितिक संरक्षण का सबसे बड़ा शत्रु माना है। केरल के अब तक के पारिस्थितिक आंदोलन में सुगत कुमारी की सक्रिय भागीदारी रही।

पर्यावरण संरक्षण हेतु जो भौतिक प्रयत्न हो रहे हैं उसी के समानांतर महत्वपूर्ण बिंदु है- साहित्य के द्वारा प्रतिबिंबित पारिस्थितिक संवेदनाएँ एवं अध्ययन। 19वीं शताब्दी में पारिस्थितिक बोध संबंधी विचारों के प्रचार प्रसार की दिशाएँ जॉर्ज पेर्किन्स मार्श की रचना ‘मैन एण्ड नेचर’ को प्रथम प्रयास माना जाता है जिसमें प्रकृति में मनुष्य की दखलंदाजी को पारिस्थितिक संकट के रूप में पहचाना गया। समकालीन संदर्भ में पारिस्थितिक विचारों का आरंभ साहित्य में रेचल कार्सन की किताब ‘साइलेंट स्प्रिंग’ (1962) से मान सकते हैं। “सन् 1962 में जब डी.डी.टी. को फसलों के अनेक रोगों के लिए अचूक व मलेरिया के विरुद्ध एक प्रभावशाली प्रतिरोधक माना जाता था तभी इस अमेरिकी महिला शोधकर्त्री रेचल कार्सन ने चेतावनी दी थी कि इस औषधि का छोटा-सा कण भी यकृत को भारी हानि पहुँचा सकता है।”<sup>5</sup> कार्सन की जानकारी सही स्थापित हुई और इनकी इस पुस्तक से ही पाश्चात्य जगत में पारिस्थितिकी बोध की शुरुआत हुई।

साहित्य में इकोक्रिटिसिज्म व शब्द का सबसे पहले प्रयोग सन् 1978 में विलियम रूकेर्ट ने ‘लिटरेचर एण्ड इकोलॉजी: एन एक्सपेरिमेंट इन इको क्रिटिसिज्म’ में किया। जोसेफ मीकर के ‘दि कामदी ऑफ सरवाइवल: स्टडीज इन लिटरेरी इकोलॉजी’ (1974) को आधुनिक युग का पहला पारिस्थितिकीय ग्रंथ माना गया है। फ्रेंच विचारक ल्योतार द्वारा 1989 में प्रकाशित ओइकस (Oikos) लेख में इस बात को स्पष्ट किया गया कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मनुष्य व प्रकृति के बीच का संघर्ष बढ़ते-बढ़ते पश्चिमी देशों द्वारा गरीब देशों के ऊपर आर्थिक शोषण के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

1992 में अमेरिका में एसोसिएशन फॉर द स्टडी ऑफ लिटरेचर एण्ड एनवायरमेंट (Association for The Study of Literature and Environment) संगठन तथा 1995 में कोलोराडो स्टेट विश्वविद्यालय (Colorado State University) में प्रथम विश्व पारिस्थितिक सम्मेलन के साथ ही नब्बे के दशक में आकर पारिस्थितिकी ने एक गंभीर विमर्श का रूप अख्तियार कर लिया। सन् 1996 में शेरील ग्लोफेल्टी ने स्पष्ट किया कि आलोचना पद्धति के रूप में इकोक्रिटिसिज्म साहित्य, प्रकृति और सभ्यता के बीच संबंध की तलाश करता है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों ने साहित्य क्षेत्र में एक नवीन दृष्टि का

प्रादुर्भाव पारिस्थितिक विमर्श के रूप में हुआ। वर्तमान परिवेश की समग्र अभिव्यक्ति के लिए पारिस्थितिक विमर्श सबसे अनुकूल व अनुरूप साहित्यिक विमर्श है। अंग्रेजी में इसके लिए इकोलॉजिकल लिटरेरी क्रिटिसिज्म (Ecological Literary Criticism) पद का प्रयोग किया जाता है।

वर्तमान समय में विश्व विभिन्न पारिस्थितिक संकटों से गुजर रहा है। 1990 में भूमंडलीकरण की तीव्रगति से विकास की दिशा ठीक नहीं है। नई साम्राज्यवादी पूँजीवादी राजनीति द्वारा भारत समेत समस्त विकासशील देशों के संपूर्ण पारिस्थितिक तंत्र को एक झटका-सा लगा है। इन प्रतिकूलताओं को साहित्य जल्दी ही भांप लेता है। साहित्य सृजनात्मकता के जरिए प्रतिकूलताओं के प्रति प्रतिरोध जाहिर कर रहा है। दरअसल पारिस्थितिकी विमर्श जीवन को उसकी समग्रता में प्रदर्शित करने का प्रयास है और साहित्य में भी इस पर विचार समग्र दृष्टिकोण से हो रहा है।

प्रसिद्ध पारिस्थितिक चिंतक कैमिलो गोमिड्स के अनुसार, "The field of enquiry that analyzes and promotes works of art which raise moral questions about human interactions with nature, while also motivating audiences to live within a limit that will binding over generations."<sup>6</sup> ब्रह्माण्ड के समस्त जीवजाल के संरक्षण का विचार इस पारिस्थितिक चिंतन के मूल में है। यहाँ किसी एक वर्चस्व नहीं भूमंडलीकरण के साथ मनुष्य की भोगवृत्ति और सशक्त हो गई है। बाजारीकरण के दौर का समाज प्रकृति के बाजारीकरण को भी स्वीकार कर रहा है। मनुष्य अपने तात्कालिक सुखों के लिए इस बात को भूल रहा है कि विकास का आधार शुद्ध व स्वस्थ पर्यावरण ही है। आलोचक अजय तिवारी के अनुसार, "आज के पर्यावरणवादी सरोकारों ने हमें सचेत कर दिया है कि प्रकृति का विनाश करके मनुष्य भी सुरक्षित नहीं रहेगा। पानी की तंगी, पर्यावरण का प्रदूषण, बढ़ती गर्मी, पिघलती बर्फ आदि समाज का ही नहीं, प्रकृति का संकट भी विस्फोटक रूप लेता जा रहा है।"<sup>7</sup> आज के विकसित समाज के लिए नदी, पहाड़, जंगल सब कमाँडिटी हैं।

प्रकृति वही संतुलित है, जिस पर मनुष्य का हस्तक्षेप न हुआ हो। दरअसल मानव का अनैतिक दखल समग्र संतुलन को नष्ट कर रहा है। इस बिंदु पर आकर पारिस्थितिक विमर्श एक नये सौंदर्य बोध की सृष्टि करता है और इसी सौंदर्यबोध के माध्यम से कला व साहित्य को भी परखता है। पारिस्थितिकी के विभिन्न तत्व इस विमर्श का हिस्सा बनते नजर आते हैं और इन तत्वों की पड़ताल इस विमर्श के अंतर्गत की जाती है। एक मानवीय सहयोग व संस्पर्श के बगैर प्राकृतिक संसाधनों से सौंदर्य सृष्टि कैसे होती है, इस दृष्टि से समकालीन कवि अरुण कमल की कविता 'सूर्यग्रहण' का पाठ किया जा सकता है।

समकालीन कविता मानव की सभ्यता और उसके विकास क्रम पर बराबर प्रश्न चिह्न लगा रही है। आर्थिक उदारीकरण के दौर ने पारिस्थितिक संकट को और भी खतरनाक मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ यह महसूस किया जा सकता है कि जल, जंगल, जमीन सभी कुछ बिकने को तैयार हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का इन पर एक बहुत बड़ा कब्जा है। ये विकास यात्राएँ नकली और निरर्थक हैं। ऐसी स्थिति में जंगली घास पारिस्थितिकी का सही पथ-प्रदर्शन करती है। सभ्यता विकास की दौड़ में मनुष्य इस जंगली घास को रौंदता भी है तो यह कहीं न कहीं उगती रहती है-

“घसियारों से ज्यादा घास की सिफत कुछ ज्यादा ही रही  
ज्यों-ज्यों काटी त्यों-त्यों वह हमारे पास ही रही।

- - -  
इतिहास में इतिहास से ज्यादा घास ने हमारी मदद की।”<sup>8</sup>

मनुष्यता के इतिहास में वही हितकारी रहा, जिसे मनुष्य ने जंगली कहकर नकार दिया। इसलिए उदय प्रकाश अपनी कविता 'बचाओ' में इस धरती को बचाने का आग्रह प्रकट करते हैं-

“बचाना ही हो तो बचाये जाने चाहिए  
गाँव में खेत, जंगल में पेड़  
शहर में हवा  
पेड़ों में घोंसले, अखबारों में सच्चाई, राजनीति में  
नैतिकता, प्रशासन में मनुष्यता, दाल में हल्दी।”<sup>9</sup>

समकालीन समाज की सबसे बड़ी समस्या मानव का संवेदनहीन होते जाना है। मनुष्य व प्रकृति के बीच संबंधों का टूटन इसके मूल में है। अपने समय की जटिलताओं और अन्तर्विरोधों से उत्पन्न समस्याओं को पहचान कर काव्य सृजन करने वाले समकालीन कवि एकान्त श्रीवास्तव की कविता संपूर्ण पारिस्थितिक जीवन की संवेदनाओं से जुड़ती है। उनके काव्य संग्रहों के नाम हैं- 'मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद', 'बीज से फूल तक', 'अन्न है मेरे शब्द' तथा 'नागकेसर का देश यह' आदि। उपभोक्तावादी समाज में पत्थर बन चुके मानव-मन को टटोलती है एकांत श्रीवास्तव की कविताएँ। कवि के शब्दों में -

“ओ चिड़िया  
तुम बोलो बारम्बार गाँव में  
घर में घाट में, वन में  
पत्थर हो चुके आदमी के मन में।”<sup>10</sup>

एकांत श्रीवास्तव की कविताएँ स्थानीय स्मृतियों के माध्यम से एक नए भाव लोक का सृजन करती हैं। मनुष्य जाति पर विश्वास स्थापित करने की पूरी कोशिश इन कविताओं में दिखाई देती है। संपूर्ण जगत को बचाए रखने की कोशिश यहाँ लगातार जारी है-

“अन्न है मेरे शब्द  
पृथ्वी की उर्वरता के आदिम साक्ष्य  
जन्म लेना चाहते हैं बार-बार  
संसार को बचाए रखने की  
पहली और अंतिम इच्छा बनकर”<sup>11</sup>

समकालीन कविताएँ पारिस्थितिक विरोधी सभी तत्वों व औजारों का प्रतिरोध करती है। इस प्रतिरोध की सही दिशा में जारी रखने के लिए पारिस्थितिक अवबोध की आवश्यकता है। सूचना प्रौद्योगिकी के विकास ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को और विस्तार दिया, पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी ताकतें अपनी योजनाओं को सफलता पूर्वक क्रियान्वित करती रहीं। समकालीन हिंदी कविता इस राजनीति के पीछे छिपे स्वार्थ का पर्दाफाश करती है। कवितायें प्रतिरोध की दीवार खड़ी करती हैं-

“सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है  
और नीली पड़ जाती है धरती की देह  
बुझ जाता है चाँद  
सूख जाती है नदियाँ  
अदृश्य हो जाते हैं हरे-भरे खेत  
सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है

और एक बाघ की दहाड़ सुनाई देती है  
उड़ जाते हैं सारे सगुन पंछी  
सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है  
और खो देते हैं हम  
अपना देश”<sup>12</sup>

संधिपत्रों के द्वारा विकसित देश विकासशील देशों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करते हैं। इसी आधार पर विकासशील देशों की प्राकृतिक व जैविक संपदा पर वार करना उनके लिए सुगम हो जाता है। निजीकरण के कारण आदिवासियों की भूमि उनसे छीनी जा रही है। वर्तमान समय में आदिवासी अस्मिता संकट में है। सत्ताधारी वर्ग द्वारा उन्हें विस्थापित किया जाता है तथा उनके पुनर्वास के लिए भी कोई समुचित नीति नहीं होती। विस्थापन की यह समस्या उन्हें जल, जंगल, जमीन से दूर कर देती है। विनोद कुमार शुक्ल लिखते हैं-

“ जो प्रकृति के सबसे निकट हैं  
जंगल उनका है  
आदिवासी जंगल के सबसे निकट हैं  
इसलिए जंगल उनका है  
अब उनके बेदखल होने का समय है।”<sup>13</sup>

आज विकास के मानक आदिवासियों के जन-जीवन के विकास में सहायक न होकर उनके जीवन, उनकी स्वायत्तता में हस्तक्षेप के लिए अपनाए गए षड्यंत्र मात्र हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियाँ पारिस्थितिक शोषण का मुख्य कारण है। पारिस्थितिक संकट की समस्या सभी देशों के लिए युद्ध की भांति भयानक है। चंद्रकांत देवताले की कविताएँ इस पारिस्थितिक शोषण की ओर संकेत करती हैं-

“ पुल बनेगा सोचकर-सोचकर  
दोनों बूढ़ों के चेहरों पर  
भावी दुर्दिनों की परछाइयाँ तैरने लगी।”<sup>14</sup>

समकालीन कविताएँ भौगोलिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के पारिस्थितिक संकटों को साझा करती हैं। वैश्विक तापन, वनों का विनाश, जल प्रदूषण, पानी की कमी आदि कई पारिस्थितिक समस्याएँ समकालीन हिंदी कविता के केन्द्र में हैं। तालाबों के शहर भोपाल में जल संकट की समस्या से उत्पन्न संवेदना ‘किस्सा उस तालाब का’ कविता में इस प्रकार अभिव्यक्त होती है-

“ कोशिश की, बहुत कोशिश की पर उसे जल कह सकने का  
पवित्र भाव जागा ही नहीं मन में  
- - -  
‘कब-कब वह पानी देखूँगा  
जिसे पानी कहने की तसल्ली हो  
और जल कहने में मन भीग जाए।”<sup>15</sup>

वर्तमान में जल-नियंत्रण पूंजीपतियों तथा पेप्सी कोका-कोला जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अधीन है। भविष्य की स्थिति यह हो सकती है कि जिसके पास पूंजी है, उसके पास जल है।

अरुण कमल की कविता में पारिस्थितिकी के तत्व अपनी ताकत और अपने सौन्दर्य समेत एक नये

सौन्दर्य बोध के साथ आते हैं- एक ऐसी तलाश जहाँ पारिस्थितिकी मानवीय संस्पर्श के बिना, मात्र प्राकृतिक संसाधनों से सौन्दर्य की रचना कैसे करती है।

‘सूर्यग्रहण’ कविता में कवि प्रकृति द्वारा स्वरचित सौन्दर्य के विपुल पुंज की ओर संकेत करता है। “जहाँ सूर्य, पृथ्वी, चंद्रमा खड़े हो आमने-सामने”<sup>16</sup>।

‘सौंदर्य’ शीर्षक कविता में आंधी का दृश्य इस प्रकार आता है मानो सभी प्राकृतिक तत्व आपस में संघर्ष कर रहे हों। यह संघर्ष दो समूहों का संघर्ष है- पृथ्वी और आकाश के दो समूह। आकाश बिजलियाँ गिराकर जहाँ संपूर्ण पृथ्वी को जला डालना चाहता है वहीं पृथ्वी की रक्षा करने के लिए वृक्ष तैयार हैं। संघर्ष में भी सहयोग। यह है नवीन सौन्दर्य बोध। कविता की अगली पंक्ति विमर्श का मुद्दा बनती है। कवि पूछता है-

“ ठहरेगा कौन इस राह पर आज  
देखेगा कौन संघर्षरत वृक्षों का दुर्द्धर्ष सौन्दर्य?”<sup>17</sup>

बिना गहरे सरोकारों के ऐसा चित्रण संभव नहीं। ये सरोकार अपने स्वरूप में भी व्यापक है। अरुण कमल अपनी कविता में संपूर्ण विश्व से तादात्म्य की आकांक्षा जाहिर करते हैं। दूसरे देशों के भी मनुष्येतर जीव सृष्टि और प्रकृति से रागात्मक संबंध स्थापित करना अरुण कमल का कवि-स्वभाव है। अफ्रीका के सौन्दर्य का मोहक चित्रण करते हुए वे दोनों देशों की प्रकृति में एक सादृश्य के मद्देनजर परस्पर प्रेम प्रकट करते हुए, लिखते हैं-

“ सामने दादा वृक्ष या बाउ-बाउ  
उसने मुझे पत्तों के झाल बजाकर रोका  
कहना बरगद से मेरा नमस्ते  
हम सहोदर भाई हैं धरती के ज्येष्ठ पुत्र”<sup>18</sup>

यह अरुण कमल का ‘हम’ है, जो मनुष्य केन्द्रिक नहीं, प्रकृति केन्द्रित है। कविता में पर्यावरण कैसे आता है इसका उदाहरण है यह कविता। ऐसा लगता है कि अरुण कमल का कवि किसी तलाश में है, एक जिज्ञासा के साथ। ये तलाश ही उन्हें प्रकृति के इतने करीब लाती है। जिज्ञासा और आश्चर्यभाव के साथ प्रकृति और पर्यावरण की वापसी अरुण कमल की कविता की अपनी विशेषता है। आत्मीय संबंधों का एक पूरा संसार यानी प्रकृति अरुण कमल के यहाँ एक मूल सामग्री के रूप में आती है। खासकर जीवन में प्रकृति के दखलंदाजी का मनोरम बोध है यहाँ,

“ बाहर भी रखा  
लेकिन लतर थी कि मानती ही नहीं थी  
एक झटके से कमरे के अंदर  
बारिश बहुत तेज

- - -  
लेकिन खिड़की बंद हो तो कैसे  
आदमी हो तो कोई कहे भी  
आप मनीप्लाण्ट की उस जिद्दी लतर को क्या कहियेगा,  
जिसकी कोपल अभी खुल ही रही हो?”<sup>19</sup>

प्रकृति की परवरिश, उससे स्नेहिल संबंध और अरुण कमल की रचना-प्रक्रिया और प्रकृति को इन

पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है। मन कविता लिखने का हुआ तो मनीप्लांट की जिद्दी लतर उसके लेखन का विषय बन गई, जिसमें प्रकृति एक तरीके से आती है। अलंकरण की कोई जरूरत नहीं यहाँ। ये कविताएँ अंकुर की तरह फूटती हैं।

अरुण कमल की कविता का स्वर प्रतिरोधी भी है। जल, जमीन से जुड़ी संवेदना के साथ विभिन्न पारिस्थितिक संकटों पर कविता आवाज उठाती है। ‘इक्कीसवीं शताब्दी की ओर’ कविता निकट भविष्य की ओर संकेत करती है-

“हर नदी का घाट श्मशान  
हर बगीचा कब्रिस्तान बन रहा है  
और हम इक्कीसवीं शताब्दी की ओर जा रहे हैं।”<sup>20</sup>

इस उत्तर आधुनिक यथार्थ में सांस्कृतिक क्षरण व अरक्षित का भाव आसानी से देखा जा सकता है। विकास की दिशा में अग्रसर मनुष्य प्रकृति के साथ अपने सह-अस्तित्व को भूल गया है। नदी, पेड़-पौधे, जंगल पहाड़ आदि प्राकृतिक संसाधन नष्ट हो रहे हैं। मनुष्य का अनैतिक दखल पृथ्वी के समग्र संतुलन को नष्ट कर रहा है। गंगा जो भारत का संस्कार है, वह प्रदूषित हो रही है। नदियों के संदर्भ में पारिस्थितिक समस्या पर विचार करते हुए अरुण कमल लिखते हैं-

“असंभव  
असंभव है सोचना  
जिनकी मिट्टी गंगा-पानी से गुंथी है  
उनके लिये असंभव है सोचना कि  
एक दिन गंगा के ऊपर उड़ता हुआ पक्षी  
विष की धाह से झुलस जायेगा  
कि एक दिन गंगा  
नहीं रहेगी और फिर गंगा  
वे रख आए हैं गंगा के द्वार पर विषपात्र  
षड्यंत्र  
हिमालय के साथ  
पृथ्वी नक्षत्र समस्त मण्डल के साथ”<sup>21</sup>

उपभोक्ता संस्कृति की खतरनाक परिणति है पर्यावरण का नाश, जिसके कारण सामाजिक सांस्कृतिक विचलन उत्पन्न होते हैं। बहती आ रही नदी की आर्द्रता और धरती के मोहक सौन्दर्य के प्रति आज हमारे मन में कोई आकर्षण नहीं। संपूर्ण जीव-जगत के दुश्मन वे ही हैं जो गंगा के द्वार पर विष पात्र रख आए हैं। कवि उन लोगों का विरोध करता है जो गंगा को ‘जीवन के अनंत सूत’ के रूप में देखते हैं और उसमें फूलों के गूथे जाने की कामना करते हैं।

प्रकृति के विघटन, विनाश, निर्माण और जिजीविषा के अनंत रूप कविताओं में देखे जा सकते हैं। विघटन-विनाश के दृश्य में ‘स्मृति’ माध्यम बनती है प्रतिरोध का।

“कोई वृक्ष जामुन का  
नींव पड़ने के पहले  
छोटी गुठली वाले काले जामुनों का वृक्ष  
वही वृक्ष तुम्हें हिला रहा है

एक पक्षी अभी भी ढूँढ़ता है वहीं अपना नीड़  
वे चीटियाँ खोजती हैं अपना वाल्मीक  
इस ब्रह्मांड में सबका अधिकार है देवि!"<sup>22</sup>

यह है अरुण कमल का प्रतिरोध। मौलिक और जरूरी। पारिस्थितिक चिंतन के इन दिनों में अरुण कमल की कविताएँ भरोसा दिलाती हैं। वंदना शिवा जहाँ नीम और प्रकृति के पक्ष में जहाँ शास्त्र से लड़ती हैं, वहाँ अरुण कमल 'छोटी गुठली वाले जामुन', चींटी समेत संपूर्ण ब्रह्मांड के पक्ष में खड़े होते हैं। बहुराष्ट्रीय यथार्थ में प्रकृति के उपकेंद्र द्वारा प्रतिरोध इसी तरह संभव है।

यांत्रिक संस्कृति के विस्तार ने पर्यावरण एवं अन्य घटकों को बहुत की अधिक प्रभावित किया है। वैश्वीकरण की दुनिया में गाँव के गाँव बेचे जा रहे हैं। गाँव की जमीन को दुनिया समेटने लगी है, लेकिन गाँव इस दुनिया से बाहर है। धरती और मनुष्य का सह अस्तित्व अगंभीर हो गया है। अपनी जड़ों से कटकर आरोपित संस्कृति को गले लगाने से उत्पन्न खतरों को कवि देखता है। गाय, बछड़े, स्त्री, पेड़, पौधे सभी अन्याय की दहशत में हैं। कैसी विवशता है कि अत्याचार के इस अबाधित प्रसार से घर गाँव और देश कोई भी अछूता नहीं है-

"कैसा समय कि खून के छोटों से भरा सफेद घोड़ा  
गाँवों को रौंदता जा रहा है  
चुप क्यों है सारी दुनिया!"<sup>23</sup>

एक छोटे से गाँव से दुनिया तक की दूरी तय करती यह कविता, अधिकार हनन के विकराल दृश्य से आहत कवि के प्रश्न को शब्द देती है।

नदियों की बात करें तो सबसे बड़ा जल स्रोत मानी जाने वाली नदियाँ बस स्मृतियों में ही बची हैं। नदियों का जल सूख गया है। पानी की जगह वहाँ अब रेत ही है। कवि के शब्दकोश में इस जगह के लिए एकमात्र उपयुक्त शब्द 'श्मशान' है-

"जहाँ कुछ पानी है वहीं उतारेंगे  
वही है सबसे बढ़िया जगह इस श्मशान पर!"<sup>24</sup>

एक पूरा 'इकोसिस्टम' अरुण कमल की कविता का 'पाठ' बनता है। यहाँ किसी एक का वर्चस्व नहीं। इसलिए कवि चिंतित है युद्ध की विभीषिकाओं से, महामारियों की भयानकता से, ग्लोबल वॉर्मिंग के कारण बढ़ते हुए समुद्र जल स्तर और उस पॉलीथीन संस्कृति से भी जिसकी मुट्ठी में बंद है बाजार। 'अपनी पीढ़ी के लिए' कविता में प्रतिरोध व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ है-

"समुद्र में डूबता सबसे प्राचीन बंदरगाह  
और टूट कर गिरता सर्वोच्च शिखर  
सब हमारे लिये  
पॉलीथीन  
थैलियों पर जीवित गौवों का दूध हमारे लिए!"<sup>25</sup>

इस प्रकार समकालीन बनना कविता के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है और समकालीन कविता इस चुनौती का सामना करते हुए समय की अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्तन की दिशा की ओर भी अग्रसर है। यही वह 'पैराडाइम शिफ्ट' है, जहाँ यह कविता मनुष्य केन्द्रित आधुनिकता से मुक्त होती हुई नए प्रतिमानों का निर्माण करते हुए समय व संदर्भ के अनुसार संपूर्ण परिवर्तन-प्रक्रियाओं को रच रही है।

यही कारण है कि जहाँ हिंदी साहित्य और विशेष रूप से कविता में जहाँ प्रकृति का सुंदर से सुंदरतम रूप देखा जा सकता है, वहीं समकालीन कविता में प्रकृति के साथ साथ सम्पूर्ण पारिस्थितिक जगत को बचाने की चिंता मुखर है। यही वह बिंदु है, जहाँ से आज की कविता विनाश के इन भयंकर दृश्यों के कारणों की पड़ताल करती है।

सन्दर्भ :

1. उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, सुधीश पचौरी, वाणी प्रकाशन, तृतीय संस्करण 2005 : 179
2. पर्यावरण प्रकृति और मानव, बी.एल. गर्ग, अभिनव प्रकाशन, अजमेर, प्रथम संस्करण 1996 : 19
3. वही : 19
4. धारती की पुकार, सुंदरलाल बहुगुणा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2007 : 67
5. पर्यावरण प्रकृति और मानव, बी.एल. गर्ग, अभिनव प्रकाशन, अजमेर, प्रथम संस्करण 1996 : 120
6. Putting a New Definition of Eco Criticism to the Test, Camilo Gomides, Interdisciplinary Studies in Literature and Environment : 16
7. संवेद, संपा. किशन कालजयी, अंक 16, अगस्त 2007 : 47
8. ईश्वर की अध्यक्षता में, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2017 : 18
9. रात में हारमोनियम, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2020 : 24
10. मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद, एकांत श्रीवास्तव, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2016 : 15
11. अन्न हैं मेरे शब्द, एकांत श्रीवास्तव, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संस्करण 1994 : 21
12. मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद, एकांत श्रीवास्तव, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2016 : 83
13. कभी के बाद अभी, विनोद कुमार शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2018 : 23
14. उजाड़ में संग्रहालय, चंद्रकांत देवताले, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2003 : 39
15. चाँद की वर्तनी, राजेश जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2019 : 26, 28
16. अपनी केवल धार, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2012 : 22
17. वही : 14
18. सबूत, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीनतम संस्करण 2004 : 82
19. अपनी केवल धार, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2012 : 35
20. सबूत, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीनतम संस्करण 2004 : 76
21. अपनी केवल धार, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2012 : 64
22. नये इलाके में, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010 : 60
23. सबूत, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीनतम संस्करण 2004 : 60
24. पुतली में संसार, अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2013 : 73
25. वही : 45



# जल, जंगल, जमीन और सुंदरलाल बहुगुणा

## ○ रमेशचंद्र सोनी

सुंदरलाल बहुगुणा आज हमारे समक्ष हिमालय के रक्षक, जल संरक्षण एवं वन संरक्षक के रूप में विद्यमान हैं। पर्यावरण संरक्षण आज मानव जाति के लिए सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है। क्योंकि पर्यावरण का विनाश अर्थात् जीवों का विनाश। मानव को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जल, जंगल, जमीन को विनाश से बचाना होगा, यह सुंदरलाल बहुगुणा समझाते थे। उन्होंने इसे बचाने के लिए अपना पूरा जीवन पर्यावरण संरक्षण के लिए लगा दिया। आज विकास के नाम पर जल, जंगल, जमीन का अत्यधिक दोहन किया जा रहा है परंतु मानव को इस बात की तनिक भी चिंता नहीं कि हमारा अस्तित्व इसी से जुड़ा हुआ है।

आज जल संरक्षण के लिए सरकार द्वारा बहुत सी योजनाओं को क्रियान्वित किया जा रहा है, परंतु सकारात्मक परिणाम कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो रहा है। कारण यह है कि मनुष्य जल के संकट को गंभीरता से नहीं ले रहा है। पर्यावरणविदों ने हमेशा जल के संकट से उत्पन्न चिंता को व्यक्त किया है क्योंकि यदि मानव अस्तित्व के मूल को माने तो यह 'जल' ही है। सुंदरलाल बहुगुणा जल संकट को अच्छी तरह से समझते थे।...

“अभी तो पानी की गुणवत्ता के बारे में बहुत कम लोगों को चिंता है लेकिन तेजी से होने वाली विश्वव्यापी पानी की कमी अवश्य ही यह गंभीर चिंता का विषय बन गया है। विश्व की ज्वलंत समस्याओं पर प्रामाणिक अध्ययन करने वाली संस्था विश्व चौकशी संस्थान के अध्ययन के अनुसार इस शताब्दी के अंत में दुनिया में सन 1983 के मुकाबले प्रति व्यक्ति सतही जल की आपूर्ति में 24% की कमी आ जाएगी। यह कमी उत्तरी गोलार्द्ध के देशों में जिसमें यूरोप और अमेरिका आदि धनी देश आते हैं कम होगी; लेकिन दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों में, जिसमें अफ्रीका एशिया और दक्षिणी अमेरिका आते हैं बहुत अधिक होगी। यहाँ तक कि कीनिया में 50% तक कमी हो जाएगी। भारत में विश्व औसत के बराबर ही यानी 24% होगी।”

यह संदर्भ आज से लगभग 4 दशक पुराना है, परंतु आज यह सवाल और अधिक विचारणीय है। भारत की यदि बात करें तो दिल्ली, जो देश की राजधानी होते हुए भी, पानी के संकट से जूझ रही है। जनता मिनरल वाटर पर निर्भर होती जा रही है। दिल्ली के आसपास के राज्यों में जल का स्तर गिरता जा रहा है। पूर्वी राज्यों में देखें तो जल में ज्यादा मात्रा में आर्सेनिक निकल रहा है जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अत्यंत खतरनाक है। जल का स्तर गिरने तथा विषाक्त हो जाने का प्रमुख कारण है वर्षा की कमी। विकास के नाम पर प्राकृतिक जल स्रोतों का हास तथा पेड़-पौधों, जीव जंतुओं का विनाश कर देना पारिस्थितिकी तंत्र में

परिवर्तन हो गया जिससे वर्षा की कमी होती जा रही है, नदियों का जल सूख रहा है। दिन प्रतिदिन पानी की कमी होती जा रही है परंतु हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं। बहुगुणा कहते हैं, “सन 1940 से 1980 के बीच विश्व में कुल पानी के उपयोग में चौगुनी वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति उपयोग में लगभग 75% की वृद्धि हुई है। अमेरिका जैसे धनी देशों में प्रति व्यक्ति 1 दिन में 7200 लीटर पानी निकाला जाता है। जबकि भारत में यह 1500 लीटर है। अमेरिका में पानी का मुख्य उपयोग उद्योगों के लिए है जो 57% तक है। भारत में कृषि के लिए 92% उद्योगों के लिए 2% और घरेलू आवश्यकताओं के लिए 6% था।”<sup>2</sup>

वनो के संरक्षण के लिए सुंदरलाल बहुगुणा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। वन संरक्षण के लिए चला चर्चित चिपको आंदोलन के अग्रदूत बहुगुणा जी ही थे। चिपको आंदोलन पर्यावरण संरक्षण के लिए ऐतिहासिक आंदोलन था। उत्तराखंड के चमोली जिले में वनों में बहुमूल्य अंगू वृक्षों की नीलामी की घोषणा होने के बाद वहाँ के निवासियों ने इन वृक्षों को बचाने के लिए कमर कसी थी। सुंदरलाल बहुगुणा के साथ चंडी प्रसाद भट्ट सरला बहन कुंवर प्रसून आनंद बिष्ट और प्रताप शिखर आदि लोग भी थे। सुंदरलाल बहुगुणा तथा चमोली के निवासियों ने अंगूर वृक्षों को न काटने देने की कसम खाई। इन लोगों ने 2 मई, 1973 को उत्तराखंड सर्वोदय मंडल का गठन किया। यह मंडल हमेशा सक्रिय रहा। सुंदरलाल बहुगुणा का जीवन घुमक्कड़ प्रवृत्ति का बन गया था। वह अपनी पीठ पर हमेशा एक झोला रखते थे। उसमें उनकी आवश्यक सामग्री, जैसे लिखने पढ़ने के लिए किताबें, डायरी, फोटो खींचने के लिए कैमरा, आवाज को रिकॉर्ड करने के लिए टेप रिकॉर्डर था। वे गांव-गांव पैदल यात्रा करते रहे और लोगों को प्रकृति तथा पर्यावरण को बचाने की जानकारी देते रहे। ‘उत्तराखंड सर्वोदय मंडल’ की बैठक में उन्होंने निश्चय किया था, “उत्तराखंड में गांव-गांव जाकर जनता को बताऊंगा; सर्वोदय मंडल के प्रस्ताव के बारे में, वनों की उपज में उनके अधिकारों (हक हकूको) के संबंध में और वनों की दुर्दशा के बारे में।”<sup>3</sup>

सुंदरलाल बहुगुणा ने आंदोलन में सर्वोदय की भावना से संपूर्ण कल्याण की भावना से संगठन का निर्माण किया। उनके इसी भावना से प्रभावित होकर विद्यालयों और कालेजों के नौजवान छात्रों ने भी उनका साथ दिया। आंदोलन के प्रचार प्रसार के दौरान वे सारे उत्तराखंड में 100 दिन लंबी पदयात्रा करते रहे तथा वन नीति के बारे में अपना ये विचार देते रहे कि “हिमालय में सभी प्रकार के वनों को संरक्षित घोषित किया जाना चाहिए। हरे वृक्षों की कटान पर प्रतिबंध लगे। गांव के आसपास ऐसे बागान विकसित किए जाएं जिसमें फल देने वाले, अन्न देने वाले और चारा देने वाले पेड़ हों। वन के कार्यकलापों में स्थानीय निवासियों की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए और वन के उत्पादों का एक अंश स्थानीय निवासियों को दैनंदिन घरेलू उपयोग के लिए बेरोक-टोक मिलना चाहिए। स्थानीय निवासी ही वनों के वास्तविक रक्षक तथा संरक्षक हैं। अतः अतीत से मिलते रहे अधिकारों से उन्हें कदापि वंचित न किया जाए। प्राकृतिक संपदा का उपयोग भी ऐसा हो कि उन पर निर्भर लोग अपने आर्थिक मामलों में आत्मनिर्भर हो जाएं। किसी भी दशा में प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध या अनियंत्रित दोहन ना होने दिया जाए। प्राकृतिक संसाधन ही नहीं प्राकृतिक परिदृश्य भूदृश्य भी सुरक्षित रखे जाएं ताकि स्थानीय लोगों सहित आगंतुक पर्यटक भी नैसर्गिक सौंदर्य का आनंद ले सकें। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सांस्कृतिक विकास के बिना भौतिक विकास संभव नहीं है।”<sup>4</sup>

उपर्युक्त कथन को देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि बहुगुणा जी में सरलता और कल्याण की भावना कितनी प्रखर थी। इसी भावना के कारण इन्हें हिमालय का रक्षक कहा जाने लगा था।

सुंदरलाल बहुगुणा गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित व्यक्ति थे। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा तत्पर रहते थे। उनमें किसी भी प्रकार का दिखावा नहीं था। मनुष्य जीवन के बारे में बहुगुणा जी का मानना था.... “यह ना भूलो की सार्वजनिक जीवन में तीन बातों पर विशेष ध्यान रखना होता है; नंबर 1. धन का सदुपयोग, नंबर 2. नशे पर पाबंदी, नंबर 3. चरित्र की मजबूती।”<sup>5</sup>

उपवास रखना उनके लिए पूजा के समान था। वे मानते थे... “जब उपवास करते हैं तो यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में भगवान वास करते हैं। उपवास में हृदय में बसे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उस व्यक्ति को यह एहसास करवा दें कि वह गलती कर रहा है। उपवास का आशय तो हृदय परिवर्तन करवाना है किसी को हराना नहीं हटाना नहीं”<sup>6</sup>

एक स्थान पर सुंदरलाल बहुगुणा ने पुनः कहा कि, “उपवास के द्वारा मैं सरकार से, ठेकेदारों से और मजदूरों से अपील करता हूँ कि वनों से मिलने वाले लाभों को जानो और उन लाभों से वंचित लोगों की पीड़ा को समझो। वनों के विनाश से हो रहे दुष्परिणाम पर भी ध्यान दो।”<sup>7</sup>

चिपको आंदोलन से ही सुंदर लाल बहुगुणा को अपनी पहचान मिली। पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में चिपको आंदोलन का महत्वपूर्ण स्थान है। सुंदरलाल बहुगुणा का परिश्रम आज भी लोगों को पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए प्रेरित करता है। चिपको आंदोलन के विषय में पी.ए. उत्तम ने कहा है कि “जिस हवा में हम सांस ले रहे हैं, जो पानी हम पी रहे हैं, जो खाना हम खा रहे हैं, उनके लिए हम चिपको आंदोलनकारियों के अनुगृहीत हैं। इस आंदोलन में महिलाओं की प्रधान भूमिका रही। पहाड़ की अनपढ़ स्त्रियों ने सरकार की नीतियों को चुनौती देकर बड़ी सरल भाषा में पर्यावरण का सत्य परिभाषित कर दिया। इस सत्य के संदेश को देश-विदेश के कोने कोने में पहुंचाया सुंदरलाल बहुगुणा ने। यही नहीं, सुंदरलाल ने सार्वभौम-सार्वत्रिक संघर्ष की प्रकृति-प्रवृत्ति भी परिभाषित की।”<sup>8</sup>

सुंदरलाल बहुगुणा ने चिपको आंदोलन के बाद टिहरी बांध निर्माण के विरोध में भी सत्याग्रह किया था। टिहरी बांध के निर्माण से हजारों हेक्टेयर जमीन जलमग्न होने की संभावना थी। बहुगुणा जी का मानना था गंगा हमारी माता के समान है, गंगा ने ही हमें पाला-पोसा है। बांध के बन जाने से वह संस्कृति बच नहीं सकती है। बहुगुणा अपनी मिट्टी और धरती को बचाना चाहते हैं। इसके साथ उनको आने वाली पीढ़ियों के प्रति अपने दायित्व का भी ज्ञान है। अपनी धरती को बचाने के लिए इन्होंने घूमना शुरू किया। वे लोगों से मिलते, उनको धरती की उपयोगिता से रू-ब-रू कराते तथा बांध से भविष्य में होने वाले खतरे से भी आगाह करते। एक व्याख्यान में बहुगुणा बताते हैं... “टिहरी नगर के पास पुल से जरा नीचे 260 मीटर ऊंचा बांध बनेगा तो साढ़े 42 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में एकत्र 32 करोड़ घनमीटर पानी के नीचे 52000 हेक्टेयर जमीन डूब जाएगी। यह सब होगा हमारी गंगा के परिवार में। उधर मैदान के बड़े शहरों को मिलेगी 2400 किलो वाट बिजली और मिलेगा प्रचुर मात्रा में पानी उनके धान और गन्ने के 2,70,000 हेक्टेयर खेतों को सींचने के लिए। भागीरथी अंचल के लोगों को न तो बिजली मिलेगी न पानी क्योंकि परियोजना में इसका उल्लेख नहीं है। उत्तराखंड के खेतों की प्यास बुझाने का कोई प्रावधान ही नहीं है। प्रावधान है तो केवल मैदान के सुसिंचित भागों की बढ़ी हुई लगातार बढ़ती हुई मांगों को पूरा करने का। और महानगरों के अमीरों रसूलदारों और जुगाडू लोगों के स्विमिंग पुलों, गुसलखानों, आंगन के बगीचों में जान डालने के लिए अतिरिक्त पानी का। लेकिन नहीं भागीरथी घाटी के लोगों को भी बहुत कुछ मिलेगा 70000 से लेकर 1 लाख लोगों को निर्वासन मिलेगा, कृषि कार्य से हमेशा के लिए छुट्टी मिल जाएगी और मिलेगी भटकाव की जिंदगी

जरा सोचिए कैसा हो जाएगा हमारी भोली भाली ललनाओं का जीवन जो पहाड़ों में जंगल की रानी की भांति स्वतंत्र जिंदगी जीती हैं। बांध के पीछे बने सरोवर को घेरे गांव के लोग जब जी लेंगे भूस्खलन और भूक्षरण की विभीषिका, भूकंप भी तो उठते रहेंगे।”<sup>9</sup>

उपर्युक्त कथन में बहुगुणा ने सरकार पर तीखा व्यंग्य किया है। सरकार मैदानों में रहने वाले नागरिकों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए भागीरथी घाटी के निवासियों का गला घोट रही है। सरकार विकास के नाम पर ऐसे निर्माण कार्य कर रही है जो भविष्य के लिए चुनौती बन रही है। विकास के नाम पर पर्यावरण का विनाश आज आम लोगों का होता जा रहा है। हमारे पर्यावरणए जीव-जंतुओं, पेड़-पौधे, नदियां, झीलें आज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कराह रही हैं परंतु मनुष्य अपनी लिप्सा के कारण उनकी उपयोगिता समझकर नजरअंदाज कर रहा है। बेहतर जीवन जीना है तथा अपने भविष्य की पीढ़ियों को एक अच्छा तथा खूबसूरत जीवन देना है तो मनुष्य को पर्यावरण के विनाश को रोकना होगा। जल, जंगल, जमीन की रक्षा करनी होगी। शायद यही सुंदरलाल बहुगुणा को सच्ची श्रद्धांजलि साबित हो सकती है।

संदर्भ :

1. धरती की पुकार, सुंदरलाल बहुगुणा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जी 17, जगतपुरी दिल्ली, पाचवां संस्करण, 2019 : 24
2. वही : 25
3. हिमालय में महात्मा गांधी के सिपाही सुंदरलाल बहुगुणा, खड़क सिंह वल्दिया, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, एन -77, कर्नॉट सर्कस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017 : 91
4. वही : 94
5. वही : 114
6. वही : 114
7. वही : 115
8. Uttaman P.K. (Ed.) 2009. The Road to Survival. Mathrubhumi Books. Kozhikode : 167
9. संकट में हिमालय परिवार, खड़क सिंह वल्दिया, 1994, नैनीताल : 36



## पेड़-पौधे, रीति-रिवाज़ और पर्यावरण संरक्षण

○ सुधा पांडेय

वैदिक काल से ही हमारे यहाँ तीज-त्योहारों की पुनीत परंपरा रही है। इन पर्वों की पृष्ठभूमि से जुड़ी धार्मिक-ऐतिहासिक भावनाएँ भी काफी महत्व की होती हैं जो जनमानस को सत्य-पक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती हैं। चाहे होली हो या दीपावली, विजयादशमी हो या रक्षा-बंधन, ईद हो या मधु-श्रावणी, गुरु पूर्णिमा हो या बैसाखी, छठ इत्यादि सभी हमारे मन-मानस में एक अटूट सांस्कृतिक विश्वास व चेतना संचारित करते हैं।

भारत अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिए सदियों से संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है जिसकी सभ्यता के आधार पर वह सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र माना जाता रहा है। शुरू से ही यहाँ परम्पराओं, रीति-रिवाज़ों, तीज-त्योहारों में पेड़-पौधों तथा अन्य जीवों को विशिष्ट स्थान मिला है।

विश्व के वैज्ञानिकों एवं पर्यावरणविदों का ध्यान प्राकृतिक संतुलन, प्रदूषण एवं वन्य प्राणियों के संरक्षण की ओर इस सदी में गया है पर निश्चित रूप से भारत उन प्राचीनतम क्षेत्रों में से है जहाँ लोक परम्पराओं तथा रीति-रिवाज़ों में पेड़-पौधों तथा विभिन्न जीव-जंतुओं को महत्वपूर्ण स्थान देकर प्रकृति के संतुलन पर सदियों से विशेष बल प्रदान किया गया है।

हमारे ऋषियों ने भी जिन रीति-रिवाज़ों, मान्यताओं को जीवन में अधिक उपयोगी देखा, मानव जीवन के लिए लाभकारी समझा, उस ओर संपूर्ण जन समुदाय का ध्यान आकर्षित करते हुए उसे धर्म का स्वरूप प्रदान किया। इसके पीछे उनका मूल उद्देश्य यह था कि हमारे मानव समुदाय को पीढ़ीगत लाभ मिलता रहे। इन सूत्रों का प्रत्यक्ष लाभ जन-धन, गोधन, वन-धन के रूप में देखने को मिलता है।

हमारे समाज में आज भी गोधन पूजन से लेकर वृक्ष पूजा तक की परंपरा विद्यमान है। पारिवारिक व सामाजिक त्योहार एवं उत्सवों में तुलसी, आम, नारियल, पीपल, बेल, शमी, नीम, वट वृक्षों की बड़े आदर के साथ पूजा की जाती है। आँवला, पलाश को भी संस्कारों से जोड़ा गया है। इन वृक्षों को काटने या तोड़ने से मना किया जाता है। वैदिक ग्रंथों में वृक्षों की महत्ता को प्रकट करते हुए इन्हें देवी-देवताओं का निवास स्थान बताया गया है। इनकी सहायता से पूजन की प्रक्रिया निर्धारित की गयी है। इनको रोपने व इनके प्रति आदर प्रकट करने की व्यवस्था की गयी है। पीपल के सन्दर्भ में ऐसी भावना व्यक्त की गयी है,

“मूलं ब्रह्मा त्वचा विष्णुः शाखा रुद्र महेश्वरः

पत्रे-पत्रे तु देवानां वृक्षराज नमोस्तुते”

इसका प्रभाव आज भी हमारे समाज में व्याप्त है। पेड़-पौधों को न काटने व न जलाने की परम्परा है।

पेड़-पौधों तथा जंतुओं ने भारत के सामाजिक जीवन और लोकाचार को व्यापक रूप प्रभावित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के पूर्वज एवं पूर्व निवासी, ग्रामीण विकास व प्राकृतिक संतुलन पेड़-पौधों तथा जंतुओं के महत्त्व से परिचित थे। विभिन्न पर्वों व तीज-त्योहारों तथा रीति-रिवाजों का गहराई से अध्ययन करने पर इस तथ्य की पूर्ति भी हो जाती है। सामान्य जीवन से लेकर शादी-विवाह तथा तीज-त्योहारों में फल-फूल, धान-धूप, बाँस-कुश, आम-बेल, तुलसी आदि तथा विभिन्न जीव-जंतुओं के चित्रों का प्रयोग काफी संख्या में किया जाता है। नाग पंचमी जैसे त्योहार में साँप-बिच्छू व जहरीले कीट-पतंगों की पूजा की जाती है। इसके पीछे का उद्देश्य यह है कि वर्षा ऋतु में पानी का स्तर बढ़ जाता है। बिल में व कीट-पतंगों के रहने के स्थान में पानी भर जाने से वह निकलकर इधर-उधर विचरण करते हैं जिससे जन-जीवन प्रभावित होने लगता है। उनके विनाशकारी प्रभाव को कम करने के लिए धार्मिकता से शंकर भगवान से जोड़ते हुए पूजा का विधान है। यह सब धार्मिक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लाभकारी व उपयोगी है। छठ पूजा बाँस, गन्ना, हल्दी, मूली इत्यादि के बिना नहीं संपन्न होती है। आदिवासी व जन-जाति क्षेत्रों में पेड़-पौधों का महत्त्व अधिक है। सामान्य जीवन व त्योहारों व परम्पराओं में पेड़-पौधों, फल-फूल, लकड़ी को भाग्य के साथ जोड़कर त्योहार मनाते हैं। फूलों के त्योहार की तरह सरहुल और करमा पर्व मनाया जाता है। समाज में प्रचलित मान्यताओं में अनेक पेड़ों का सम्बन्ध देवी-देवताओं से जोड़ा जाता है। इतना ही नहीं प्राचीन शास्त्रों में पेड़-पौधों में भी जीवन का संचरण पाया जाता है। पीपल, बरगद, आँवला, कदंब, अशोक, तुलसी व कुश आदि पेड़ों को धार्मिक आस्था से जोड़कर उसके संरक्षण तथा संवर्धन पर बल दिया जाता है। इसी प्रकार लगभग 15 ऐसे पौधे हैं जिनका विभिन्न प्रतीकों के लिए प्रयोग किया जाता है। बिहार की मधुबनी पेंटिंग में इनका प्रयोग किया जाता है। जैसे, सुखी वैवाहिक जीवन के लिए कदंब और आम, सुख-समृद्धि के लिए धान, संपत्ति के लिए अनार, देवी-देवताओं के प्रति आस्था के लिए मखाना, पूर्वजों के प्रति श्रद्धा के लिए कटहल, भगवान शिव के लिए बेल व रुद्राक्ष आदि का प्रयोग कर पौधों के प्रति आस्था प्रकट की जाती है और इससे पौधों का महत्त्व स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध त्योहार मकर संक्रांति के दिन हर घर में तिल का व्यापक प्रयोग किया जाता है। इसके पीछे की लोक मान्यता है कि तिल उनके समस्त पापों से मुक्ति दिलाता है। मरणोपरांत होने वाला श्राद्ध कर्म भी तिल के द्वारा ही सम्पादित होता है।

हमारे रीति-रिवाजों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखनेवाला एक और पौधा है मखाना। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त अद्भुत उपहार है। पंचमेवा में मखाने का उपयोग होता है। मिथिलांचल क्षेत्र में किसी भी धार्मिक व सामाजिक समारोह अनुष्ठान व तीज-त्योहार में मखाने का प्रयोग किया जाता है। कमल का फूल भी विष्णु को प्रिय है। इसे समृद्धि व देवत्व का प्रतीक माना जाता है।

हमारी विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों तथा रीति-रिवाजों का पान-सुपारी के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है। इसके बारे में मान्यता है कि बिना पान-सुपारी के किसी भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्सव की कल्पना नहीं की जा सकती है। सामूहिक उत्सवों का समापन भी आगंतुकों को पान-सुपारी के अर्पण के साथ ही होता है। सभी धार्मिक संस्कारों में पान-सुपारी, लौंग-इलायची का महत्त्व वर्णित है।

इसी प्रकार यज्ञ की आहुति में अनाज, पेड़ों की लकड़ियों (आम) का उपयोग किया जाता है। अकवन, खैर, गूलर, चिड़चिड़ी, शमी आदि। इस प्रकार हम पाते हैं कि केला, नारियल, ईख, हल्दी, अदरक, शकरकंद, बाँस, आम की पत्ती व लकड़ी इत्यादि का महत्त्व है। विभिन्न तीज-त्योहारों तथा रीति-रिवाजों

में विभिन्न पेड़-पौधों का महत्व स्थापित करके न केवल उनके औषधीय गुणों से लाभ उठाया जाता है बल्कि उनके संरक्षण की भावना भी अन्तर्निहित रहती है। साथ ही दुर्लभ प्रजाति के पेड़-पौधों के संरक्षण-संवर्धन के लिए लोगों को प्रेरित किया गया है।

आज हमारे समाज में पर्यावरण प्रदूषण की चर्चा जोरों पर है किन्तु पूर्वकाल से ही हमारा देश जैव विविधता के मामले में धनी माना जाता है, लेकिन वृक्षों की अंधाधुंध कटाई, वन्य जंतुओं का शिकार तथा जनसंख्या वृद्धि के कारण वर्तमान में प्रकृति का दोहन रोकना अनिवार्य है।

अतः हम कह सकते हैं कि हमारे पूर्वजों ने रक्षा और इनके संवर्द्धन का पूरा ध्यान रखा। हमारे महाकाव्यों, पुराणों, उपनिषदों की रचना भी ऋषियों ने इन्हीं वृक्षों की छाया में बैठकर की है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि अपनी संस्कृति तथा पर्यावरण को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए नित नये पौधे लगाएँ व वृक्षों से अपने को निकट बनाएँ। प्रकृति और पर्यावरण की सुरक्षा हमारी संस्कृति और राष्ट्र दोनों की सुरक्षा है। आज के समय में तीज-त्योहार, रीति-रिवाज, धार्मिक अनुष्ठान मॉडर्न ढंग से मनाए जाने के कारण हम पौधों से दूर होते जा रहे हैं। अपनी संस्कृति-सभ्यता का अक्षरशः पालन यदि हम करते हैं तो पर्यावरण संरक्षण के प्रति हमारी ईमानदार सोच वही होगी जो वेदों में वर्णित है-

“ ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः

पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः

सर्वं शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥”

तथा,

“ यतो यतः समीहसे तातो नो अभयं कुरु।

शं नः कुरु प्रजायोऽभयं नः पशुभयः ॥”

इस प्रकार पेड़-पौधों से रीति-रिवाज, तीज-त्योहार के सम्बन्ध पर्यावरण संरक्षण के लिए ही बनाए गए हैं।



## आचार्य रामचंद्र शुक्ल और छायावाद

○ नवनीत कुमार राय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रायः छायावाद के विरोधी समझे जाते हैं। उनके प्रति हिंदी साहित्य के पाठकों की आम धारणा है कि उन्होंने छायावाद के वास्तविक महत्व को देर से समझा और जब समझा तब तक काफी देर हो चुकी थी। हिन्दी आलोचना में उनके प्रति एक प्रकार का नकार भाव रहा है। खासकर छायावाद के प्रति उनके विचारों को लेकर। लेकिन इसमें कितनी सचाई है, इसका एक जायजा लेना जरूरी है। यह जरूरी तब और हो जाता है जब हम छायावादी कवियों के आलोचनात्मक लेखन को समझने की कोशिश करते हैं। छायावादी कवियों, खासकर जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा, की आलोचना शुक्ल जी से सहमति और असहमति के बीच विकसित होती है। एक आलोचक अपनी समसामयिक रचनाशीलता को किस रूप में व्याख्यायित-विश्लेषित करता है तथा उसके संबंध में उसके क्या विचार हैं और छायावादी कवि किस प्रकार अपनी रचनाशीलता का बचाव करते हैं, यह उस दौर की आलोचना का एक बेहद दिलचस्प पहलू है। एक तरफ अगर कवि-हृदय सम्पन्न आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं तो दूसरी तरफ हैं अपनी रचनाशीलता का बचाव और उसके प्रति सही समझ विकसित करने की कोशिश करते हुए आलोचकीय प्रतिभा-युक्त छायावादी कवि।

शुक्ल जी के छायावाद सम्बन्धी विचारों का पता उनके साहित्येतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में छायावाद पर व्यक्त किए गए विचार तथा रहस्यवाद पर लिखे उनके महत्वपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध 'काव्य में रहस्यवाद' पढ़ने से चलता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रहस्यवाद सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में यह समझना बेहद जरूरी है कि वे रहस्यवाद के किस रूप के विरोधी हैं। उल्लेखनीय है कि 'वाद' के रूप में उन्होंने रहस्यवाद का सदा विरोध किया लेकिन स्वाभाविक रहस्यभावना का हमेशा समर्थन भी किया। हृदय में स्वाभाविक रूप से रहस्य की भावना का जगना दूसरी बात है और 'वाद' के रूप में उसका प्रचार करना अलग बात। शुक्लजी ने पहले रूप का विरोध नहीं किया है लेकिन जहाँ भी उसे दूसरे रूप में पाया है उसका बराबर प्रतिवाद किया और उसे काव्य की प्रकृत भूमि से बाहर की चीज माना है। यह कहकर उन्होंने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया है कि, "हिन्दी काव्य-क्षेत्र में हम 'रहस्यवाद' की भी एक शाखा चलने के विरोधी कभी नहीं हैं। हमारा कहना केवल यही है कि वह वाद के रूप में न चले, स्वाभाविक रहस्यभावना का आश्रय लेकर चले"। शुक्ल जी स्वाभाविक रहस्य भावना का महत्व स्वीकार करते हुए आगे लिखते हैं, "स्वाभाविक रहस्य भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें संदेह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम

स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (मूड) मानते हैं, जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी 'वाद' के साथ संबद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं<sup>12</sup> काव्य के विषय-वस्तु के सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट मान्यता है कि 'वह तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध, लोकस्वीकृत और ठीक ठिकाने का होना चाहिए।' काव्य सम्बन्धी अपनी इसी मान्यता को आधार बनाकर उन्होंने रहस्यवाद का विरोध किया। उन्होंने कबीर की उन उक्तियों को शुद्ध काव्य के अंतर्गत नहीं माना जिनमें अन्योक्ति पद्धति का सहारा लेकर विकारों, भूतों, इन्द्रियों, चक्रों, नाड़ियों इत्यादि का निरूपण किया गया है जबकि शुक्ल जी की दृष्टि में, 'उनकी वो अन्योक्तियाँ या अध्यवसान जो प्रहेलिका के रूप में नहीं हैं और वादमुक्त हैं वे शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकती हैं।' ये वो मर्मस्पर्शिणी उक्तियाँ हैं जो लोकमत या अनुभवसिद्ध तथ्यों को सामने रखती हैं न कि किसी निरूपित सिद्धान्त का वास्तव में घटित तथ्य के रूप में चित्रण करती हैं। इसलिए शुक्ल जी वादग्रस्त रहस्य भावना के विरोधी और वादमुक्त रहस्यवाद जिसे वे सच्ची रहस्यभावना मानते हैं, के पक्षधर हैं। यूरोपीय रहस्यवादी कवि अंबरक्रांते हों या भारतीय कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, उनकी उन रहस्यवादी कविताओं की शुक्ल जी ने प्रशंसा की है जो लोकमत तथा अनुभवसिद्ध तथ्यों को सामने रखती हैं। साथ ही वर्ड्सवर्थ, शेली, कॉलरिज की भी प्रशंसा की है जो रहस्य को 'वाद' के रूप में लेकर नहीं चले हैं अपितु उन्होंने सच्ची स्वाभाविक रहस्यभावना की व्यंजना की है। स्पष्ट है कि रहस्यवाद शुक्ल जी को इसी रूप में स्वीकार्य है।

रहस्यवाद का सम्बन्ध अव्यक्त तथा अज्ञात सत्ता से है। अज्ञात की जिज्ञासा से ही रहस्य की भावना का जन्म होता है। शुक्ल जी ने अज्ञात की लालसा या प्रेम का प्रश्न उठाया है। वे बताते हैं कि 'अज्ञात की जिज्ञासा का ही अर्थ होता है, उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं।' भारतीय दृष्टि का हवाला देते हुए वे लिखते हैं, "भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं। जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रतिभाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य की अभिलाषा यही भारतीय पद्धति है"<sup>13</sup>

शुक्ल जी ने परिचय को प्रेम के लिए आवश्यक माना है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यही कारण है कि वे अज्ञात के प्रति प्रेम की सत्ता स्वीकार नहीं करते। दूसरी बात यह है कि शुक्ल जी व्यक्त और अव्यक्त में वास्तविक भेद नहीं मानते। उनके अनुसार व्यक्त और अव्यक्त में कोई वास्तविक या पारमार्थिक भेद नहीं बल्कि ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं जो और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अव्यक्त, अगोचर वही है जहाँ तक हमारे ज्ञान की पहुँच नहीं है। जहाँ तक हमारे ज्ञान का प्रसार है वह व्यक्त और गोचर है। शुक्ल जी ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार मानते हैं। उन्होंने कविता को गोचर जगत की अभिव्यक्ति माना है तथा जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति। "कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले गोचर जगत से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत भी अभिव्यक्ति है और काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है"<sup>14</sup> शुक्ल जी के अनुसार भारतीय काव्यदृष्टि इसी गोचर अभिव्यक्ति को लेकर बराबर चलती रही है और यही उसकी प्रकृत भूमि है। तुलसीदास पर लिखते समय शुक्ल जी ने वास्तविकता के उद्घाटन को भारतीय काव्य परम्परा की प्रमुख विशेषता बतलाया है। सिद्धों और नाथों की

रचनाओं की उन्होंने इसलिए आलोचना की तथा उन्हें शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं माना क्योंकि उनका जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं था। वादयुक्त कविता के खतरे क्या हैं, इसे शुक्ल जी भली-भांति समझ चुके थे। इसलिए भारत के संदर्भ में हो या पश्चिम के उन्होंने हमेशा इसका विरोध किया। वाद या सिद्धान्त के रूप में कही गई बातों के निरूपण के लिए कविता को माध्यम बनाए जाने को उन्होंने सच्चे कवि का काम नहीं माना है। उनका कहना है, “वाद या सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते, मतवादी का काम मानते हैं”<sup>5</sup>

शुक्ल जी ने ‘छायावाद’ का अर्थ दो रूपों में ग्रहण किया है। एक रहस्यवाद के अर्थ में तथा दूसरा काव्य-शैली के व्यापक अर्थ में। ‘छायावाद या रहस्यवाद’ पदबन्ध का प्रयोग उन्होंने जगह-जगह किया है। रहस्यवाद के रूप में उन्होंने जो अर्थ लिया है उसका संबंध काव्यवस्तु से है। “रहस्यवाद’ या ‘छायावाद’ काव्यवस्तु (मैटर) से संबंध रखता है। इसके अंतर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो”<sup>6</sup> नवीन विशेषताओं से युक्त रचनाओं, जिन्हें हिन्दी में छायावाद कहा जाने लगा, के संदर्भ में शुक्ल जी का मानना था कि हिन्दी में इनका चलन बँगला की नकल पर हुआ। इनका संबंध उन्होंने ईसाई संतों की समाधि दशा में पहुँचने के उपरान्त भासित आध्यात्मिक ज्ञान से जोड़ा जिसे यूरोप में ‘छाया’ या ‘फैंटसमाटा’ कहते थे। “रहस्यवाद के अंतर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उसी वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को ‘योरप’ में ‘छाया’(फैंटसमाटा) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ”<sup>7</sup>

शुक्ल जी के लिए छायावाद का एक अर्थ रहस्यवाद है। यह ऊपर कहा जा चुका है। उन्होंने इस रूप में उसका मुखर विरोध किया। शुक्ल जी साहित्य में ‘वादों’ का बाहर से आना ठीक नहीं समझते थे। काव्य क्षेत्र में ‘वादों’ का प्रवेश आधुनिक युग की परिघटना है। यह पश्चिमी साहित्य मीमांसकों की देन है। व्यक्तिवाद, कलावाद, प्रतीकवाद, संवेदनावाद, रहस्यवाद आदि तमाम पश्चिमी ‘वादों’ का उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से निरंतर विरोध किया। पश्चिम के इन साहित्यिक वादों ने कविता की प्रकृत भूमि को कितनी हानि पहुँचायी, इसे अच्छी तरह समझकर ही उन्होंने अपना सिद्धांत स्थिर किया था कि, “काव्यक्षेत्र में ‘वादों’ का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिन में लोग कविता न लिखकर ‘वाद’ लिखने लगते हैं।”<sup>8</sup> काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद के मूल उत्स का पता लगाते हुए शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसका चलन-पहले पहल पैगम्बरी मतों में हुआ। “यह समझ लेना चाहिए कि काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही फारस, अरब और यूरोप में हुई जहाँ पैगम्बरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा-बँधा ऊब रहा था।”<sup>9</sup> शुक्ल जी रहस्यवाद को काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं मानते। उन्होंने उसे साम्प्रदायिक वस्तु माना है। रहस्यवाद के विरोध का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उसे शुक्ल जी भारतीय काव्य-पद्धति के बाहर की चीज मानते हैं।

जहाँ तक काव्य-शैली के व्यापक अर्थ की बात है वहाँ शुक्ल जी को छायावादी कवियों से बहुत उम्मीदें हैं। इस रूप में उन्होंने छायावाद की प्रशंसा की। “छायावाद के अंतर्गत बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी

हुई हैं जिसमें 'अभिव्यंजनावाद' के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुन्दर लाक्षणिक चमत्कार स्थान-स्थान पर मिलता है। भावना का बहुत ही साहसपूर्ण संचालन, मूर्तिमत्ता का बहुत ही आकर्षक विधान और व्यंजना की पूरी प्रगल्भता पायी जाती है। ऐसी रचना करनेवाले कवियों से आगे चलकर बहुत कुछ आशा है"<sup>10</sup>

आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य के आधार पर अप्रस्तुत की योजना को उन्होंने छायावाद की बड़ी विशेषता मानी है। "छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभावसाम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। आभ्यन्तर प्रभावसाम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्यशैली की असली विशेषता है"<sup>11</sup>

संदर्भ :

1. चिन्तामणि, भाग-दो, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, संपा- पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 121
2. वही : 104
3. वही : 65
4. वही : 43
5. वही : 56
6. वही : 118
7. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल : 362
8. रसमीमांसा : 190
9. चिन्तामणि, भाग-दो, आचार्य रामचंद्र शुक्ल : 99
10. वही : 118
11. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल : 369



## ‘एक ब्रेक के बाद’ : पूँजीवादी दौर की नवीन परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ

### ○ आलोक सुमन दूवे

औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात विकसित देशों की आशा, आकांक्षा एवं आवश्यकतानुरूप पूँजीवादी व्यवस्था ने जो नया कलेवर धारण किया वह भूमंडलीकरण है। भूमंडलीकरण वस्तुतः पूँजीवाद का ही नया संस्कारण है। भूमंडलीकरण के अपने सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्ष हैं। इस नव साम्राज्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था ने दुनिया को एक बनाने की जुगत में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्तरों पर आक्रामक हस्तक्षेप किया है। सामाजिक संरचना एवं मानवीय संवेदना का ऐसा कोई स्तर नहीं है जो इससे प्रभावित न हो। 21वीं सदी के उपन्यासों को पढ़ते हुए यह अनुभव हुआ कि पूँजीवादी व्यवस्था से उपजी संस्कृति पूरक होने के बजाय प्रतिस्पर्धात्मक है। यह विचार, सूचना और विज्ञान का वैश्वीकरण नहीं है और न ही यह क्षमा, करुणा, दया, अहिंसा, संवेदना, मैत्री और शांति के पक्ष में है। इस पूँजीवादी व्यवस्था के कई आयाम हैं जिसमें उपभोक्तावादी संस्कृति, बाजारवाद, निजीकरण एवं तकनीकी विकास आदि प्रमुख हैं। हमारे समय और समाज के सभी स्तरों को गहरे प्रभावित करनेवाली इस व्यवस्था पर सावधानीपूर्वक विचार किया जाना आवश्यक है।

भूमंडलीकरण के पश्चात भारत की नई पहचान एक ऐसे उपभोक्तावादी समाज के रूप में हो रही है जहाँ उपभोक्ता का संबंध केवल उसकी आवश्यकता एवं संतुष्टि से नहीं रह गया है, यह व्यक्ति के पहचान से भी संबंधित हो गया है। इसे पैसा कमाने वाले यंत्र (आर्थिक मनुष्य) कि बेचारगी यह है कि इसका जीवन कई आयाम में विकसित होने से वंचित रह गया है। उपभोक्तावाद बाजार की शक्तियों द्वारा वस्तुओं के नाम पर अपने विज्ञापनों के माध्यम से युवाओं को खुशियाँ व सपने बेचने का कार्य करती है। इससे युवा वर्ग के मानस में बस यही जीवन दर्शन घर कर जाता है कि ‘आज के लिए जियो’। फलतः अपराध बढ़ रहे हैं। मानवीय संवेदना कम हो रही है, जिसका प्रभाव परंपरागत मूल्यों एवं सामाजिक मान्यताओं पर पड़ा है। भूमंडलीकरण के फलस्वरूप नई नौकरियों के जो अवसर सामने आए हैं वे मुख्य रूप से महानगरों एवं बड़े शहरों तक केंद्रित हैं। अच्छे जीवन के कथित मिश्रक ने युवाओं का आकर्षण महानगरों एवं बड़े शहरों की ओर कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि गाँव, कस्बों एवं छोटे शहरों का संयुक्त परिवार टूटने लगा और उनके स्थान पर नए व्यक्तिगत परिवार सामने आने लगे। आरंभ में उन्हें जीवन के प्राचीन दर्शन एवं परंपराओं से मुक्ति दिलाई इससे अपने माता-पिता से न केवल भौगोलिक बल्कि भावनात्मक दूरी भी बढ़ी। माँ-बाप, भाई-बहन, सगे-संबंधियों से दूर औद्योगिक समाज के तनाव एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं ने मनुष्य के भीतर खालीपन, तनाव एवं निराशा को जन्म दिया। “एक ओर मीडिया, विज्ञापन और बाजार के दबाव

में बहु सांस्कृतिकता को समरूपता और अमेरिकी जीवन शैली में परिवर्तित करने का प्रयास किया जा रहा है, दूसरी ओर व्यक्ति अपने पुराने मूल्य को भी छोड़ने में संकोच करता है। वह नए सांस्कृतिक संकट से जूझता रहता है। यह वर्ग न आधुनिक ही बन पाता है और न पारंपरिक आदर्शों में स्थिर ही रह पाता है।”<sup>11</sup> आज हमारा खान-पान, रहन-सहन, सोच-विचार सभी बाजार के द्वारा तय किए जाते हैं। “बाजार सुंदरता को सेक्स अपील से जोड़ता है। धर्म और अध्यात्म का व्यावसायीकरण करता है और प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु मानता है। यह अश्लीलता एवं नग्नता को कला-संस्कृति से जोड़ने में भी कोई संकोच नहीं करता है।”<sup>12</sup>

वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था भूमंडलीकरण के माध्यम से सक्रिय है। भूमंडलीकृत भारत में राज्य का स्पेस ‘बाजार’ द्वारा लिए जाने से सरकार, विषमता, आर्थिक विषमता व बदहाल कृषि, चिंतनीय मानव केंद्रित विकास जैसे राष्ट्रीय सरोकार से विलग हुई है। भारत में अमीरी और गरीबी के मध्य खाई पहले से कहीं ज्यादा चौड़ी और गहरी होती जा रही है। भूमंडलीकरण समाज के पिछड़े तबके को कोई लाभ पहुँचाने में पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ है। इंडिया लगातार समृद्ध हो रहा है, भारत कंगाल एवं कुठित हो रहा है।

अलका सरावगी का उपन्यास ‘एक ब्रेक के बाद’ अपने समय और समाज में बुनियादी सरोकारों को उठाता है। इसका कथानक कॉर्पोरेट जगत के आस-पास बुना गया है, लेकिन यह पूँजीवादी साँचे में विकसित होते हुए वर्तमान समय की पड़ताल कर उसके विभिन्न परतों को हमारे समक्ष रखता है। कॉर्पोरेट जगत की इस कथा में कॉर्पोरेट कल्चर के साथ वर्तमान में बदलते जा रहे रिश्ते, सामाजिकता, व्यावहारिकता, भाग-दौड़ भरी जिंदगी और इसके जीवन दर्शन को भी बखूबी पिरोया है। सशक्त रचनाकार होने के कारण कथा में वैचारिक सूत्र रचने में अलका सरावगी सफल हुई हैं। उपन्यास के प्रमुख पात्र के.वी.शंकर अय्यर ने जब रिलायंस जैसी कंपनी में उच्च पद पर कार्य करने के ऑफर को ठुकरा दिया, तब लेखिका का वक्तव्य है कि “कौन नहीं जानता कि ऐसी कंपनियों की ऊंची पोस्ट पर बैठे अफसरों के लिए अब प्राइवेट हवाई-जहाज होते हैं, दूर दराज किसी सुनसान द्वीप पर छुट्टियाँ बिताने के लिए प्राइवेट ‘शिप’ या ‘याट’ होते हैं। उनके फर्म हाउस में उनके छोड़े पलते हैं। और यह सब नहीं होता तो इन सब चीजों के सपने होते हैं। जमाना ‘ये दिल मांगे मोर’ का है। बस्तर के गाँव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टीवी पर वाशिंग मशीन में कपड़े धुलते देख रहा है और डबल डोर फ्रिज में जाने कब से रखी ताजी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपने देख रही है, फर्क यही है कि किसी के सपने छोटे तो किसी के बहुत ज्यादा बड़े सपने।”<sup>13</sup> यहाँ लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि ऐशो-आराम एवं भोग विलास से युक्त जीवन शैली के सपने कॉर्पोरेट संस्कृति परोस रही है।

अपने कंपनी के बॉस चोरड़िया को के.वी.शंकर अय्यर कहते हैं कि “इंडिया के बीस करोड़ घरों में से करीब साढ़े सोलह करोड़ घरों के अंदर हिंदुस्तान लीवर कुछ न कुछ छोटा-मोटा सामान जैसे कि तेल या साबुन लेकर घुसा हुआ है। चोरड़िया का प्रेशर कूकर एक दिन इन करोड़ों घरों में आलू, दाल, चावल उबाल रहा होगा। अभी तो इंडिया में संयुक्त परिवार टूटकर न जाने कितने और करोड़ चौके-चूल्हे बन जाएंगे। यानी मार्केट फैलता जा रहा है और लोगों के खरीदने की ताकत भी। इस लहर पर बैठ कर के.वी. चोरड़िया को आसमान तक पहुँचा देने के सपने दिखा रहें हैं और चोरड़िया विभोर है।”<sup>14</sup> पूँजीवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति को सामाजिक, समरसतावादी संस्कृति पर अधिक प्रभावी बना रहा है ताकि अधिकतम उत्पाद बेचे जा सकें।

उपन्यास का प्रमुख पात्र के.वी.शंकर अय्यर मल्टी नेशनल कंपनियों में शीर्ष प्रबंधतंत्र में बैठने वाला

कॉर्पोरेट जगत का एक अत्यंत सफल व्यक्ति है। उसके विषय में बताते हुए उपन्यासकार कहती हैं कि “के. वी. को मालूम है कि पीठ पीछे उनके बारे में लोग कहते हैं कि वे दूसरे लोगों की ‘टेलेंट’ की सीढ़ियों पर यहाँ तक पहुँचे हैं। इसका कारण सिर्फ इतना है कि इस देश में लोग इतना तक नहीं समझते कि हर सफलता एक टीम वर्क का नतीजा होता है, पर टीम का लीडर खाली एक आदमी होता है। आखिर “फर्स्ट अमंग इक्वल्स” का जुमला यूँ ही तो नहीं चला है— सरकार में सभी मंत्री बराबर होते हैं, पर प्रधानमंत्री बराबरी में सबसे आगे होता है।”<sup>5</sup> अर्थात् यह कॉर्पोरेट जगत की सच्चाई है कि वहाँ सफलता सिर्फ अपनी शिक्षा एवं योग्यता पर आश्रित न होकर तिकड़म पर निर्भर करती है।

उपन्यास के पात्र के वी शंकर अय्यर के आलेख जो बिजनस लाईन पत्रिका में छपे थे। उसमें उन्होंने लिखा कि “अभी तक भारत छोटे-छोटे करोड़ों दूकानदारों का देश था। प्रायः इन दुकानों को बाप-दादों के जमाने से चले आए पुश्तैनी व्यापार के तौर पर बेटे-पोते चला रहे थे। किन्तु अब वह समय आ गया कि दुनिया के सबसे बड़े रिटेल या खुदरा मार्केट को संगठित कर उसका रस खींचने के लिए टाटा, आई.टी. सी. और रिलायंस ही नहीं, अमेरिका की वाल मार्ट जैसी कंपनियाँ कूद पड़ी हैं। कहते हैं कि दस साल के अंदर-अंदर भारत का यह रिटेल सेक्टर 650 करोड़ रु. का हो जाएगा।”<sup>6</sup> इससे स्पष्ट है कि खुदरा बाजार को संगठित कर उसका लाभ बड़ी पूँजीवादी शक्तियाँ उठाना चाहती हैं।

वर्तमान में उच्च एवं निम्न मध्यमवर्गीय परिवार के नए दौर के बच्चों की सोच एवं भाग-दौड़ भरी जिंदगी में उनका जीवन दर्शन उपन्यास की इन पक्तियों में स्पष्ट होता है, “के.वी. को आजकल के बच्चों पर कोई आश्चर्य नहीं होता। वे जानते हैं कि इन बच्चों के पास नौकरियाँ छोड़ने-बदलने या अपनी पढ़ाई से ताल्लुक न रखने वाली कोई नौकरी पकड़ने के पीछे वजहें बिलकुल दूसरी हैं। नए बच्चे न के.वी की तरह अपनी किसी महत्वाकांक्षा के पीछे दौड़ रहे हैं न उन्हें नाम या पैसा कमाना है और न ही वे रंगनाथ या भट्ट की तरह हर जगह पिटे हुए मोहरों की तरह निकाल दिये जाते हैं या नाराज हैकर खुद निकल पड़ते हैं। इन बच्चों के लिए सबसे बड़ी समस्या है कि ये बहुत जल्दी किसी काम से ‘बोर’ हो जाते हैं। पहले कोई आदमी बरसों तक एक ही कंपनी में काम करता, तो वह वफादार और भरोसेमंद समझा जाता था। अब वह ‘डल’, ‘बोरिंग’ या बुद्धू समझा जाता है। अब इन बच्चों को भविष्य के लिए न कोई पैसा जमा करना है और न इन्हें मालूम है कि आज के पाँच साल बाद ये क्या कर रहे होंगे। इन्हें जो आज अच्छा लग रहा है, आज करेंगे और जो कल अच्छा लगेगा वो कल करेंगे। इनका बायोडाटा प्रायः एक पैच वर्क का नमूना होता है, जिसमें इनकी एक नौकरी के अनुभव का फायदा इनकी दूसरी नौकरियों को नहीं मिल सकता। बैंक में नौकरी करते-करते सब छोड़-छाड़ कर किसी एन.जी.ओ. के साथ वर्षा-जल को बचाकर पानी की किल्लत को दूर करने या ‘रेनवाटर हावैस्टिंग’ में लग जाएंगे। खुद के.वी. का बेटा ‘शुद्ध गणित’ या प्योर मैथ्स’ की डिग्री लेकर अभी एक डॉक्यूमेंटरी फिल्म बनाने के लिए घूम रहा है। अपनी माँ से कहता है कि सोमवार से शुक्रवार तक कोल्हू के बैल की तरह काम करके हर शुक्रवार को ‘टी.जी.आई. एफ.’ यानी कि टैंक गॉड इट्स फ्राइडे’ कहकर वह नहीं जी सकता। वह अपने सप्ताह के सातों दिन अपनी मनपसंद जिंदगी जीना चाहता है, सिर्फ शनिवार-रविवार को नहीं। सही बात है बच्चा, के.वी. सोचते हैं। कुछ दिनों में आटे-दाल का भाव पता चल जाएगा, जब बाप के होटल में मुफ्त में खाने में शर्म आएगी। तब तक चलाए जाओ।”

पूँजीवादी दौर में परिस्थितियाँ इतनी तेजी से परिवर्तित होती हैं कि व्यक्ति अपने लिए लाभकर के चुनाव

में भागता फिरता है और युक्तियुक्त या उपयुक्त का चुनाव नहीं कर पाता है। विषय विशेषज्ञ नहीं होने पर भी गुणवत्ता के बजाय सिर्फ मुनाफा पर ध्यान रखने वाली रोजगारोन्मुखी शिक्षण व्यवस्था है, जिसमें जमीन से जुड़ाव का अभाव है। हमारी सामाजिक व्यवस्था, व्यक्तिगत लाभ, निजता एवं कॉर्पोरेट संस्कृति से अनुप्राणित हो रही है। मध्यवर्गीय चेतना अब अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य के विषय में न सोचकर आर्थिक लाभ के विषय में सोचती है।

इस उपन्यास में इस बात की ओर भी इशारा किया गया है कि यह व्यवस्था, दबाव, तनाव, अकेलापन एवं अजनबीयत पैदा करने वाली है। इस व्यवस्था से ऊबा हुआ मध्यवर्ग कैसे अब भारतीय चिंतन परंपरा की ओर झुक रहा है, उपन्यास के पात्र गुरु और भट्ट के इस संवाद में दिखाई पड़ती है जिसमें अचानक गुरु कुछ सोचकर कहता है, “तुम किसी से प्रेम करो, तो उसे लागने लगता है कि वह कोई ऐसी दुर्लभ चीज है कि उसे यह प्रेम तो मिलना ही था। फिर शुरू होता है प्रेम का तिरस्कार। यानी कि दूसरी बातें, दूसरे लोग, दूसरे काम प्रेम से ज्यादा जरूरी होते जाते हैं।” भट्ट को समझ में नहीं आया कि गुरु किसके बारे में बोल रहा था। पर क्या यह खुद किसी से ऐसा प्रेम कर सकता है या कभी कर पाया है कि उससे जरूरी काम इसे कुछ भी न लगा हो ? यदि हाँ तो फिर उसे इसने छोड़ा क्यों ? और यदि नहीं तो गुरु किसी दूसरे से ऐसी अपेक्षा क्यों कर रहा है ? “पर गुरु ! तुम आखिर चाहते क्या हो? कि कोई तुम्हें ऐसा प्रेम करे, जिसमें तुम पर कोई अधिकार भाव न हो”- भट्ट ने तय कर लिया था कि आज वह गुरु को जानकर ही छोड़ेगा। गुरु ने कहा “नहीं, मैं चाहता हूँ कि मैं किसी से ऐसा प्रेम करूँ कि मैं रहूँ ही नहीं।”<sup>8</sup>

मध्यवर्गीय चेतना में अब पैसा कमाना इतना केंद्रीय विषय हो गया है कि ज्ञान, गुण, योग्यता आदि कम महत्व के रह गए हैं। व्यक्ति की सम्पूर्ण ऊर्जा, जीवन-शैली और चिंतन इसी केंद्र की परिधि पर घूमता है। इसलिए आज के मनुष्य में पैसा कमाने से इतर विविध ज्ञान का अभाव है। इसकी एक बानगी बट्ट और गुरु के इस संवाद में देखी जा सकती है। “यही काजू का वन है जिसके बारे में मैंने तुम्हें फोन पर बताया था”- गुरु ने कहा। “पर काजू कहाँ है भट्ट ने चकित होकर पूछा। ‘अरे देवता, काजू के मंजर आ रहे हैं, अभी इस पर फूल खिलेंगे। फिर फूलों में लाल या पीले फल लगेंगे। उनसे काजू निकलेगा।’ गुरु की बातें सुन भट्ट को हर बार की तरह लगा कि इन बातों के बारे में वह कितना कम जानता है।”<sup>9</sup> दरअसल उपभोक्तावादी एवं कॉर्पोरेट संस्कृति ने हमारी समरसतावादी एवं विविधतामयी संस्कृति पर कुठाराघात किया है। कॉर्पोरेट जीवन की वास्तविकता बताते हुए के.वी. कहता है कि “आदमी सुबह से रात तक कोल्हू के बैल की तरह खटता रहता है। इसी चक्कर में कब चालीसी आ जाती है, पता ही नहीं चलता। वह थककर सुस्ताना चाहता है, पर एक तरफ कंपनी चाहती है कि वह सफलता का नया ग्राफ बनाता रहे; दूसरी तरफ पत्नी और बच्चे सोचते रहते हैं कि उनकी सारी इच्छाएँ पूरी करने का समय आ गया है। पत्नी को नई गाड़ी, बड़ा फ्लैट चाहिए। बच्चों को पढ़ने के लिए शहर के कुएं से बाहर जाना है- कपड़े-लते, पॉकेटमनी किसी चीज में कटौती किये बीना। बेचारा मर्द इधर पिस्ता है, उधर पिस्ता है। कहीं चैन नहीं। ऊपर से अगर नौकरी छूट गई, जैसा कि रंगनाथ के साथ हुआ, तो एकदम मरण है।”<sup>10</sup>

हाशियाकारण एवं वर्चस्व की राजनीति में पूँजीवाद की अत्यंत सक्रिय भूमिका है। उपन्यास की इन पंक्तियों में अल्का सरावगी ने कॉर्पोरेट संस्कृति के सिद्धांतों का कच्चा चिट्ठा खोला है, “बेशक के.वी.शंकर अय्यर का दिमाग तर्कसंगत तरीके से सोचने का आदी था। पैसा होने के बावजूद घर में वाशिंग-मशीन कौन नहीं रखता ? जिसके पास कपड़ा धोने के लिए काम करने वाली दाई या नौकर है। इसका मतलब यह

हुआ कि बिजली की बचत तभी हो सकती है जब मशीन का काम आदमी करे। लेकिन आदमी तब ही काम करेगा जब वह गरीब होगा।”<sup>11</sup> इससे आगे बढ़कर के.वी. और उसके नौकर रामू के बीच का वार्तालाप और भी दिलचस्प है। के. वी. ने अपने नौकर रामा से कहा, “हमारी कंपनी पैरों से चलनेवाला एक पंप किसानों को बहुत कम कीमत पर इसलिए बेचना चाहती है कि हवा में डीजल पंप से जो जहरीली गैसें बनती हैं, उससे धरती का बहुत नुकसान हो रहा है। देख रहे हो न कि इन दिनों कितनी बीमारियाँ बढ़ रही हैं। कहीं बारिश होती ही नहीं, कहीं रोज बाढ़ आ जाती है। जहरीली गैसों को बनने से रोकने के लिए दुनिया की सब देशों की सरकारों ने एक कागज पर साइन किया है। इसलिए हमारी सरकार हमारी कंपनी को पैसा देगी अगर हम जहरीली गैसों को कम कर दें- के.वी. ने देखा कि रामा की आँखें बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टरों की आँखों की तरह निर्मल हो गई थीं। “अब हम समझे साहेब”- रामा ने कहा। “दुनिया को बचाना ही पड़ेगा ना सरकार को नहीं तो हुकुम किस पर चलाएगी ? भोट किस्से मांगेगी ?” - रामा का देहाती सेंस ऑफ़ ह्यूमर के.वी. शंकर अय्यर को पसंद है। वे जानते हैं कि रामा यह भी कहना चाहता है कि तभी न साहेब, आपकी कंपनी मुफ्त में सामान देगी, जब आपको सरकार से चौगुना पैसा मिलेगा। पर रामा कहेगा नहीं कुछ। के.वी. ने एक लंबी सांस छोड़ी।”<sup>12</sup>

कुल मिलाकर, पूंजीवाद के बदलते स्वरूप और प्रभाव से उपजे वर्तमान दौर की सच्चाई एवं समस्याओं के स्वरूप का यथातथ्य चित्रण कर अलका जी ने इस उपन्यास के माध्यम से पूंजीवादी प्रभावों के बीच आलोचनात्मक विवेक को बढ़ाया है और वैकल्पिक रास्तों की ओर इशारा किया है।

संदर्भ :

1. अमित कुमार सिंह, भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009 : 87
2. वही : 88
3. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019 : 11
4. वही : 14
5. वही : 69
6. वही : 71-72
7. वही : 72-73
8. वही : 194
9. वही : 193
10. वही : 16-17
11. वही : 146
12. वही : 148



# शैलेश मटियानी : 'तलछट' से निकला हुआ एक महान कथाकार

○ शैलेश चौहान

मटियानी जी से मेरी प्रत्यक्ष मुलाकात सन् 1982 में परिमल प्रकाशन के संस्थापक शिवकुमार सहाय के घर पर हुई थी। तदुपरांत मटियानी जी का स्नेह मुझपर आजीवन बना रहा। एक बार जब वह गोविंद बल्लभ पंत अस्पताल दिल्ली में भर्ती थे तब मैं डॉ. मनु और रमेश तैलंग के साथ उन्हें देखने गया था तब वह लगातार दुर्गा सप्तपदी नामक किसी किताब की चर्चा कर रहे थे। संभवतः उस किताब का उनके मन पर गहरा प्रभाव था।

शैलेश मटियानी हिंदी साहित्य में नई कहानी आंदोलन के दौर के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। उन्होंने मुठभेड़, बोरीबली से बंबई, जैसे चर्चित उपन्यास, चील, अर्द्धांगिनी जैसी महत्वपूर्ण कहानियों के साथ ही अनेक निबंध और संस्मरण भी लिखे। 1950 से ही उन्होंने कविताएँ और कहानियाँ लिखनी शुरू कर दी थी। शुरू में वे रमेश मटियानी 'शैलेश' नाम से लिखते थे। उनकी आरंभिक कहानियाँ 'रंगमहल' और 'अमर कहानी' पत्रिका में प्रकाशित हुई। उन्होंने 'अमर कहानी' के लिए 'शक्ति ही जीवन है' (1951) और 'दोराहा' (1951) नामक लघु उपन्यास भी लिखा। उनका पहला कहानी संग्रह 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' 1961 में प्रकाशित हुआ। उनकी कहानियों में 'डब्बू मलंग', 'रहमतुल्ला', 'पोस्टमैन', 'प्यास और पत्थर', 'दो दुखों का एक सुख' (1966), 'चील', 'अर्द्धांगिनी', 'जुलूस', 'महाभोज', 'भविष्य' और 'मिट्टी' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कहानी के साथ ही उन्होंने कई प्रसिद्ध उपन्यास भी लिखा। उनके कई निबंध संग्रह एवं संस्मरण भी प्रकाशित हुए। उन्होंने 'विकल्प' और 'जनपक्ष' नामक दो पत्रिकाएँ निकाली। उनके पत्र 'लेखक और संवेदना' (1983) में संकलित हैं। उनका जीवन बेहद संघर्षपूर्ण रहा। उनके जीवन के बारे में जानकर उनके संघर्षों का अनुमान लगाया जा सकता है। जिस वक्त वे एक छोटे से ढाबे में लगभग एक वेंटर का काम कर रहे थे, प्लेटें धोने और चाय लाने का, उस वक्त तक उनकी कहानियाँ 'धर्मयुग' में छपना शुरू हो गई थीं। कितनी बड़ी विडंबना है कि 'धर्मयुग' जैसे सर्वश्रेष्ठ अखबार में जिनकी कहानियाँ छपना शुरू हो गई हों वह एक छोटे से सड़क के किनारे बने ढाबे में चाय-पानी देने और प्लेट साफ करने का काम कर रहा हो। उन स्थितियों से निकलकर, जिसे गोर्की ने कहा है 'समाज की तलछट से आए हुए लोग', वे आये थे। गोर्की ने अपनी आत्मकथा में इसी जीवन को जिया था जिसका नाम रखा था 'मेरा विश्वविद्यालय' गोर्की कहते थे कि ये मेरे विश्वविद्यालय हैं। यहाँ से मैंने ट्रेनिंग ली है। मटियानी का सशक्त बिंदु भी यही है। वे अपने ढंग के एक विचारक भी थे। देश की समझ, राष्ट्र की समस्या, भाषा की समस्या पर वे हमेशा लिखते थे। क्योंकि बिना लिखे रह भी नहीं सकते थे या कुछ तो आर्थिक कारणों से भी खाली

रह सकना उनके लिए संभव नहीं था। समकालीन हिंदी कहानी साहित्य में शैलेश मटियानी एक महत्वपूर्ण नाम है। शैलेश मटियानी का कहानी साहित्य व्यापक जीवन संदर्भों का वाहक है क्योंकि इनके कहानी साहित्य के वृत्त के अंतर्गत विविध क्षेत्रों, वर्गों और संप्रदायों संबद्ध जीवन संदर्भों का चित्रण हुआ है किंतु इनके कहानी साहित्य में भारतीय समाज के दबे, कुचले, शोषित, उपेक्षित और हाशिए के निम्न वर्गीय जीवन संदर्भों का सर्वाधिक निरूपण हुआ है। वस्तुतः शैलेश मटियानी के कहानी साहित्य में चित्रित यह निम्न वर्ग कुमाऊँ के अंचल से लेकर छोटे-बड़े नगरों एवं महानगरों से संबद्ध है। किंतु इनकी कहानियों में चित्रित उपेक्षित, पीड़ित, शोषित और दबा-कुचला वर्ग चाहे जिस क्षेत्र, वर्ग, संप्रदाय से संबद्ध है अपने प्रकृत रूप में दिखाई देता है। इसका कारण शैलेश मटियानी की अत्यंत संवेदनशील, उस अंतर्दृष्टि को माना जा सकता है जिसने उन्हें अपनी भोगी एवं देखी चीजों को यथार्थ रूप में पकड़ पाने की अद्भुत क्षमता दी है। यही कारण है कि शैलेश मटियानी कुमाऊँ अंचल से संबद्ध कहानीकार होते हुए भी जब वे प्यास, अहिंसा, बिदू अंकल, भय जैसी नगरीय जीवन से संबद्ध कहानियाँ लिखते हैं तो वे भी कुमाऊँ अंचल से संबद्ध कपिला, नाबालिग, ब्राह्मण, खरबूजा, अर्द्धांगिनी जैसी कहानियों की भाँति अत्यंत गहरे प्रकृत रूप में दिखाई देती हैं। इन कहानियों में किसी भी प्रकार का बनावटीपन एवं कृत्रिमता नहीं दीखती। कहना यह है कि हिंदी कहानी साहित्य में प्रेमचंद के बाद ऐसा कोई कहानीकार नहीं दिखाई देता जिसमें शैलेश मटियानी के समान विविध वर्गों, स्थानों और धर्मों से संबद्ध जीवन को, उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने की दक्षता हो। शैलेश विविध परिवेश के भीतर से अपनी कहानियों के कथ्य का चयन करते हैं उसके अनुरूप पात्रों के चयन से लेकर उनके मासिक स्तरों का मार्मिक उद्घाटन करते हैं। उससे वे आसपास को ठीक-ठाक जाँचने-परखने की अद्भुत अंतर्दृष्टि का परिचय देते हैं। शैलेश मटियानी ने दलित जीवन संदर्भों पर पर्याप्त कहानियाँ लिखी हैं उन कहानियों में ‘अहिंसा’, ‘जुलूस’, ‘हारा हुआ’, ‘संगीत भरी संध्या’, ‘माँ तुम आओ’, ‘अलाप’, ‘लाटी’, ‘भँवरे की जात’, ‘आंधी से आंधी तक’, ‘परिवर्तन’, ‘आक्रोश’, ‘भय’, ‘आवरण’, ‘दो दुखों का एक सुख’, ‘चुनाव’, ‘प्रेतमुक्ति’, ‘चिट्ठी के चार अक्षर’, ‘वृत्ति’, ‘सतजुगिया’, ‘गोपुली गफूरन’, ‘गृहस्थी’, ‘इब्नू मलंग’, ‘प्यास’, ‘शरण्य की ओर’ आदि कहानियाँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में दलित वर्ग से संबंधित चरित्र मुख्यतः तीन रूपों में चित्रित हुए हैं। पहला-वह जो भारतीय समाज व्यवस्था की अमानवीयता से लाचार होकर समझौता करता दिखाई देता है। दूसरा-वह जो समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश तो व्यक्त करता है किंतु उसका आक्रोश इतना दबा होता है कि अंततः टूटकर समझौते की विवशता को झेलता है। तीसरा-वह जो अपनी मान-मर्यादा एवं हितों के लिए समाज व्यवस्था से सीधे टकराता है। अतः कहने में संकोच नहीं है कि शैलेश मटियानी के कहानी साहित्य में चित्रित दलित सरोकार अपने यथार्थ रूप में व्यक्त हुए हैं जिसमें समकालीन भारतीय समाज में आए बदलाव के स्पष्ट स्वर हैं। इनकी अहिंसा कहानी का चरित्र जगेशर दलित वर्ग से संबद्ध है। वह शासकीय व्यवस्था से सर्वाधिक संतुष्ट है। आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद अपनी पत्नी के उपचार के लिए धन एकत्रित करता है किंतु सरकारी अस्पतालों के कार्यरत कर्मचारियों एवं डॉक्टरों की अमानवीयता एवं भ्रष्ट आचरण के कारण वह ऑपरेशन से पूर्व ही दम तोड़ती चित्रित हुई है। वस्तुतः इस कहानी में जहाँ एक ओर दलित वर्ग की भारतीय समाज में प्रस्थिति का यथार्थ व्यक्त हुआ है वहीं इस कहानी का दलित चरित्र दलित चेतना से युक्त चित्रित हुआ है इसीलिए वह विद्रोह की आग में झुलसता तो दिखाई देता ही है इसके अतिरिक्त वह प्रतिशोध से भरकर डॉक्टर की हत्या करता भी चित्रित हुआ है। इनकी जुलूस कहानी में भी चित्रित दलित चरित्र वर्तमान भारत की धिनौनी राजनीति से यंत्रणा पाते चित्रित हुए हैं। इस कहानी की दलित नारी चरित्र बुधा राम की विधवा

माँ सर्वाधिक कष्ट पाती है क्योंकि राजनीति प्रेरित पुलिस तंत्र के द्वारा महालक्ष्मी के दिन जुवारियों की जो धरपकड़ होती है उसमें उसका बेटा भी पुलिस द्वारा गिरफ्तार होता है। कहानीकार ने उसे अनेक प्रकार की आशंकाओं से ग्रस्त होते चित्रित किया है, “कहीं इसकी सरकारी दफ्तर की चपरासगीरी भी न चली जाए? कहाँ अगले ही महिने गौना सिर पर और कहाँ थुक्का फजीहत आ गयी।” इनकी ‘हारा हुआ’ कहानी में भी गैरदलितों की दलितों के प्रति आम धारणा का यथार्थ व्यक्त हुआ है। शैलेश की कहानियों में दलित नारी सर्वाधिक संतुष्ट दीखती है। इनकी कहानियों में जहाँ एक ओर कथा सम्राट प्रेमचंद की ‘घासवाल’ कहानी की मुलिया और ठाकुर का कुआँ की गंगी जैसी प्रबुद्ध दलित नारी चरित्र हैं, वहीं गैर दलितों की काम पिपासा से दंशित एवं कलंक का बोझ ढोती दलित नारी चरित्र भी है। जो तमाम प्रकार की सामाजिक उपेक्षा एवं आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी खुशी-खुशी संघर्ष करती चित्रित हुई है। इस दृष्टि से शैलेश की ‘भँवरे की जात’, ‘चिट्ठी के चार अक्षर’, ‘शरण्य की ओर’ और ‘आवरण’ कहानियाँ उल्लेख्य हैं। इसके अलावा शैलेश के कहानी साहित्य में प्रेमचंद की ‘सद्गति’ कहानी के गोंड जैसे दलित चरित्र भी हैं जो गैर दलितों की अमानवीयता एवं समाज व्यवस्था के संवेदन शून्यता के प्रति गहरा विरोध व्यक्त करते हैं। उनमें ‘परिवर्तन’ कहानी का देबराम, ‘सतजुगिया’ का परराम, ‘हत्यारे’ का शिवचरण केवट आदि महत्वपूर्ण हैं। इनकी कहानियों में चित्रित कतिपय दलित नारी चरित्र तमाम कठिनाइयों के बावजूद महान आदर्श प्रस्तुत करती दीखती हैं। इनके कहानी साहित्य में प्रायः चित्रित दलित वर्ग से संबद्ध चरित्र तमाम प्रकार की कठिनाइयों के बावजूद भी मानवीय गुणों से युक्त हैं। इस संबंध में श्री हृदयेश का कथन उद्धृत है – “यों उनके कथा-संसार में ...तुच्छ पेशों को चिपटाए गरीब एवं लाचार पात्र हैं, किंतु वे मानवीय गुणों के मामले में गरीब और तुच्छ नहीं हैं।” इसके अलावा शैलेश मटियानी की कहानियों में कतिपय नई पीढ़ी से संबद्ध गैरदलित पुरुष चरित्र दलित वर्ग से संबंध नारियों से संबंध स्थापित करते चित्रित हुए हैं जिससे निश्चित ही समकालीन मूल्य परिवर्तन का संकेत मिलता है।

मटियानी जी का जन्म बाड़ेछीना गांव (जिला अलमोड़ा, उत्तराखंड में हुआ था। उनका मूल नाम रमेशचंद्र सिंह मटियानी था। बारह वर्ष की अवस्था में उनके माता-पिता का देहांत हो गया। उस समय वे पांचवीं कक्षा के छात्र थे। इसके बाद वे अपने चाचाओं के संरक्षण में रहे किंतु उनकी पढ़ाई रुक गई। उन्हें बूचड़खाने तथा जुए की नाल उघाने का काम करना पड़ा। पांच साल बाद 17 वर्ष की उम्र में उन्होंने फिर से पढ़ना शुरू किया। विकट परिस्थितियों के बावजूद उन्होंने हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। वे 1951 में अल्मोड़ा से दिल्ली आ गए। यहाँ वे ‘अमर कहानी’ के संपादक आचार्य ओमप्रकाश गुप्ता के यहाँ रहने लगे। तबतक ‘अमर कहानी’ और ‘रंगमहल’ से उनकी कहानी प्रकाशित हो चुकी थी। इसके बाद वे इलाहाबाद गए। उन्होंने मुजफ्फर नगर में भी काम किया। दिल्ली आकर कुछ समय रहने के बाद वे बंबई चले गए। फिर पांच-छह वर्षों तक उन्हें कई कठिन अनुभवों से गुजरना पड़ा। उनकी कहानी की दुनिया मार्जिनलाइज्ड की दुनिया है। गरीबों की दुनिया है। वह खुद जाति व्यवस्था से पीड़ित रहे। पहाड़ से भगा दिए गए। वे भगाए गए थे इसलिए कि वे उस ढंग से क्षत्रिय भी नहीं थे। कसाई थे। इनके परिवार में कसाई का काम होता था। यह उनको तकलीफ देता था। 1956 में श्रीकृष्ण पुरी हाउस में काम मिला, जहाँ वे अगले साढ़े तीन साल तक रहे और अपना लेखन जारी रखा। बंबई से फिर अल्मोड़ा और दिल्ली होते हुए वे इलाहाबाद आ गए और कई वर्षों तक वहीं रहे। 1992 में छोटे पुत्र की मृत्यु के बाद उनका मानसिक संतुलन बिगड़ गया। जीवन के अंतिम वर्षों में वे हल्द्वानी आ गए। विक्षिप्तता की स्थिति में उनकी मृत्यु दिल्ली के एक अस्पताल में हुई।

निराला, भुवनेश्वर, मुक्तिबोध और मटियानी इन सबके साथ जो कुछ हुआ उसको देखकर ऐसा लगता है कि हिंदी का एक ईमानदार लेखक कितना निरीह होता है। इन सभी की ट्रेजेडी यह है कि जितने प्रतिभाशाली ये थे इतनी मान्यता उन्हें नहीं मिली, उतनी स्वीकृति नहीं मिली। उससे भी ज्यादा तकलीफ इस बात की रही कि जिनमें कम प्रतिभा थी वे लोग अपने संपर्कों से, साधनों से, तिकड़मों से स्थापित हो गए। और हिंदी में यही ट्रेंड आज भी बाकायदा कायम है।



## हलाला, पुरुषवादी मानसिकता और मुस्लिम महिलाएँ

### ○ हुस्न आरा

किसी भी धर्म, समुदाय एवं समाज में स्त्री अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह देखा जाता है कि नारी, जहाँ हिन्दू धर्म में शक्ति का रूप है तो ईसाई धर्म में ईसा मसीह की जन्मदाता माता मरियम है। मरियम के कठिन परिश्रम एवं मार्गदर्शन में बालक यीशु ईसाई धर्म के संस्थापक बन गए; दूसरी तरफ, इस्लाम धर्म में महिलाओं की सुरक्षा, सम्मान और आजादी के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। पवित्र कुरान में महिलाओं को पुरुषों के समान मानव अधिकार दिए गए हैं एवं उनका आदर करने, उनके साथ अच्छा व्यवहार करने की बार-बार हिदायत दी गई है। पवित्र कुरान में यह कहा गया है कि “हे मानव जाति, अपने स्वामी से डरो जिसने तुम्हें एक आत्मा से पैदा किया और उसी से उनका साथी बनाया और उन दोनों से कई पुरुषों और महिलाओं को पैदाकर फैलाया।”<sup>1</sup> इस्लाम ने महिलाओं एवं पुरुषों के बीच एक मुकम्मल एवं विशुद्ध समानता की स्थापना की है एवं सद्व्यवहार के साथ पृथ्वी पर रहकर जीवनयापन करने की हिदायत दी गई है। अल्लाह ने पवित्र कुरान में बताया है कि “और उस चीज की इच्छा मत करो जिसके द्वारा अल्लाह ने तुममें से दूसरों को अधिक कर दिया है। पुरुषों के लिए उन्होंने जो कमाया है उसका हिस्सा है, और महिलाओं के लिए उन्होंने जो कमाया है उसका हिस्सा है।”<sup>2</sup> इसके बावजूद इस पितृसत्तात्मक समाज में आज भी कतिपय ऐसी कुरीतियाँ देखने को मिलती हैं जो आम तौर पर महिलाओं और विशेष तौर पर मुस्लिम महिलाओं की स्थिति को दयनीय बनाती हैं; जैसे, दक्षिण भारत के हिन्दू समाज में व्याप्त देवदासी प्रथा<sup>3</sup>, मुस्लिम समाज में व्याप्त हलाला, एक बार में तीन तलाक, पर्दा प्रथा, बहुविवाह की प्रथा (पुरुषों के द्वारा एक बार में चार पत्नी रखने की प्रथा) आदि।

मुस्लिम समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों में ‘हलाला’ एक गंभीर बुराई के रूप में दिखाई पड़ती है। यह पुरुष प्रधान समाज के सबसे वीभत्स मानसिकता को प्रकट करती है। यह कितना भयावह है कि एक स्त्री को उसके पति द्वारा तलाक दिए जाने के बाद पुनः अपने ही पति के साथ रहने के लिए ‘निकाह हलाला’ जैसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जबकि इस्लाम ने महिलाओं का आदर एवं सम्मान करने की शिक्षा दी है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ‘हलाला’ शब्द का उल्लेख पवित्र कुरान में कहीं भी नहीं मिलता, बल्कि यह समाज में एक चलन के रूप में विद्यमान है।

इस्लाम धर्म में विवाह स्त्री एवं पुरुष के बीच आपसी सहमती का एक अनुबंध है। स्त्री एवं पुरुष निकाह करके अपने वैवाहिक जीवन को स्थापित करते हैं एवं संतानोत्पत्ति द्वारा मानव अस्तित्व को आगे ले जाने की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वहन करते हैं। समय के साथ-साथ इस सामाजिक व्यवस्था में अनेक

कुरीतियाँ आती गयीं जिनमें 'निकाह हलाला' भी एक प्रमुख कुरीति है। हलाला एक ऐसी स्त्री विरोधी परम्परा है जिसमें न केवल औरतों का शोषण होता है बल्कि स्त्री के जीवन एवं समानता के अधिकार का भी हनन होता है। इसका प्रमुख कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था को माना जाता है जो महिलाओं को सदैव ही अपने अधीनस्थ रखना चाहता है। इसके लिए वह धर्म का भी बखूबी इस्तेमाल करता है।

अब सवाल यह उठता है कि 'हलाला' है क्या? अधिकांश महिलाएँ हलाला का वही अर्थ समझती हैं जो उनके घर के पुरुष सदस्य उन्हें समझा देते हैं। 'हलाला' को लेकर समाज में यह धारणा प्रचलित है कि पति द्वारा पत्नी को तलाक देने के उपरांत, यदि पति अपनी पत्नी को पुनः वापस लाना चाहता है तो पत्नी को अपने पति के पास आने से पहले किसी अन्य व्यक्ति से निकाह करना होगा जिसे 'हलाला निकाह' कहते हैं। इस निकाह के पश्चात् वह व्यक्ति उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने के बाद तलाक दे देगा तब वह स्त्री अपने पूर्व पति के साथ पुनः निकाह कर सकेगी। भारत में सुन्नी समुदाय के हनफी पंथ में इस प्रथा का चलन पाया जाता है जो मुसलमानों का सबसे बड़ा समुदाय है।

हलाला प्रथा के सम्बन्ध में मुस्लिम धर्मगुरु कुरान की सूरह बकरह की आयत संख्या 2:230 का हवाला देते हैं, “फइन तल्लाकाहा फला तहिल्लो लहु मिम बादो हत्ता तनकेहा जौजन गैरहू फइन तल्लाकाहा फल जोनाहा अलैहेमा अय्याताराजाआ इन ज़न्ना अययोकीमा होदुदल्लाहे वतिलका होदुदल्लाहे योबय्यानोहा लेकौमिल यालामुना।”<sup>4</sup> इसका तात्पर्य है कि, “और अगर उसने उसको (तीसरी बार) तलाक़ दे दिया है, तो उसके बाद जब तक वह उससे भिन्न किसी व्यक्ति से ब्याह न कर ले, तब तक वह उसके लिए विधिसम्मत न होगी। और अगर वह भी तलाक़ दे दे तो इनलोगों पर कोई आरोप नहीं कि पुनः एक दूसरे के पास लौट जाएं, अगर वे यह सोचते हैं कि अल्लाह के हदों को कायम रख सकेंगे।” पवित्र कुरान के इस व्याख्या के आधार पर ही हलाला को प्रामाणिक माना जाता है। परन्तु इस व्याख्या को पवित्र कुरान की अन्य दूसरी आयतों के साथ मिलाकर पढ़ा जाए तो यह सब पवित्र कुरान से मेल नहीं खाता। अनुवादकों ने इस आयत की व्याख्या करने में कुछ शब्द ब्रैकेट करके खुद से जोड़ दिए हैं और कुछ शब्द का अनुवाद अपने अनुसार कर दिया है। इस आयत का अनुवाद करते हुए अनुवादकों ने 'तीसरी बार' शब्द का प्रयोग स्वयं से ब्रैकेट देकर कर लिया है। हत्ता शब्द के अनुवाद के तुरंत बाद 'कि' एवं 'तनकिहा' यानी निकाह करती है को नकारात्मक में 'निकाह न कर ले' अनुवाद करके अर्थ ही बदल दिया है। इन अलग से जोड़े हुए तीनों शब्दों को हटाने पर अनुवाद कुछ इस प्रकार होगा- “फिर अगर तलाक़ दे दे अब उसके लिए हलाल न रहेगी जब वह दूसरे पुरुष से निकाह कर ले...”

अब यह भी जानना आवश्यक है कि सूरह बकरह की अन्य आयतें महिला के बारे में क्या कहती हैं। सूरह बकरह की आयत संख्या 2:228 के अनुसार अगर कोई महिला तलाक़ के बाद अपने पति के साथ पुनः रहना चाहे तो इद्दत की अवधि में पति उसे वापस लेने का हकदार है, बशर्ते कि उन दोनों के दरम्यान साथ रहने के लिए सुलह हो जाए। इस आयत में इस बात का स्पष्ट वर्णन किया गया है, “वल्मुताल्लाक़तु यातरब बसना बी अन्फुसिहिन्ना सलासता कोरू”; वलायाहिल्लो लहुन्ना ऐयक्तुमना मखलाका उल्लाहो फिअरहमेहीन्ना एकुन्ना योमिन्ना बिल्लाहे वल यौमिल आखिर; वाबोऊ लातोहुन्ना अहवको बेरद्हिन्ना फी ज़ालिका इन अरदू इस्लाहा; वलाहुन्ना मिस्लुल्लज़ी अलैहिन्ना बिलमारूफ़; वलिररजाले अलैहिन्ना दराजा; व उल्लाहो अजीजुनकिमा।”<sup>5</sup> इस आयत में अल्लाह ने यह स्पष्ट किया है कि “तलाक़शुदा महिलाओं को तीन मासिक अवधियों के लिए अपने बारे में इंतजार करना होगा। उनके लिए

यह जायज नहीं कि जो कुछ अल्लाह ने उनकी कोख में रचा है उसे छिपाएं, यदि उन्हें अल्लाह और अंतिम दिन पर ईमान है। और उनके पतियों को उस अवधि में उन्हें वापस लेने का अधिकार है, यदि वे सुलह की इच्छा रखते हैं। और महिलाओं को उनको प्राप्त अधिकारों के विरुद्ध समान अधिकार होंगे, जो न्यायसंगत है; लेकिन पुरुषों के पास उनसे एक डिग्री ऊपर है। और अल्लाह ताकतवर, बुद्धिमान है।” इसी सूरह की आयत संख्या 2:232 में यह वर्णित है कि तलाक देने के पश्चात् पति उसे सताने के लिए न रोके और न ही उसे पुनर्विवाह करने से रोके।<sup>6</sup>

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि इस्लाम ने महिला को बराबरी का दर्जा देते हुए उसके मान और सम्मान का पूरा ख्याल रखा है। कुरान और हदीस के अनुसार एक मुस्लिम महिला एक बार में दो व्यक्ति के साथ निकाह में नहीं रह सकती। अतः तलाक पाने के बाद महिला चाहे तो उसी पति से आपसी सुलह के पश्चात् पुनः निकाह कर ले, यदि उस पति के निकाह में नहीं जाना चाहती है तो कोई नया चुनकर निकाह कर ले। यदि उसने दूसरा विकल्प चुना और किसी नए व्यक्ति से निकाह कर लिया तो अल्लाह ने सचेत कर दिया है कि अब उसपर पहला वाला पति हलाल नहीं रहा। अल्लाह ने पवित्र कुरान में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी व्यक्ति तलाक देने के उपरांत महिला को परेशान करने एवं सताने के लिए न रोके और न ही उसे अपनी पसंद से दूसरी शादी करने से रोके।

यह अत्यंत ही आश्चर्यजनक है कि ‘हलाला’ शब्द का उल्लेख पवित्र कुरान में नहीं मिलता। यह शब्द हलाल शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है ‘वैध’ (lawful)। पति पत्नी के रिश्तों में तलाक हो जाने के पश्चात् वे एकदूसरे के लिए वैध नहीं रह जाते, इसी के आधार पर हलाल शब्द से ही ‘हलाला’ का शब्द प्रचलन में आया होगा। प्राचीन अरब के बदु महिलाओं के साथ जानवरों की तरह व्यवहार करते थे। वे कई-कई शადियाँ करते थे। वे अपनी पत्नियों को जब तक चाहते रखते और जब उनका मन होता तत्क्षण तीन तलाक कह कर निकाल देते; पुनः जब चाहते वापस रख लेते। तलाक के बाद भी महिलाओं को अपनी मर्जी से दूसरे व्यक्ति से विवाह करने की स्वतंत्रता नहीं थी। इस्लाम धर्म की स्थापना के बाद पैगम्बर मुहम्मद ने इस प्रथा का विरोध किया। किसी महिला का यदि तलाक हो जाता है तो वह किसी अन्य व्यक्ति के साथ विवाह करने के लिए स्वतंत्र हो जाती है। इस्लामिक मामलों के प्रसिद्ध कानूनी विद्वान एवं प्रसिद्ध लेखक ताहिर महमूद ने यह विश्लेषित किया है कि हलाला प्रथा का आज जिस तरह प्रयोग हो रहा है, वह गलत है। उनका मानना है कि पवित्र कुरान के इस नियम को लोग धोखाधड़ी करके अपने पक्ष में प्रयोग करते हैं।<sup>7</sup> इस्लामिक मामलों की प्रसिद्ध महिला विद्वान जीनत शौकत अली भी इस बात का समर्थन करती हैं कि हलाला प्रथा का प्रयोग गलत तरीके से किया जाता है।<sup>8</sup> प्रसिद्ध विद्वान मुर्तदा मुतह्हरि के अनुसार “इस्लाम ने महिला वर्ग की बड़ी सेवा की...इसने पूरी आजादी दी; इसने व्यक्तित्व प्रदान किया, सोच एवं विचार की पूरी स्वतंत्रता दी, और औपचारिक रूप से उनके प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकार किया।”<sup>9</sup>

प्रसिद्ध लेखक, साहित्यिक आलोचक, पत्रकार एवं सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों के स्तंभकार ज़िया उस सलाम ने हलाला प्रथा का विरोध करते हुए अपनी पुस्तक ‘निकाह हलाला : स्लीपिंग विथ ए स्ट्रेंजर’ में कहा है कि यह प्रथा महिलाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक अवनति को दर्शाती है। वह कहते हैं कि निकाह हलाला के बाद तलाक से इंकार करने वाले किसी अजनबी से शादी में फंस जाने पर महिला क्या करेगी? वह अपने पति और बच्चों के पास कैसे वापस आयेगी जिनके लिए वह अनिच्छा से इस तरह के वैवाहिक बंधन हेतु सहमत हो सकी थी? समाज कहाँ आता है? और इस्लाम में उस महिला की शादी की स्थिति

क्या होगी जब इसे तत्क्षण तलाक के स्पष्ट उद्देश्य के साथ मनाया जाता है? आगे जिया उस सलाम कहते हैं कि समाज को इन सरे सवालियों के जवाब देने होंगे क्योंकि यह महिलाओं के मान-सम्मान, गरिमा एवं मानवाधिकार से जुड़ा मामला है। यह वेश्यावृत्ति का वैध रूप है, जिसे धर्म की आड़ में पुरुषों द्वारा आस्था के नाम पर प्रोत्साहित किया जाता है।<sup>10</sup>

### **निकाह हलाला और पवित्र कुरान:**

पवित्र कुरान में विवाह को पति और पत्नी के लिए एक सुरक्षित आश्रय माना जाता है और पत्नी के मान सम्मान की रक्षा उसके पति द्वारा करने की बात कही गई है। निकाह की संस्था किसी को भी शादी की सीमा से परे जाने और यौन गतिविधियों में लिप्त होने की अनुमति नहीं देती है। इस्लाम में इस प्रकार के गतिविधियों की इजाजत नहीं है। अब, निकाह हलाला की अवधारणा का विश्लेषण करने में, पवित्र कुरान द्वारा प्रदान किए गए दिशानिर्देशों के अनुसार, यह किसी भी प्रकार से पवित्र पुस्तक द्वारा निर्धारित किसी भी मानदंड को पूरा नहीं करता है क्योंकि यह किसी भी तरह से महिला या उसकी गरिमा की रक्षा नहीं करता है। आगे महत्वपूर्ण बात यह है कि 'हलाला' शब्द का उल्लेख पवित्र कुरान में कहीं नहीं मिलता। प्रचलित हलाला फिकही हलाला का विकृत रूप है। सामान्य विवाह होने पर दूसरी शादी की अनुमति होगी, और यदि दूसरी शादी तलाक या पति की मृत्यु जैसी परिस्थितियों के कारण भंग हो जाती है, तो महिला चाहे तो अपने पहले पति से शादी कर सकती है। नतीजतन, तलाक की पूर्व शर्त आम तौर पर अस्वीकार्य है। हालांकि, तलाक का इरादा है।

आज के युग में, धार्मिक पद पर आसीन विद्वान, पत्नी को हलाल या किसी विशिष्ट कारण से पुनः पहले पति के लिए जायज बनाने के लिए एक रात के निकाह की प्रथा के विकृत संस्करण का समर्थन करते हैं। हालांकि, यह माना जाता है कि हलाला का इरादा पति के मन में भय पैदा करना था ताकि वह रोष की स्थिति में तीन तलाक देने से परहेज करे। इसे व्यापक रूप से गलत समझा जाता है और इसका दुरुपयोग किया जाता है। हलाला की वर्तमान प्रथा किसी महिला के लिए दोहरे सजा के सामान है। एक तरफ तो उसे अपने पति को पुनः प्राप्त करने और अपने वैवाहिक घर को सुरक्षित करने के लिए फिर से तलाक की पीड़ा से गुजरने के लिए मजबूर होना पड़ता है; इसके अलावा उसे न चाहते हुए भी किसी अन्य व्यक्ति से निकाह करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। जबकि तलाक पाई हुई महिला पहले से ही दुःख, तकलीफ और पीड़ा से गुजर रही होती है।

पवित्र कुरान में जगह-जगह इस बात का जिक्र किया गया है कि औरतों के साथ अच्छाई से पेश आओ। उनके साथ नाइंसाफी मत करो। पवित्र कुरान के सुरह अन-निसा के आयत संख्या 4:19 में अल्लाह ने हिदायत दी है कि “या ऐयुहल लजीना आमनू ला यहिल्लू लकुम अन तरिसुं निसा...”<sup>11</sup> अर्थात् यह जाएज नहीं की ज़बरदस्ती महिलाओं के मालिक बन जाओ। और जो कुछ तुमने उन्हें दिया है उसमें से कुछ भाग लेने हेतु उनके लिए कठिनाइयों न पैदा करो...। सूरह तलाक के आयत संख्या 65:6 में कहा गया है कि “अस्किनुहुन्ना मं हैसु सकंतुम मवोजिदकुम वाला तुदारुहुन्ना लिनुदैयिकू अलैहीन...”<sup>12</sup> इसका तात्पर्य है कि तुम अपनी हैसियत के मुताबिक जहाँ तुम रहते हो वहाँ इन औरतों को रखो और इन्हें सताने के लिए तकलीफ न पहुँचाओ...। पवित्र कुरान की इन आयतों से यह बात साबित होती है कि इस्लाम महिलाओं के मानवाधिकारों के प्रति अत्यंत सचेत है उन्हें घर से बेदखल करने, सताने, तंग करने, उनकी सम्पत्ति छीनने, उनका अपमान करने आदि पर रोक लगाई गई है। तब दूसरी तरफ पति से तलाक हो जाने पर उसी पति

से विवाह करने के लिए दूसरे व्यक्ति से हलाला निकाह करने हेतु कैसे बाध्य किया जा सकता है।

### **भारतीय संविधान और निकाह हलाला-**

जब किसी समस्या की बात आती है और मुद्दा धार्मिक प्रथाओं, रीति रिवाजों और संस्कारों के सम्बन्ध में होता है तो भारत का संविधान मार्गदर्शक का काम करता है। हलाला निकाह न केवल संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है बल्कि संवैधानिक नैतिकता के भी विरुद्ध है। संविधान का अनुच्छेद 14 समानता के अधिकार<sup>13</sup> का प्रावधान करता है, लेकिन हलाला की अवधारणा का मूल्यांकन करने पर, यह प्रथा मुस्लिम महिलाओं के प्रति पक्षपाती है, एवं प्रकृति में अत्यंत ही शोषक है। आगे संविधान के अनुच्छेद 15 में लिंग के आधार पर भेदभाव को निषिद्ध किया गया है एवं महिलाओं के हित में राज्य द्वारा विशेष व्यवस्था किए जाने की बात कही गयी है।<sup>14</sup> निकाह हलाला एक धब्बा के सामान है जिसके द्वारा महिलाएँ न केवल शारीरिक रूप से बल्कि भावनात्मक, आध्यात्मिक एवं आर्थिक रूप से कमजोर हो जाती हैं। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 आवश्यक मौलिक अधिकारों में से एक है जो जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार<sup>15</sup> को बताता है; जब तक कि कानून की प्रक्रिया द्वारा कटौती नहीं की जाए, निकाह हलाला कहीं से भी जीवन के अधिकार की अवधारणा का समर्थन नहीं करता है बल्कि यह जीवन के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा डालता है।

### **निकाह हलाला और इज्तिहाद की आवश्यकता-**

इज्तिहाद<sup>16</sup> एक कानूनी शब्द है जिसमें इस्लामी कानून के विशेषज्ञों द्वारा स्वतंत्र तर्क के माध्यम से किसी मसले का हल निकाला जाता है। इज्तिहाद को एक धार्मिक कर्तव्य माना गया है और पहली पांच शताब्दियों के दौरान, सुन्नी मुसलमानों के बीच सैधांतिक और व्यवहारिक रूप से इज्तिहाद की प्रथा जारी रही। आज, आधुनिक युग में 'निकाह हलाला' पर एक बार पुनः इज्तिहाद की आवश्यकता जान पड़ती है। मुस्लिम धार्मिक उलेमाओं की यह जिम्मेदारी बनती है कि वे 'हलाला प्रथा' का इज्तिहाद के माध्यम से कोई हल निकालें ताकि मुस्लिम महिलाएँ इस्लाम द्वारा प्रदत्त मानव अधिकारों के साथ गरिमापूर्ण जीवन जी सकें। आज महिलाएँ आर्थिक, शैक्षिक एवं सामाजिक रूप से सुदृढ़ हो रही हैं। शिक्षा के बढ़ते हुए स्तर ने उनमें जागरूकता पैदा की है। ऐसे में महिलाएँ उन कानूनों को चुनौती देने लगी हैं जो उनके मानवाधिकारों का हनन करते हैं। इसमें सभी धर्मों की महिलाएँ शामिल हैं।

इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि 'निकाह हलाला' मुस्लिम महिलाओं के गरिमा को समाप्त कर उनके शोषण में अहम भूमिका निभाता है। हलाला का दर्दनाक तरीका, तत्क्षण तीन तलाक का घिनौना परिणाम है। हलाला की प्रक्रिया न केवल महिलाओं के मानव अधिकारों का हनन करती है बल्कि यह इस्लाम द्वारा मुस्लिम महिलाओं को प्रदान किए गए अधिकारों की भी विरोधी है। हलाला के रूप में पति के किए का दंड व्यभिचार के रूप में पत्नी को देना कहीं से भी उचित नहीं है। इस्लाम ने महिलाओं को समाज में अत्यंत ही सम्मानजनक स्थान देते हुए उनका आदर और सम्मान करने की बात कही है। यह प्रथा भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों की भी विरोधी है। ऐसे में मुस्लिम समुदाय द्वारा जागरूक होते हुए इस प्रथा को समाप्त करने पर विचार किया जाना चाहिए। अब मुस्लिम महिलाएँ भी जागरूक हो रही हैं और कई बड़े बंधनों को चुनौती दे रही हैं। तत्क्षण तीन तलाक की लड़ाई वे कानून के माध्यम से जीत चुकी हैं<sup>17</sup>, वे हलाला जैसे स्त्री विरोधी परम्परा के खिलाफ हैं। और देखा जाए तो यह सदी औरतों की सदी है एवं औरतें देश और दुनिया में बड़े बदलाव की वाहक बन रही हैं।

संदर्भ :

1. पवित्र कुरान, आयत 4:1, सूरह अन-निसा।
2. पवित्र कुरान, आयत 4:32, सूरह अन-निसा।
3. <https://en.m.wikipedia.org> देवदासी।
4. पवित्र कुरान, आयत 2:230, सूरह बकरह।
5. पवित्र कुरान, आयत 2:228, सूरह बकरह।
6. पवित्र कुरान, आयत 2:232, सूरह बकरह।
7. महमूद, ताहिर 'मुस्लिम लॉ इन इंडिया एंड अब्रॉड (2016)', प्रकाशक: लेक्सिक नेक्सिक लॉ पब्लिशिंग, हरियाणा।
8. अली, जीनत शौकत 'एम्पावरमेंट ऑफ वीमेन इन इस्लाम: विथ स्पेशल रिफरेन्स तो मैरिज एंड डाइवोर्स' (1987), प्रकाशक: वकिल्स, फेफफेर एंड सिमोंस एल०टी०डी०, मुंबई।
9. मुतहहरी, मुर्तदा 'द राइट्स ऑफ वीमेन इन इस्लाम' (1981), अनुवादित और प्रकाशित: वर्ल्ड आर्गेनाइजेशन फॉर इस्लामिक सर्विसेज, तेहरान, ईरान : 65
10. सलाम, जिया उस 'निकाह हलाला : स्लीपिंग विथ ए स्ट्रेंजर' (2020), ब्लूमसबरी पब्लिशिंग इंडिया, नई दिल्ली।
11. पवित्र कुरान, आयत 4:19, सूरह अन-निसा।
12. पवित्र कुरान, आयत 65:6, सूरह तलाक।
13. भारतीय संविधान के भाग 3 का अनुच्छेद 14.
14. भारतीय संविधान के भाग 3 का अनुच्छेद 15(1) एवं 15(3)
15. भारतीय संविधान के भाग 3 का अनुच्छेद 21-जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा का अधिकार।
16. इज्तिहाद अरबी शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है प्रयास करना। इस्लामी कानून में समस्याओं की स्वतंत्र व्याख्या विद्वतापूर्ण तर्क-वितर्क एवं सहमती द्वारा करना और ऐसा करने वालों को मुजतहिद कहा जाता था।
17. दी मुस्लिम वीमेन (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स ऑन मैरिज) एक्ट, 2019.



## अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद : गैर-राज्य कारक एवं राज्य आतंकवाद

○ पुष्पलता कुमारी

समाज विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ केवल सत्ता के नियंत्रण में हों, ये जरूरी नहीं हैं। सत्ता से इतर अनेक सकारात्मक व नकारात्मक शक्तियाँ होती हैं जो निरंतर सत्ता को चुनौती देती हुई अपने वजूद को परिभाषित करती रहती हैं। इन शक्तियों का गहरा संबंध भावनात्मक मनोवेग से है। इन्हें किसी विशेष लक्ष्य के लिए संघर्ष करते हुए देखा जा सकता है। संघर्ष की प्रकृति इनके स्वस्थ मनोदशा पर निर्भर करती है। अगर मन स्वस्थ है तो संघर्ष की दिशा सकारात्मक और मानव जीवन के लिए कल्याणकारी होगी। ऐसे संघर्ष को आजादी की लड़ाई या ज़ेहाद कहते हैं। लेकिन, अगर मन अस्वस्थ, संकीर्ण, स्वार्थी, कुटिल, कलुषित और रूढ़िवादी है तो संघर्ष की प्रकृति विध्वंसक व हिंसक होगी। ऐसी नकारात्मक शक्तियों को 'आतंकवाद' के नाम से जाना जाता है।

मानव सभ्यता के विकास के आरंभ से ही सत्ता (राज्य) और सत्ता के समानांतर राज्येतर शक्तियाँ सक्रिय रही हैं। इन दोनों शक्तियों ने एक दूसरे को न केवल प्रभावित किया, बल्कि शक्ति संतुलन बनाए रखने में अहम भूमिका अदा की। एक तरफ राज्येतर शक्तियों ने सत्ता को मानवविरोधी होने से रोका, तो दूसरी तरफ राज्य शक्ति ने राज्येतर शक्तियों को अनियंत्रित नहीं होने दिया। इस तरह दोनों शक्तियाँ एक दूसरे से प्रभावित होतीं और करती रहीं, जिससे समाज में अधिकार और कर्तव्य के परस्पर व्यापार से व्युत्पन्न व्यवस्था विकसित हुई। राज्येतर शक्तियाँ सदैव से व्यवस्थापक शक्तियों (राज्य शक्ति) को जनता पर हावी होने से रोकती रही हैं। दूसरे शब्दों में ये जनता की प्रतिरोधी शक्ति है जिसके भय से सत्ता पक्ष प्रताड़क होने से पहले सौ बार सोचता है। यही कारण है कि समय समय पर विभिन्न समुदायों के बीच विकसित होने वाली वैचारिकी में स्वतंत्रता, ज़ेहाद जैसे शब्द अस्तित्व में आए, जिनका स्पष्ट संबंध जनता के बीच पनपने वाली शक्तियों से रहा। मानव-कल्याण को अपना परम लक्ष्य घोषित करने वाली वैचारिकी में स्वतंत्रता के लिए किए गए संघर्ष को सर्वोपरि महत्व दिया गया। सर्वोपरि महत्व बगैर भावनात्मक मनोवेग के संभव नहीं। अतः ज़ेहाद और आजादी जैसी चीजें भावनात्मक मनोवेग से जुड़ गयीं। भावनात्मक मनोवेग अपने चरम पर जाकर अहिंसक नहीं रह जाते। इस स्थिति में आकर एक ज़ेहादी अपनी जान की परवाह तक नहीं करता। जो अपनी जान की परवाह नहीं करता, वह दूसरों की भी नहीं कर सकता। यहीं से ज़ेहाद और आजादी के संघर्ष में आतंक जैसे शब्द के लिए स्पेस बनता है, जो आज विकसित होकर विश्व आतंकवाद के रूप में विध्वंस और हिंसा का पर्याय बन चुका है।

प्राचीन काल में आजादी की लड़ाई लड़ने वाले या ज़ेहाद करने वाले लोग एक बड़ी शक्ति से संघर्ष

करते थे, जिनसे जीतने के लिए भावनात्मक शक्ति की आवश्यकता होती थी। वह शक्ति उन्हें उनकी धार्मिक आस्था से मिलती थी। धर्म जनता में विश्वास का रक्त संचार करता है और एकता की शक्ति से लैस करता है। अतः ज़ेहाद और आजादी की अनेक लड़ाइयाँ इस सूत्र से जीती गईं। इस रास्ते चलकर निरीह सी जनता को इतिहास ने बड़ी-बड़ी जीतों से नवाजा। फलतः सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक कलुषित व स्वार्थी लोगों को एक ऐसा आसान और अचूक सूत्र प्राप्त हुआ जो कालांतर में आतंकवाद का कारण बना। इस तरह मानव कल्याण के लिए समर्पित शक्तियाँ न जाने कब हिंसक व अकल्याणकारी हो गईं, पता ही नहीं चला। खास बात यह है कि यह आज भी यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि कौन ज़ेहादी है और कौन आतंकी। दावा तो सबका एक ही है- कल्याण का, आजादी का, शोषणमुक्ति के लिए संघर्ष का, ज़ेहाद का, धर्म की रक्षा का।

वस्तुतः जब हम आतंकवाद की परिभाषा तलाशने की कोशिश करते हैं तो हमारे हाथ में जो तथ्य लगते हैं, वे द्वि-अर्थी भाषा बोल रहे होते हैं। एक तरफ वे मानवता के लिए संघर्ष का संकेत देते हैं तो दूसरी तरफ अशांति, विध्वंस और हिंसा का। ऐसी स्थिति में आतंकवाद की मुकम्मल परिभाषा दे पाना कठिन है। अब तक इसके लिए अनेक प्रयास हुए, पर सफलता नहीं मिली। मसलन, '1975 में यू.एन. के जेनेवा सम्मेलन में आतंकवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। परंतु आतंकवाद को परिभाषा के घेरे में नहीं बांधा जा सका, क्योंकि आतंकवाद का संबंध भावना से है। एक, जिसे अतंकवाद मानता है, दूसरा उसे आजादी की लड़ाई और दमन के विरुद्ध संघर्ष मानता है।' ऐसे में एक मत से आतंकवाद की परिभाषा निश्चित करना मुश्किल है। जब किसी चीज की परिभाषा देना कठिन हो जाए तो उसका लक्षण बताकर संतोष कर लिया जाता है। आतंकवाद के संदर्भ में विद्वानों ने यही रास्ता अपनाया है। उन्होंने परिभाषा की शक्ल में आतंकवाद के लक्षणों को उद्घाटित किया है; यथा,

“यह पहचाने शत्रु और गैर पहचाने शत्रु में कोई भेद नहीं करता। दो देश की सेनाएँ जब युद्ध करती हैं तो आमने सामने खड़े शत्रु को पहचानती हैं। युद्ध की अपनी नैतिकता होती है। उसके शत्रु सेना दूसरे पक्ष के ठिकानों, उसके शस्त्र भंडारों, उसकी स्प्लाई लाइनों आदि चीजों पर तो आक्रमण करती हैं किंतु सामान्य नागरिक, उनके ठिकाने, उनकी संपत्ति आदि को निशाना नहीं बनाया जाता। आतंकवाद युद्ध की मुद्रा तो बनाता है, युद्ध का उन्माद भी पैदा करता है, किंतु वह शत्रु से आमने-सामने नहीं लड़ता। उसमें इतनी क्षमता नहीं होती है। इसलिए वह शत्रु से निपटने के लिए नरम निशाने ढूँढ़ता है। सबसे नरम निशाना आम इंसान है। आतंकवाद के हाथों सुरक्षा सैनिक बहुत कम मारे जाते हैं, निरीह जनता इसका अधिक शिकार बनती है। लोगों को बसों से उतारकर मार डालना, दूर-दराज के किसी गाँव में सोते हुए लोगों को जगाना, उनकी हत्या कर देना, किसी भीड़-भाड़ वाले बाजार में बम विस्फोट कर निर्दोष लोगों की जान ले लेना जैसे कितने ही ढंग हैं जिन्हें दुनिया भर में फैले आतंकवादी प्रयोग में लाते हैं।”<sup>2</sup>

इस उद्धरण से आतंकवाद की परिभाषा प्राप्त नहीं होती। इसमें आतंकवाद के लक्षणों की ही चर्चा है और इन लक्षणों में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता, जिससे यह कहा जा सके कि ये आजादी के लिए किया जाने वाला संघर्ष है, अथवा ज़ेहाद है। दूसरी जगह, जब आतंकवाद को परिभाषित करने की कोशिश की जाती है तब स्वाभाविक रूप से यह अर्थ निकालना कठिन हो जाता है कि यह आतंकवाद है या ज़ेहाद। मसलन, 1939 में 'कन्वेंशन आन प्रिवेन्शन एंड पनीशमेंट' द्वारा आतंकवाद को परिभाषित करते हुए उन अपराधिक कृत्यों को आतंकवाद के अंतर्गत रखा गया जो किसी राज्य के विरुद्ध उन्मुख होकर कुछ खास लोगों या जनमानस के मन में भय या आतंक पैदा करता हो।<sup>3</sup> किसी राज्य के विरुद्ध उन्मुख होकर

कुछ खास लोगों या जनमानस के मन में भय पैदा करना आतंकवाद ही हो, जरूरी नहीं हैं। वह आजादी का संघर्ष भी हो सकता है। आजादी या दमन के खिलाफ संघर्ष में अनेकशः ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिसकी चर्चा परिभाषा में की गई है। अतीत की प्रायः घटनाएँ, जिनका संबंध आजादी की लड़ाई या दमन के खिलाफ संघर्ष से रहा है, आतंकवाद की शक्ल लिए हुए दिखाई पड़ती हैं और हम उस लड़ाई को अत्यंत गर्व से याद करते हैं। मुख्यतः ये कि आतंकवाद की परिभाषा देते समय हमें ये स्मरण रखना होगा कि आतंकवाद और दमन के खिलाफ संघर्ष का स्वरूप समान होता है, फर्क केवल मकसद को लेकर है। ध्यातव्य है कि कोई भी कार्य अपने आप में न अच्छा होता है और न बुरा। मूल चीज किसी कार्य के पीछे की प्रेरणा और उसकी नीयत है। नीयत के आधार पर ही किसी कार्य की अच्छाई व बुराई का मूल्यांकन किया जा सकता है। केवल कर्म के आधार पर किसी चीज की सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती। आतंकवाद की अवधारणा के संदर्भ में यही बातें मुख्य हैं, जिसके कारण इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती। फिर भी विद्वानों ने इसके लक्षणों को ध्यान में रखते हुए सर्वमान्य परिभाषा देने की कोशिश की है। सुविधा के लिए आतंकवाद की इस परिभाषा को अपनाया जा सकता है,

*“आतंकवाद आमतौर पर छोटे समुदायों और राजनीतिक महत्वाकांक्षियों के द्वारा उठाया जाने वाला वह कदम है जिसके द्वारा वे समाज, देश और विश्व में आतंक पैदा करके अपने लक्ष्यों के लिए व्यापक जनमत तैयार करना चाहते हैं तथा इसके माध्यम से शासन एवं देश पर प्रभाव डालकर अपनी मांगों को पूरा करने का प्रयास करते हैं। इसका शिकार प्रायः निर्दोष जनता होती है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक जीवन की व्यवस्था में घबराहट पैदा हो जाती है।”<sup>14</sup>*

इस परिभाषा के अनुसार आतंकवाद कलुषित राजनीतिक महत्वाकांक्षा का परिणाम है, जो मुक्ति आंदोलन की शक्ल में राज्य एवं सामान्य जनता को निशाना बनाता है। लेकिन वर्तमान समय में आतंकवाद केवल कलुषित राजनीतिक महत्वाकांक्षा तक सीमित नहीं रह गया है। इसकी सीमाएँ अत्यंत विस्तीर्ण हो चुकी हैं। अब यह अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक ऐसे छाया युद्ध को अंजाम देने लगा है, जिसके अंतर्गत साम्राज्यवादी, पूंजीवादी एवं औद्योगिक शक्तियों की महत्वाकांक्षा पूरी होती है। आतंकवाद के इस व्यापक स्वरूप का नाम ‘अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद’ है, जिसने अपने विकट रूप का परिचय 11 सितम्बर, 2001 को अमेरिकी घटना को सफल अंजाम तक पहुँचाकर दिया।

### **आतंकवाद के प्रकार :**

आतंकवाद की एक ही प्रवृत्ति है, डर के वातावरण का निर्माण। इसलिए इसके प्रकारों का निर्णय इसकी प्रवृत्ति के आधार पर करना कठिन है। हाँ, इसके विस्तार को आधार बनाया जा सकता है। विस्तार के आधार पर प्रायः इसके चार प्रकार बताए जाते हैं—

1. व्यक्तिगत आतंकवाद
2. क्षेत्रीय आतंकवाद
3. राष्ट्रीय आतंकवाद
4. अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद

व्यक्तिगत आतंकवाद शक्तिशाली शत्रु से प्रतिशोध अथवा न्यायोचित मांग को पूरी करने के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला अतंकवाद है। इसी का विस्तृत रूप क्षेत्रीय आतंकवाद है। क्षेत्रीय अतंकवाद एक राष्ट्र के भीतर विभिन्न भाषायी क्षेत्रों या सांप्रदायिक समूहों की तरफ से अपनी विविध मांगों के लिए आयोजित

किया जाता है। उदाहरणार्थ उत्तरी आयरलैंड की आयरिश रिपब्लिकन पार्टी, इटली की रेड आर्मी या रेड ब्रिगेड, जर्मनी का बादेरमैन हैफ गैंग, स्पेन का फ्रीडम फार द वास्कये होमलैंड, श्रीलंका का लिट्टे, भारत का खालिस्तान कमांडो फोर्स, नागा और मिजो विद्रोह, उल्फा तथा जे.के.एल.एफ आदि संगठन क्षेत्रीय आतंकवाद के रूप में सक्रिय हैं। ऐसे आतंकवादी संगठन एक निश्चित लक्ष्य के लिए और निश्चित क्षेत्र में सक्रिय होते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य उस क्षेत्र के शासन को कमजोर करना, जनता में भय व्याप्त करना, अपने प्रभाव का विस्तार करना और अपनी मांगों के आगे सरकार झुका देना होता है।<sup>5</sup> क्षेत्रीय आतंकवादी संगठन में प्रायः बेरोजगार युवक, सामाजिक अपमान से पीड़ित व्यक्ति, धार्मिक उन्माद से प्रभावित व शिकार आदमी, विदेशी प्रलोभन से आकर्षित व्यक्ति शामिल रहते हैं। क्षेत्रीय आतंकवाद से आगे बढ़कर आतंकवाद का एक विस्तृत रूप राष्ट्रीय आतंकवाद का है। यह अपने देश की आजादी और जातीय अस्मिता के लिए संघर्षरत संगठनों का आतंकवाद की शक्ल में किया गया विद्रोह है। इसकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि “जब किसी राष्ट्र में कोई स्वतंत्रता चाहने वाली जातीयता अथवा विदेशी सरकार को हटाकर स्वदेशी सरकार स्थापित करने वाले संगठन आतंकवाद का सहारा लेकर अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं तो वह राष्ट्रीय आतंकवाद कहलाता है।”<sup>6</sup> हालाँकि, राष्ट्रीय आतंकवाद किसी देश की भौगोलिक सीमा के भीतर अपनी गतिविधियों को संचालित करता है। इसके बावजूद ऐसे आतंकवाद को विभिन्न देशों से विविध प्रकार की मदद मिलती रहती है; जैसे, हथियार, धन, शरण आदि। राष्ट्रीय आतंकवाद को मदद करने वालों में चीन, पाकिस्तान, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, सीरिया, ईरान और ईराक का नाम उल्लेखनीय है।

**अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद :** अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद का अर्थ है विभिन्न देशों के आतंकवादी संगठनों का आपस में जुड़ जाना। इस तरह का प्रयास तभी होता है, ‘जब कोई संगठन अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए विश्व जनमत की आवश्यकता महसूस करता है। विश्व जनमत को प्रभावित करने के लिए आतंकवाद एक आसान रस्ता दे सकता है। अतः वह संगठन अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद की राह पकड़कर जनमत को प्रभावित करने का प्रयास करता है। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद का प्रयोग किसी दूसरे देश में सरकार का तख्ता पलटने के लिए किया जाता है, या उसके विरुद्ध कार्रवाई के लिए। जाहिर है ऐसे मामले में राष्ट्र विशेष या राष्ट्रों की सरकारों के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए अन्य देशों की सरकारों का समर्थन मिला होता है। तो कार्रवाई को अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद कहते हैं। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के अंतर्गत एक व्यक्ति अथवा किसी संगठन के द्वारा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक देशों में किसी समान लक्ष्य की पूर्ति का भी प्रयास किया जाता है।<sup>7</sup> इस संदर्भ में इस्लामिक आतंकवाद उल्लेखनीय है।

अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद की ये विशेषता है कि वह विभिन्न देशों के आतंकवादी संगठनों के साथ संबंध रखता है। भारत के ‘उल्फा’ का संबंध श्रीलंका के ‘लिट्टे’ से, यूरोप के आतंकवादी संगठनों का पी.एल.ओ. (फलीस्तीन मुक्ति संगठन) से, दक्षिण अफ्रिका के ए.एन.सी. का स्वापो से, पंजाब के खालिस्तान समर्थक संगठनों का और कश्मीर के जे.के.एल.एफ. आतंकवादियों का पाकिस्तान के आतंकवादियों से गहरा संबंध रहा है। इस तरह अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद विश्व फलक पर व्यापक उपस्थिति दर्ज करते हुए अपने स्वरूप में अत्यंत भीषण होता है। यह विश्व के किसी भी हिस्से में कभी भी भयावह स्थिति पैदा कर सकता है। कई बार यह कई देशों को एक साथ अपने निशाने पर लेता है; जैसे, खाड़ी युद्ध के समय सद्दाम ने फलीस्तीनी मुक्ति मार्च के विश्वव्यापी संगठन से आतंकी हमले की अपील की थी, जिसके फलस्वरूप एक साथ विश्व के कई देशों में अमेरिकी दूतावास तथा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों के इर्द-गिर्द बम विस्फोट

हुए।

अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद केवल सशस्त्र कार्यवाही के लिए ही नहीं किया जाता है। यह मानवता का सबसे बड़ा दुश्मन है और मानवता को क्षति पहुँचाने के लिए अनेक प्रकार के तरीकों का इस्तेमाल करता है। इस संदर्भ में यह धर्म, विचार, ज्ञान-विज्ञान के आधार पर आम जनता को गुमराह करने से लेकर मानव तस्करी, यौन-व्यापार, मानव-अंग-व्यापार एवं जहर परोसने में निष्णात होता है। इस आधार पर भी इसके कुछ स्वरूप-भेद हैं, जिन्हें निम्नांकित नामों से पहचाना जाता है -

**संजाति राष्ट्रवादी आतंकवादी :** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह अस्तित्व में आया। धार्मिक आतंकवाद के फैलने से पहले इसका प्रमुख प्रभाव रहा। इसके बारे में डेनियल बाइमेन ने कहा है कि संजाति राष्ट्रवादी जानबूझकर हिंसा करते हैं। आम तौर पर उपराष्ट्रवादी नैतिक समूह अलग राज्य के निर्माण के लिए या फिर अन्य आतंकवादी समूहों से खुद श्रेष्ठ प्रदर्शित करने के लिए आतंकी गतिविधियों को अंजाम देते हैं। श्रीलंका में तमिल राष्ट्रवादी समूह तथा भारत के उत्तरपूर्वी राज्यों के आतंकी समूह इसके उदाहरण हैं।

**धार्मिक आतंकवाद :** वर्तमान समय में पूरा विश्व धार्मिक स्तर पर कार्यरत आतंकियों से त्रस्त है। ये आतंकी संगठन हिंसा को एक नैतिक एवं पवित्र कर्म मानते हैं अथवा मानने पर मजबूर करते हैं। इनकी मान्यता है कि 'इनके द्वारा की गई हिंसा और अन्य आतंकियों द्वारा की गई हिंसा में काफी फर्क है। ये सच्चे जेहादी हैं और इनकी हिंसा एक प्रकार की इबादत है।' इस दार्शनिकता के कारण विश्व के बहुसंख्यक देश के लोग धार्मिक भावना के तहत आर्थिक एवं नैतिक समर्थन देते हैं। अतः धार्मिक आतंकवाद अन्य किसी भी प्रकार के अतंकवाद से ज्यादा खतरनाक, मानवताविरोधी और विनाशकारी है।

**विचार आधारित आतंकवाद :** आतंकवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी गतिविधियों को न्यायसंगत मानता है और अपनी लड़ाई को मानवता की लड़ाई कहता है। इसलिए वह निरंतर आजादी एवं जेहाद जैसे शब्दों का इस्तेमाल करता है। मानवता की रक्षा में जिन विचारों के तहत संघर्ष की बात की गई है, आतंकवाद उन विचारों का आश्रय लेकर अपनी लड़ाई को वाजिब लड़ाई का दर्जा देने का तर्क तलाश लेता है। यह काम धार्मिक विचारों के तहत ज्यादा आसान है। आधुनिक विचारों में मार्क्सवाद भी वर्ग-संघर्ष की बात करता है। अतः मार्क्सवादी विचारों के आग्रह में नक्सलवाद, वामपंथी आतंकवाद को एवं यथास्थितिवाद के आग्रह में दक्षिणपंथी आतंकवाद को जगह मिल गई है।

**वामपंथी आतंकवाद :** वामपंथी विचारधारा के अंतर्गत प्रायः ऐसे आतंकी संगठन परिगणित हैं, जो कृषक वर्ग के हितैषी के रूप में शासकीय अभिजन के विरुद्ध प्रतिहिंसा का नियोजन करते हैं। पिछले साठ-सत्तर वर्षों में अनेक बार ऐसा हो चुका है, और अब भी हो रहा है। हालाँकि, मार्क्स और एंजिल्स ने प्रतिहिंसा की जगह चेतनागत प्रतिरोध की बात की है। उनकी रचनाओं में शोषण पर आधारित पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष की बात की गई है, जिसको आधार बनाकर बाद के दिनों में वामपंथियों ने क्रांति के लिए हिंसा को जरूरी माना। इसी विचार के आधार पर वामपंथी अतंकी संगठन अस्तित्व में आए।

**दक्षिणपंथी आतंकवाद :** दक्षिणपंथी विचारधारा यथास्थितिवाद का पोषक है। इसके समर्थक क्रांतिकारी परिवर्तन को गैरजरूरी समझते हैं और कई बार क्रांति-समर्थक शक्तियों का दमन उनके लिए आवश्यक हो जाता है। उस स्थिति में वे आतंकवादी संगठनों की शरण में जाते हैं और भूतकालीन परिस्थितियों को संरक्षण देने की कोशिश करते हैं। कभी-कभार दक्षिणपंथी संजातीय/प्रजातीय विचार को भी अपना लेते हैं। ऐसी स्थिति में वे सरकार पर दबाव डालते हैं कि वह एक निश्चित क्षेत्र को अर्जित करे या अपने हस्तक्षेप से

उस क्षेत्र में अल्पसंख्यक-उत्पीड़न को रोके। उदाहरणार्थ जर्मनी में नाजी पार्टी का नाम उल्लेखनीय है। इसके अंतर्गत प्रवासी समुदाय के प्रति हिंसा भी परिगणित है। दक्षिणपंथ धर्म एवं संप्रदाय का समर्थन लेकर चलता है। जर्मनी में नाजीवाद और इटली में फासीवाद इसके उदाहरण हैं।

**राज्य प्रायोजित आतंकवाद :** राज्य प्रायोजित आतंकवाद या छाया-युद्ध सैनिक-युद्ध की तरह काफी पुराने हैं। परंतु, साठ-सत्तर के दशक में अंतरराष्ट्रीय फलक पर इनकी व्यापक उपस्थिति देखी गई। वर्तमान समय में राज्य प्रायोजित अतंकवाद ने धार्मिक आतंकवाद की शक्ति में पूरे विश्व को हिला कर दिया है। पिछले कुछ दशकों से विश्व के अनेक देशों ने आतंकवाद को अपने विदेश नीति का हिस्सा बना लिया है। राज्य प्रायोजित मीडिया की नजर से दूर अन्य आतंकी गतिविधियों से भिन्न रास्ते पर चलता है। यह राष्ट्र-विशेष की विदेश नीति का अनुसरण करते हुए अपने लक्ष्य को अंजाम देता है। यह सीमित साधनों में काम करते हुए अपराध के संदर्भ में अत्यंत प्रभावी साधन है। इसकी पहचान लक्ष्य को सर्वाधिक हानि पहुँचाने वाले के रूप में की गई है।

राज्य प्रायोजित आतंकवाद मुख्य रूप से 19वीं सदी में मध्य एशिया में व्याप्त था। इसका प्रयोग अनेक राष्ट्रों ने अपने स्वार्थ के लिए दूसरे राष्ट्रों के खिलाफ किया है। उदाहरणार्थ, रूसियों ने बाल्कन में स्लेभ का समर्थन किया, बुल्गारिया ने मेसीडोनिया के क्रांतिकारी आतंकी का यूगोस्लाविया के प्रथम विश्वयुद्ध में इस्तेमाल किया, अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य शक्तियों ने शीतयुद्ध के दौरान राष्ट्रवादी एवं साम्यवाद विरोधी बागियों का समर्थन किया। इतना ही नहीं सोवियत संघ ने भी लगभग इसी समय इसी तरह की गतिविधियों को अपने लक्ष्य-साधन में प्रयोग किया। इसके अलावा ईरान, ईराक, सूडान, लीबिया, उत्तरी कोरिया जैसे देश भी अपने दुश्मन राज्यों के खिलाफ इस तरह की गतिविधि को संचालित करने में लगे रहते हैं। आजादी के बाद से भारत भी पाकिस्तान की तरफ से संचालित ऐसी गतिविधियों का निरंतर शिकार है।

**नाकों आतंकवाद :** नाकों आतंकवाद शब्द का प्रथम प्रयोग सन् 1983 में पेरू के राष्ट्रपति बेलुन्डे टेरी ने किया। टेरी ने मादक द्रव्यों के चोरबाजारी करने वालों के अभियान के अतंकी पद्धति का विवेचन करते हुए कहा कि वे कोलंबिया एवं पेरू के पुलिस अधिकारियों के द्वारा चोरबाजारी रोकने के खिलाफ आतंकी कार्यवाही करते हैं; मसलन, हत्या, अपहरण, कारबम आदि का इस्तेमाल कर पुलिस अधिकारियों के बीच दहशत पैदा करना फिर इसका फायदा उठाकर चोरबाजारी संलिप्त हो जाना।

नाकों आतंकवाद को परिभाषित करते हुए कनाडा की सुरक्षा एवं बौद्धिक सेवा का कहना है कि 'मादक पदार्थों की चोरबाजारी करने वालों का उद्देश्य होता है, 'हिंसा या धमकी का इस्तेमाल कर सरकार की नीतियों को प्रभावित करना। नाकों आतंकवाद का इस्तेमाल आतंकवाद को वित्तीय पोषण के लिए भी किया जाता है।

यह आतंकवाद मुख्य रूप से दो गतिविधियों को जोड़ता है, 'मादक पदार्थों की चोरबाजारी एवं आतंकी हिंसा।' नाकों आतंकवाद के जरिए आतंकवादी संगठनों को भरपूर साधन एवं धन उपलब्ध होते हैं, जिसके बल पर वे विश्व में व्यापक हिंसा को अंजाम दे सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अंतरराष्ट्रीय अतंकवाद का उद्देश्य अनेक शक्तियों में राजनीतिक, धार्मिक, वैचारिक एवं जातीय आश्रय प्राप्त कर विश्व शांति के लिए खतरा पैदा करना और उसका डर दिखाकर मुट्ठी भर महत्वाकांक्षी लोगों के लक्ष्य-प्राप्ति का साधन बनना है।

## अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद का विकास :

इतिहास के गह्वर में जाकर देखें तो पता चलता है कि आतंकवाद की उत्पत्ति नेक उद्देश्य से हुई थी। इसने साम्राज्यवादी ताकतों के भ्रष्ट प्रशासन को कड़ी चुनौती देने का काम किया। परंतु मानवीय एवं नैतिक मूल्यों से पतित राजनेताओं ने अपनी सत्तालोलुपता को अतंकवाद के सहारे पूरा किया। इस प्रवृत्ति ने आतंकवाद को विकास का रास्ता दिखाया और वर्तमान में यह विकास की उस अवस्था को प्राप्त हो चुका है, जहाँ विश्वशांति इसके सामने नतशीर्ष है।

पिछले 25-30 वर्षों के दौरान अंतरराष्ट्रीय अतंकवाद अपने प्रभाव में काफी आगे निकल चुका है। यह विकास के तीसरे चरण में है और चौथे चरण के लिए संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। प्रथम चरण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वजूद में आया, जिसके अंतर्गत 'आतंकवादी थका देने की रणनीति अपनाते थे। इसलिए ये विमान अपहरण, दूतावास हथियाना, दूतावास कर्मियों को बन्धक बनाना जैसी कार्यवाहियाँ करते थे। दूसरे चरण में अतंकियों ने अपनी पहचान कायम करने की कोशिश की। इसके लिए वे तरह-तरह का कुचक्र करते थे। आइरिश रिपब्लिक आर्मी और फिलीस्तीनी गिरोहों के कारनामों इसके उदाहरण हैं। तीसरे चरण के अतंकवादी बेखौफ होकर दुनिया में दहशत का माहौल बना चुके हैं।<sup>8</sup>

अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद में सबसे ज्यादा दहशत इस्लामिक आतंकवाद का है। इस्लामिक आतंकवाद का सबसे भयानक चेहरा 11 सितम्बर, 2001 की अमेरिकी घटना के रूप में विश्व देख चुका है। 'इस्लामिक आतंकवाद का केन्द्र पाकिस्तान है और वहाँ से यह अफगानिस्तान की ओर गया।'<sup>9</sup> हालाँकि, इस्लामिक आतंकवाद को बढ़ावा देने में शिया कट्टरवादी ईरान और सुन्नी कट्टरवादी सूडान का योगदान ज्यादा है। इनके बाद यह जिम्मेदारी पाकिस्तान ने संभाल ली है। पाकिस्तान इस्लामिक आतंकवाद का केन्द्र बना, क्योंकि बेरोजगारी और सामाजिक अस्थिरता का दौर लंबे समय से बरकार था। विश्व में भूमंडलीकरण का दौर आरंभ होने पर मुस्लिम देशों ने अपनी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से निपटने के लिए सैद्धांतिकी के रूप में उग्र इस्लाम का सहारा लिया; क्योंकि सोवियत रूस के विघटन के बाद विश्व में साम्यवादी विचारधारा कमजोर हो गई। इसका फायदा उठाकर चरमपंथी इस्लामिक संगठनों को अपना राजनीतिक अरमान पूरा करने का मौका मिल गया। विषम सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से निपटने के लिए उनके पास कोई रास्ता नहीं था। अतः उन्होंने उग्र इस्लाम का सहारा लेकर जनता को अपने पक्ष में करने की कोशिश की। इस प्रयास में उनके द्वारा इस्लामिक आतंकवाद का भूमंडलीकरण आसान हुआ। इस अवसर का फायदा उठाकर इस्लामिक कानून के आधार पर इस्लामिक साम्राज्य स्थापित करने का सपना ओसामा-बिन-लादेन जैसे चरमपंथी देखने लगे। लादेन के पास अरबों की संपत्ति थी। इसलिए वह अंतरराष्ट्रीय अतंकवाद को बेमिसाल ताकत देने में सफल रहा। 11 सितम्बर, 2001 को उसने अपने ताकत की सबसे बड़ी आजमाइश की। उसने अपने आश्रयदाता देश पर आतंकी हमला किया और वर्ल्ड ट्रेड सेंटर एवं पेंटागन को निशाना बनाया।

9/11 का हमला लादेन की दूरदर्शिता का परिणाम नहीं था, बल्कि उसकी लापरवाही थी। उसे पता था कि इसका परिणाम क्या हो सकता है, परंतु मसीहा बनने का सपना कब किसी बड़े दुस्साहसिक कदम का कारण बन जाए कहा नहीं जा सकता। और सबको पता है कि लादेन के दुस्साहस का क्या परिणाम निकला। विचारणीय है कि लादेन जिस परिणाम के शिकार हुए उससे 9/11 की घटना का आसार खत्म हो गया है? अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू. बुश ने जिस तरह से इस्लामी जेहाद का सामना किया उससे भले ही उनके द्वारा किया गया वादा पूरा हो गया हो, और उनकी छवि एक मसीहा की हो

गई हो, परंतु उनकी कार्रवाई को जेहादियों को अमेरिका पर हमले का निमंत्रण ही माना जाएगा।

### **विश्व के प्रमुख आतंकवादी संगठन :**

वर्तमान समय में आतंकवाद संपूर्ण विश्व के लिए एक विकट समस्या बन चुका है। जॉर्ज डब्ल्यू बुश अमेरिकी संसद में अपने भाषण के जरिए अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ एक आवाज उठाई। उसके बाद विश्व के प्रायः देशों में आतंकवाद से निपटने की तैयारी होने लगी या कम से कम बात होने लगी। अब यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो चुकी है कि आतंकवादी चेहरे अपने संकल्प को चाहे जितना पाक और पवित्र साबित करने की कोशिश करें, उनका ईरादा नेक नहीं हैं। वस्तुतः इनका न कोई चेहरा है, न कोई धर्म और न कोई पवित्र लक्ष्य। ये संसार के किसी भी भाग में किसी भी लक्ष्य के लिए हिंसा फैला सकते हैं। ताज्जुब इस बात का होना चाहिए कि ये जिसके नाम पर जेहाद या आजादी की लड़ाई लड़ते हैं, उन्हीं की आजादी छीनते हैं, उन्हीं का खून बहाते हैं, और उन्हीं के कौम को अशिक्षा, बेरोजगारी तथा मादकता का जहर परोसते हैं। इस तरह का काम करने में जिन संगठनों विश्वस्तरीय ख्याति पायी है, उनमें से कुछ प्रमुख संगठनों की सूची इस प्रकार है -

1. फलस्तीन इस्लामिक जेहाद : पश्चिम एशिया के गाजा पट्टी क्षेत्र में सन् 1970 में इस संगठन का वजूद सामने आया। इसका मुख्य उद्देश्य इस्लामिक फलीस्तीन का निर्माण करना है। इस गुट ने इजरायल के खिलाफ सन् 2000 में तीन हमले किए, जिनमें इजरायल के प्रमुख ठिकानों, पश्चिमी किनारे और गाजा पट्टी शामिल हैं। यह गुट इजरायल, जार्डन और लेबनान में अपना केन्द्र बनाए हुए है।
2. फलस्तीन मुक्ति फंट : फलस्तीन के एक उग्रवादी गुट से अलग होकर 1970 में यह फंट सामने आया। इस गुट का मुख्यालय पहले ट्यूनीशिया में था, अब ईराक में है। इसे पहले लीबिया और अब ईराक से समर्थन मिल रहा है।
3. अलगामा अल इस्लामिया : इसे इस्लामिक गुप भी कहा जाता है। इसकी स्थापना 1970 में हुई। इसका पूरे विश्व अपना नेटवर्क है। इस गुट का आध्यात्मिक नेता शेख उमर अब्द अल-रहमान है। इसने 1995 में अदीस अबाबा में मिस्र के राष्ट्रपति होस्नी मुबारक की हत्या के प्रयास का दावा किया था। इसने अमरीकी हितों पर हमले नहीं किए पर धमकी अवश्य दी है।
4. फलस्तीन मुक्ति संगठन : इस संगठन का उदय 15 मई, 1948 में इजरायल के जन्म के साथ शुरू हुआ। इसके अध्यक्ष यासिर अराफात थे। यह संगठन अलकायदा के साथ मिलकर भी काम करता है।
5. इस्लामिक हथियारबंद गुप (जी.आई.ए.) : इस इस्लामिक गुप का मकसद धर्मनिरपेक्ष अल्जीरिया सरकार का तख्ता पलटकर इस्लामिक मुल्क बनाना है।
6. हमास (इस्लामी प्रतिरोधक आंदोलन) : यह 1987 में गठित हुआ। इसका मकसद राजनीतिक व हिंसक विकल्पों के जरिए इजरायल की जगह स्वतंत्र इस्लामी फलस्तीन देश निर्माण करना है। इसके सदस्य मस्जिदों एवं सामाजिक संस्थानों से अपनी गतिविधियों का संचालन करते हैं। इनके कार्य-क्षेत्र गाजा पट्टी और पश्चिमी तट है। हमास के कार्यकर्ता 'इज्ज एल-दीन अल-कासम ब्रिगेट के तहत इजरायल के खिलाफ आत्मघाती हमलों में भी शामिल होते हैं। 1990 के आरंभ में इस गुट ने फलस्तीनी सहयोगियों और प्रतिद्वंद्वी फतह गुट पर भी हमले किए थे।

7. **हरकत उल-मुजाहिदीन** : आरंभ इस संगठन का नाम 'हरकत-उल-अंसार' था। इसका मुख्यालय पाकिस्तान में है और यह कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देता है। इसके मुखिया का नाम फजलुर रहमान खलीली रहमान हैं, जिनका बिन लादेन से बहुत अनछा संबंध था। खलीली वर्तमान में हरकत उल-मुजाहिदी के महासचिव है और वर्तमान मुखिया फारुक कश्मीरी है। यह संगठन 1993 में पैदा हुआ और जल्द ही अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद का हिस्सा बन गया। सन् 1995 में इसने अल-फरान से मिलकर 5 विदेशी पर्यटकों का अपहरण किया था। 24 दिसम्बर, 1999 का इंडियन एयरलाइंस के विमान अपहरण में भी इस संगठन का हाथ बताया जाता है।
8. **मुजाहिदीने कालिक** : ईरानी व्यापारियों के स्कूल जाने वाले साहबजादों ने सन् 1960 में इस संगठन की स्थापना की थी। यह संगठन मार्क्स और इस्लाम के मिश्रण से उपजे विचार को आधार बनाकर विकसित हुआ और ईरान में सर्वाधिक सक्रिय हथियारबंद विद्रोही गुप के रूप में प्रसिद्धि पायी। इस गुप को तेहरान में अमेरिकी दूतावास पर कब्जा करने वालों का समर्थन रहा है। अप्रैल, 1992 में इसने विदेशों में 13 ईरानी दूतावासों पर हमले किए। इस हमले से इस गुप की शक्ति और प्रभाव सामने आया। इस गुप के कई हजार सदस्य हैं, जिन्हें विदेशों से पर्याप्त मदद मिलती है। 1980 में ईरानी सुरक्षा बलों की कार्यवाही के कारण इसगुप के नेता देश छोड़कर भाग गए थे, जिनमें से अधिकतर तो ईराक में जाकर बस गए। 1990 में ईरान में हिंसक घटनाओं की जिम्मेदारी इस गुप ने ली थी।
9. **अल-फतह** : इसे अल-असीफा के नाम से भी जाना जाता है। यह विश्व के प्रसिद्ध आतंकवादी संगठनों में से एक है। इसकी स्थापना 1959 में मिश्र की राजधानी काहिरा में सक्रिय छात्र नेताओं द्वारा की गई। 1968 में यासर अराफात के पी.एल.ओ. में शामिल किया गया। 1982 में लेबनान पर इजरायली हमलों के दौरान यह अनेक देशों में फैल गया। इसके दो नेता- अबू-जिहाद और अबू-इयाद की कुछ वर्ष पहले हत्या कर दी गई। इस संगठन की भूमिका अन्य संगठनों को प्रशिक्षण देने में भी रही है। इसने पश्चिम यूरोप और मध्य-पूर्व में कई हिंसक वारदातों को अंजाम दिया है। 1993 में यासर अराफात ने इजरायल के साथ एक समझौता किया। उसके उपरांत इस संगठन की हिंसक गतिविधियाँ बंद हो गईं।
10. **जमात उल फिक्रा** : पाकिस्तान के एक मुल्ला शेख मुबारक अली गिलानी ने इस संगठन की नींव डाली। गिलानी स्वयं तो पाकिस्तान में रहता है, परंतु उसके गुट के बहुसंख्यक सदस्य उत्तरी अमेरिका और कॅरेबियन देशों में सक्रिय हैं। इस गुट की वैचारिक मान्यता है कि हिंसा के जरिए इस्लाम को पवित्र किया जा सकता है। इस गुट के सदस्य अमेरिका में जमीन खरीदकर सुरक्षित भवनों में रहकर अपनी वैचारिकी को जीवित रखने का प्रयास करते हैं।
11. **अल्जीरियाई उग्रवादी गुट** : अल्जीरिया में अनेक आतंकवादी गुट हैं, इस्लाम का झंडा लिए मौजूदा धर्मनिरपेक्ष सरकार को हटाने की कोशिश करते रहे हैं। इस प्रयास में वे अनेक हिंसात्मक घटना को अंजाम दे चुके हैं। 1992-93 के दौरान अनेक घटनाओं में लगभग 1500 लोगों की हत्याएँ इस गुप ने की।
12. **अल जिहाद** : यह संगठन 1970 में सक्रिय हुआ। ओसामा बिन लादेन के अल-कायदा से इसके निकट के संबंध थे। इसका उद्देश्य मिश्र की सरकार को उखाड़ फेंकना और इस्लामी राज्य कायम

करना है। यह संगठन मिश्र में इजरायली और अमेरिकी ठिकानों पर हमले करता है। विदेशों में तोड़-फोड़ की कार्यवाही करता है। 1981 में राष्ट्रपति अनवर सादात, 1993 में आंतरिक मंत्री हसन उल अलफी और नवम्बर 1993 में प्रधानमंत्री अतेफ सेदकी के कत्ल का आरोप इसी संगठन पर है।

13. मुताहिदा-जेहाद-काउंसिल : इसका दूसरा नाम यूनाइटेड जेहाद काउंसिल है। इसकी स्थापना पाकिस्तान में नवम्बर, 1990 में हुई थी। इसका मुख्य काम उग्रवादी संगठनों को प्लेटफॉर्म प्रदान करना है।
14. हिज्ब-उल मुजाहिदीन : यह कश्मीर घाटी को कैडर आधारित देशी-विदेशी उग्रवादियों का सबसे बड़ा संगठन है। इसे पाकिस्तान से भरपूर समर्थन और सहयोग मिलता है। इसके अंदर 800 आतंकी काम कर रहे हैं।
15. लश्कर-ए-तैयबा : यह संगठन कश्मीर को निशाना बनाने वाला सबसे खतरनाक संगठन है। यह सुरक्षा बलों को चुन-चुनकर अपना निशाना बनाता है। इसके सिपाही भारतीय सिपाहियों की वर्दी पहनते हैं और कारगिल युद्ध के पश्चात् कश्मीर में हिंसक वातावरण के निर्माण की जिम्मेदारी इसी संगठन ने ली।

इन आतंकी संगठनों के अतिरिक्त विश्व पटल पर प्रभावी आतंकी संगठनों में जैश-ए-मोहम्मद, दीनदार अंजुमन, सिपाह-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-जज्वार, अल-बद्र, हिजबुल्लाह, अल-जमायत-अल-इस्लामिया, तहरीके-जेहाद, अबू निदाल संगठन (ए.एन.ओ.), अबू सैयाफ ग्रुप (ए.एस.जी.) अरब संगठन, हिरावल कतारजापानी लाल सेना, आयरिश रिपब्लिकन आर्मी का नाम उल्लेखनीय है।

### **9/11 की घटना और उसके बाद :**

11 सितम्बर, 2001 को अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद का सबसे वीभत्स चेहरा देखने को मिला। इस तिथि को अलकायदा नामक आतंकवादी संगठन के एक समूह ने ओसामा बिन लादेन के निर्देशन में जिस घटना को अंजाम दिया उसे अब तक सबसे खतरनाक आतंकी हमला माना जाता है। इतनी बड़ी घटना को परिणाम तक पहुँचाने के लिए अमेरिका के चार हवाई जहाज का अपहरण कर उन्हें एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया गया। उन चार विमानों में से एक ने अमेरिका के हेडक्वार्टर पेन्टगन को लक्ष्य बनाया एवं दूसरे दो विमानों ने विश्व व्यापार केन्द्र को ध्वस्त कर दिया। चौथा विमान लक्ष्ययुत हो गया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि चौथे विमान का निशाना अमेरिकी राष्ट्रपति का निवास स्थान ह्वाइट हाउस था।

9/11 की घटना ने अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद को इस्लामी जेहाद का पर्याय बना दिया है। निश्चित रूप से अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के अनेक रूप वजूद में हैं, परंतु आज के समय में आतंकवाद का नाम सुनते ही इस्लामी जेहाद की तस्वीर जेहन में उतर आती है। यह अबतक की सबसे बड़ी घटना है, जिसमें 500 मनुष्यों की 10 धर्मों के और 40 देशों के लोगों की मृत्यु हुई।<sup>10</sup> इस घटना के बाद ही संयुक्त राष्ट्र संघ ने आतंकवाद को गंभीरता (?) से लिया और सुरक्षा प्रस्ताव संख्या 1373 के अनुनछेद द्वारा पुष्ट किया।<sup>11</sup> अब यह पूरी तरह स्पष्ट हो गया है कि दुनिया का ताकतवर से ताकतवर देश भी आतंकवाद से अकेले मुकाबला नहीं कर सकता। अतः 9/11 के अगले ही दिन यानी “12 सितम्बर को सुरक्षा परिषद ने सुरक्षा प्रस्ताव संख्या 1368 अपनाया, जिसकी प्रस्तावना में सामान्य रूप से कहा गया कि आतंकवादी कार्रवाइयों ने अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरे में डाल दिया है, और ‘सभी उपायों द्वारा’ उनका सामना करने का निश्चय किया

गया है। इसमें सशस्त्र बल के उपयोग की भी बात कही गई। इसके अतिरिक्त, प्रस्ताव के अनुरूप व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार को मान्यता देते हुए पहली बार आतंकवादी गुटों द्वारा आतंकी कार्रवाइयों के खिलाफ सैन्य आत्मरक्षा को मान्यता दी गई।”<sup>12</sup>

28 सितम्बर, 2001 को सुरक्षा परिषद ने प्रस्ताव संख्या 1373 के तहत परिषद् के अधिकार को लागू करते हुए सदस्य देशों को अंतरराष्ट्रीय के खिलाफ विविध प्रकार के उपाय करने के लिए निर्दिष्ट किया है।<sup>13</sup> 12 सितम्बर, 2001 को परिषद् ने प्रस्ताव संख्या 1377 को भी अपनाया, जो मुख्य रूप से प्रस्ताव संख्या 1373 की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए देशों को सहयोग देने से संबद्ध था। इसके अंतर्गत परिषद की यह घोषणा है कि ‘अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद की कार्रवाइयाँ इक्कीसवीं शताब्दी में अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के प्रति सबसे गंभीर खतरा है, साथ ही सभी देशों और पूरी मानवता के लिए एक चुनौती है।’<sup>14</sup> इस प्रस्ताव में अंतरराष्ट्रीय अतंकवाद से लड़ने के लिए एक स्थायी और व्यापक दृष्टिकोण की भी पुष्टि की गई है।

इस प्रकार 9/11 की घटना के बाद अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ विश्व के देशों में लामबंद की प्रक्रिया देखी जा सकती है। सुरक्षा परिषद के द्वारा किए गए उक्त प्रयासों के साथ अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद से लड़ना सुरक्षा एजेंडे की प्राथमिकता बन गई है। इन प्रयासों के फलस्वरूप अंतरराष्ट्रीय, खासकर इस्लामिक जेहाद’ अपने पुराने शिविरों में लौटने लगे हैं। मसलन, इस्लामिक जेहाद का केन्द्र पाकिस्तान था, वहाँ से वह अफगानिस्तान की ओर गया। तालिबान के पतन के बाद पुनः वह पाकिस्तान के प्रशिक्षण शिविरों एवं मदरसों में शरण ले चुका है। अब वह अंतरराष्ट्रीय से राष्ट्रीय स्वरूप को ग्रहण कर अपने वजूद को बचाने की जद्दोजहद में हैं। 2010 के बाद से सांप्रदायिकता ने भूमंडलीकरण के प्रतिरोध स्वरूप राष्ट्रीय स्तर पर अपनी जड़ें जमाना शुरू कर दी हैं। यह विश्व के अनेकों देशों में हो रहा है। यह आतंकवाद का नया स्वरूप है। अमेरिकी मीडिया ने ऐसी गतिविधियों को आतंकवादी गतिविधि की संज्ञा दी है। उसके अनुसार भारत में भी सांप्रदायिकता ने आतंकवादी रवैया अपना लिया है, जिसे ‘भगवा आतंकवाद’ कहा जा सकता है। इस प्रकार की गतिविधियाँ विश्व के अन्य देशों में भी घटने लगी हैं, जहाँ भूमंडलीकरण का प्रतिरोध स्वदेशी के प्रसार के रूप किया जा रहा है, परंतु उसका स्वरूप आतंकवाद के समकक्ष है, जो वस्तुतः अपनी प्रकृति में राष्ट्रीय आतंकवाद है। समय रहते इधर ध्यान न दिया गया तो संभव है आने वाले दिनों में हिंदुस्तान भी पाकिस्तान की तर्ज पर एक नया पाकिस्तान बन जाए।

9/11 की घटना के बाद विश्व में आतंकियों से निपटने के लिए सभी देश लामबंद हुए और शक्ति संतुलन की स्थिति निर्मित हुई है। विश्व के किन्हीं बड़ी शक्तियों के टकराने की आशंका भी अब कम नजर आती है, इसके बावजूद खतरनाक हथियार और जनसंहार के सामान बढ़ते जा रहे हैं, यह चिंता का विषय है।

सारांशतः अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद गुमराह लोगों का एक हुजूम है जो चंद महत्वाकांक्षी लोगों की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक वर्चस्व की आकांक्षा को पूरा करने के लिए नियोजित किए जाते हैं। ऐसे संगठन पाक एवं पवित्र लक्ष्य की आड़ में अपने स्वार्थ को पाने की कोशिश करते हैं। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद मुख्य रूप से अंतरराष्ट्रीय राजनीति से प्रेरित व पोषित है। इसलिए इनकी गतिविधियाँ जनसमर्थन प्राप्त करने, शासन की सुरक्षा-व्यवस्था व मनोवैज्ञानिक स्थिति को छिन्न-भिन्न करने, जन विद्रोह की भावनाएँ भड़काकर जनता में शासन के प्रति असंतोष उत्पन्न करने आदि के इर्द-गर्द घुमती हैं। वस्तुतः

अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद एक प्रकार का छाया युद्ध है, जो साम्राज्यवादियों के हाथों की कठपुतली है और उन्हीं के मकसद के लिए समर्पित है।

संदर्भ :

1. डॉ. अश्विनी कुमार सिंह, कश्मीर समस्या : आतंकवाद और भारतीय सुरक्षा, 2012, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद : 72
2. वही : 74
3. वही।
4. प्रो. लल्लन सिंह, राष्ट्रीय रक्षा और सुरक्षा, 2006, प्रकाश बुक डिपो, बरेली : 59
5. प्रो. लल्लन सिंह, राष्ट्रीय रक्षा और सुरक्षा, 2006, प्रकाश बुक डिपो, बरेली : 60.
6. डॉ. अरुण कुमार राघव, 21वीं सदी की चुनौति : आतंकवाद से मुक्ति, प्रतियोगिता दर्पण, दिसम्बर 2001 : 249
7. डॉ. अश्विनी कुमार सिंह, कश्मीर समस्या : 75
8. वही : 81-82
9. मेजर जनरल विनोद सहगल, अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद, 2011, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली : 43
10. कैलाश, मनुष्य जाति के इतिहास का नया मोड़, दैनिक जागरण, बुधवार, 25.10.2001
11. मेजर जनरल विनोद सहगल, अंतरराष्ट्रीय अतंकवाद : 13
12. वही : 131
13. वही।
14. वही।



## लोकगीतों में संस्कार

### ○ वंदना

बिहार में बोली जाने वाली भाषाओं में भोजपुरी, मगही, अंगिका, बज्जिका एवं मैथिली अपने आप में एक श्रेष्ठ साहित्य समेटे हुए हैं। यहाँ के लोग अपनी भाषा, संस्कृति की रक्षा में सदैव तत्पर रहते हैं। इस क्षेत्र के लोग विश्व में जहाँ भी गये भारतीय संस्कृति को भी साथ ले गए, उसे जीवित रखा, उसे पुष्पित और पल्लवित किया। अतः लोकगीतों में हमेशा ही अपने क्षेत्र की सभ्यता, संस्कृति और परम्परा की सच्ची झलक मिलती है।

लोकगीत, लोक के गीत हैं। लोकगीतों में मानवीय मन की सहज अभिव्यक्ति होती है। इसलिए ये लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए होते हैं। सूर्यकरन पारिक के अनुसार, “आदिम मनुष्य के गानों का नाम लोकगीत है। प्राचीन जीवन की उसके उल्लास की उसकी उमंगों की, उसकी करुणा की, उसके समस्त दुख-सुख की कहानी इनमें चित्रित है।” लोकगीतों को मुख्यतः कुछ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे ऋतु गीत, व्रत गीत, जाति गीत, श्रम गीत, विविध गीत, संस्कार गीत इत्यादि। ऋतु सम्बन्धी गीतों में कजरी, चैती, हिंडोला, बारहमासा, छहमासा, फागुन, चैहट, मलार, फाग, चैतावर, इत्यादि होते हैं। व्रत सम्बन्धी गीतों के अन्तर्गत नागपंचमी, पिंडिया, गोधन, बहुरा, छठ गीत, सामाचकेबा, मधुश्रावणी, तीज आते हैं। इसी प्रकार जाति सम्बन्धी गीतों में अहीरों, दुसाधों, गोड़ों, घोबी, तेली, जट-जटिन, कहारों के गीत का उल्लेख मिलता है। श्रम सम्बन्धी गीतों में रोपनी, सोहनी, जतसार, चरखा, लगनी एवं कोल्हू को सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार विविध गीतों के अन्तर्गत झूमर लचारी, पूर्वी, निर्गुण, बटगवनी, गाथा गीत, भजन तथा खेल गीत आदि की चर्चा मिलती है।

देश के अन्य प्रांतों की तरह बिहार को भी सुसंस्कृत जीवन का समग्र निर्माण सोलह संस्कारों के माध्यम से होता है। इन संस्कारों के द्वारा समाज विशेष अपने सदस्यों को अपनी रीति-नीतियों के अनुसार संस्कारित कर अपने समाज के अनुकूल बनाता है। ऐसे अवसरों पर कुछ विशेष विधि-विधान, पूजा-पाठ किये जाते हैं। जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। देखने में साधारण लेकिन ये लोकाचार अपने में महत्वपूर्ण अर्थ छिपाये रहते हैं। इन अवसरों पर गाना बजाना, नाचना, स्वांग भरना, हास्य विनोद करना आदि में रंग भर देते हैं।

लोकगीतों में संस्कार गीत का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दू धर्म में जन्म से मृत्यु तक की अवधि में अनेक संस्कार किए जाते हैं। संस्कारों के अवसर पर धर्म ग्रंथों में संस्कारों की संख्या 40 तक बताई गई है परन्तु मुख्यतः 16 संस्कार प्रचलित हैं। सभी भारतीय भाषाओं के लोकगीतों में संस्कार गीत अपना विशेष स्थान

रखते हैं। संस्कार मूलतः दैहिक और आत्मिक शुद्धि के लिए किए जाते हैं। संस्कार गीतों के प्रमुख प्रचलित प्रकार के गीत के अन्तर्गत पुत्र जन्म, मुण्डन यज्ञोपवीत, विवाह, गवना और मृत्यु आदि के गीत आते हैं। सबसे पहले हम जानते हैं सोहर गीत के बारे में।

1. सोहर गीत : सोहर घर में संतान होने पर गाया जाने वाला मंगल गीत है। इन गीतों में संतान के जन्म, उससे संबंधित कहानियों और उत्सवों के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। संतान जन्म के बाद बधईया और खिलौना गाने का भी प्रचलन है सोहर, उल्लास और उमंग के गीत हैं। इसका उदाहरण :

“जुग जुग जियस ललनवा भवनवा के भाग जागल हो ललना लाल होइहे, कुलवा के दीपक, मनवा में आज के दिनवा सुहावन, रतिया लुभावन हो ललन दिदिया के होरिला जनमले, होरिलवा बड़ा सुन्दर हो।”<sup>2</sup>

2. छठी का गीत : पुत्र के जन्म के छठे दिन छठी मनाई जाती है। कुटुम्ब और परिवार जन को बुला कर सूर्य, चन्द्र, गंगा-जमुना, गृह-देवता, ग्राम देवता के चित्र की पूजा करते हैं। लोगों को कच्चा भोजन खिलाकर छठी के गीत गाते हैं जिसमें बाल के लिए शुभकामना देते हैं।
3. अन्नप्राशन गीत : छह महीने के बाद अन्नप्राशन किया जाता है। इसमें भी कुटुम्ब संबंधियों को बुला कर पूजा आदि कर के गीत गाते हैं। इसमें भी बालक के लिए शुभकामना गीत गाया जाता है।
4. मुण्डन गीत : हिन्दू धर्म के सोलह संस्कारों में मुंडन एक महत्वपूर्ण संस्कार है। इसे चूड़ाकर्म या चौलकर्म भी कहा जाता है। बालक के जन्म के विषय वर्षों में (एक, तीन, पाँच व सात) होता है। इन गीतों में बूआ को धन, आभूषण मिलने का वर्णन होता है। मुंडन गीत इस प्रकार है-

बराहम्न के नेओता पटाएब, पोयिया समेत चलि आवे

कन्हइया जी के मूंडन हे।

ओखरी में चउरा छँटाएब हे चकरी में दाल दराएब हे

कन्हइया जी के मूंडन हे।

हजमा के नेता पटाएब, हुरबा समेत चलि आवे

कन्हइया जी के मूंडन हे।

5. जनेऊ गीत : बालक के थोड़ा बड़े हो जाने पर उपनयन संस्कार है। [उपनयन संस्कार को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। इस होता है संस्कार के द्वारा ब्रह्मचारी विद्यार्थी गुरु के समीप लाया जाता है। प्राचीन काल में उपनयन संस्कार होते ही ब्रह्मचारी विद्यार्थी बालक को गुरुकुल में पढ़ने के लिए भेज दिया जाता था। यज्ञोपवीत संस्कार में ‘भिक्षा माँगना’ एक प्रधान विधि है। ब्रह्मचारी मूँज की करधनी और पलाश का दण्ड धारण करता है। वह आम की लकड़ी से बने खड़ाऊँ को पहनता है। वह बालक जनेऊ पहनता है और विद्यारम्भ के लिए प्रस्थान करता है। जनेऊ के गीतों की लय, ध्वनि और टेक बहुत ही सुन्दर होती है।]

बुन्देलखण्डी तथा मैथिली जनेऊ के गीतों में भी एक ही भाव-धारा प्रवाहित होता दिखाई देता है। मैथिली लोकगीतों में जनेऊ के अवसर पर बाँस का मण्डप तैयार करने का उल्लेख पाया जाता है। ऐसे अवसर पर जनेऊ गीतों में उदाह दिखाई देता है। उदाहरण के लिए जनेऊ गीत इस प्रकार है:

समवा बइठल रउरा कवन बाबा दहु बाबा हमरो जनेऊ गे माई।

बेदिया बइठल हो बरूआ रतन के जोत गे माई ॥

कई देबे मूँज जनेउआ केई मिरिगा छाल गे माई  
कई देबे पियर जनेउआ बेदिया के बीच गे माई।  
रतन के जोत गे माई ॥

### विवाह गीत:

विवाह सामाजिक व्यवस्था की एक आवश्यक कड़ी है। विवाह संबंधी संस्कार गीत पूरे भारतवर्ष में प्रचलित हैं। प्रत्येक क्षेत्र की भाषा में यह गीत विवाह के विभिन्न रस्मों के हिसाब से गाए जाते हैं। संस्कार गीतों में विवाह गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। विवाह के प्रारम्भ से ही मंगल गीतों का गायन शुरू हो जाता है। सबसे पहले अपने कुलदेवता के गीत गाए जाते हैं। विवाह के गीत वर और कन्या दोनों के घर में गाए जाते हैं। विवाह संस्कार सम्बन्धी कुछ रस्में जो वर एवं वधू के यहाँ होते हैं, वे इस प्रकार हैं-1. द्वार पूजा, 2. परिछन, 3. जयमाल, 4. मंडप के गीत, 5. अपबटन, 6. कुमार, 7. सिन्दुरदान 8 कन्यादान, 9 कोहबर, 10. भँवर, 11. डोमकछ, 12. समदाउनि, 13 चुमौन, 14 द्वार छेकाई, 15. कन्या निरीक्षण, 16. गारी, 17. माटी कोड़ाई, 18, कलसा गीत, 19. पैरपूजी गीत, 20. घीदारी गीत, 21. लावा भराई गीत, 22. नहछू गीत, 23, टोना गीत, 24, जोग मगई गीत 25. ओठंगर गीत, 26. कुमारम, 27. जेवनार, 28, गौना, 29 चउठारी गीत, 30. मथझक्की इत्यादि।

वर और कन्या दोनों ही पक्षों के यहाँ इस मांगलिक उत्सव की शुरुआत कुलदेवता के गीत और फिर हल्दी गीत से होती है। इसके बाद दोनों पक्ष के यहाँ सगुन उठता है विवाह के अवसर पर सभी बेटे बहनें नैहर बुला ली जाती हैं। शाम में महिलाओं की मंडली जमती है और भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कार गीत गाए जाते हैं।

जब बारात दरवाजे पर पहुँच जाती है तो महिलाएँ स्वागत गीत गाती हैं। एक तरफ गाली गीतों की बौछार लग जाती है और दूसरी तरफ परिछन गीत गाने की होड़ लगी होती है। गाली गीतों में बारातियों के लिए जहाँ अटपटे शब्दों का प्रयोग होता है वही दूल्हे के लिए सम्मानजनक और प्रिय शब्द होते हैं। परिछन में दूल्हे के रूप का वर्णन होता है। दूल्हे को नजर न लग जाय इसलिए भी ये गीत गाये जाते हैं। परिछन गा कर दूल्हे का स्वागत किया जाता है और उसकी आरती उतारी जाती है। परिछन के ये बोल बहुत ही लोकप्रिय है :

अवध नगरिया से अइले बरियतिया  
हाय रे जीयरा  
जनक नगरिया भइले सारे  
हाय रे जीयरा परीछन चलनी सासू सुहागिन हाय रे  
जीयरा जनक नगरिया भइले सोर  
हाय रे जीयरा

संस्कार गीतों में 'गारी' या 'गाली' गायन का विशेष महत्व है। उस वक्त तो हद हो ही जाती है जब खाने के समय महिलाएँ गाली नहीं गाती है और परिणाम स्वरूप अतिथिवर्ग रूठकर खाना छोड़कर चल देते हैं। इस प्रकार ये संस्कार गीत लोक संस्कृति के अनिवार्य अंग हैं। महिलाएँ इन गीतों को बड़ी तन्मयता और लयबद्धता के साथ गाती हैं। जैसे ही बारात दरवाजे लगती है 'द्वारपूजा' का गीत होता है। फिर दूल्हा घर के अन्दर प्रवेश करता है। विवाह गीतों में कुमार गीत गाया जाता है जो कन्या के लिए गाया जाता है। कन्या जब विवाह योग्य हो जाती है और उसके लिए वर ढूँढा जाता है। विशेषकर मिथिलांचल में कुमार

गाने की प्रथा है। कुमार के बोल इस प्रकार होते हैं:

सीता के सकल देखी

झुखथिन जनक रीषि आबे सीता रहथिन कुमार गे माई॥

मंडप गीत का गायन मंडप की तैयारी और शुभ समाचार का सूचक होता है। इन गीतों में मंडप की सुन्दरता का वर्णन मिलता है। इन गीतों में वर्णन होता है कि मंडल में उपयोग होने वाली लकड़ी कैसी होगी और मंडप कैसे सुन्दर से सुन्दर बनाया जाय। मंडप में हमेशा हरे बाँस की लकड़ी का प्रयोग होता है। हरे बाँस की लकड़ी हरियाली और जीवन में खुशहाली का सूचक होता है। मंडल गीत इस प्रकार है:

हरे हरे हरे दादा बैसवा कटइहा ऊँचे ऊँचे मड़वा छवइहा हो

ऊँचे ऊँचे मड़वा तर बैठिह हो दादा सजन लोग छेकले दुआर हो।

संस्कार गीतों में ‘ओठंगर’ तब गाते हैं जब दूल्हा मंडप पर विवाह के लिए लाया जाता है। ओठंगर की विधि के समय ऊखल में लगन के धान को रखा जाता है और वर सहित आठ विवाहित पुरुष द्वारा मूसल से कूटा जाता है। एक हाथ से इस धान के आठ चावल के दाने कूटकर निकालना होता है। इस अवसर पर प्रायः औरतें गीत गा-गा कर वर को गालियाँ भी देती हैं। इस गीत में दूल्हे के बँधाने और सोने के ऊखल में चाँदी की मूसल से आठ चोट से चावल छुड़ावे का उल्लेख मिलता है।

“चितचोखा आजु बन्हौलनि हे

सोना के उखरिया रूपा के मुसरबा आठे चोट में चाऊर छोड़ौलनि हे

चितचोखा आजु बन्हौलनि हे।”<sup>5</sup>

वर्तमान समय में जीवन आधुनिक संश्लिष्टता को निरंतर आत्मसात करता जा रहा है; ऐसे में किसी भी प्रकार के संस्कार को निभाना कठिन है। परन्तु कुछ संस्कार ऐसे हैं जिनके बिना अनुष्ठान अधूरा रह जाता है; जैसे- ‘सिन्दुरदान’, ‘कन्यादान’ इत्यादि। ‘सिन्दुरदान’ वह घड़ी है, जब महिलाओं की उपस्थिति में कन्या के माँग में वर सिन्दूर डालता है। सिन्दुरदान होते देखना शुभ माना जाता है। सिन्दुरदान के समय ये गीत सुनने को मिलता है:

सुन्दर बर यौ सिन्दुर धीरे सौ करिअउ ।

सुभक बर यौ सिन्दुर धीरे सौ करिअउ ॥

विवाह के गीतों में जहाँ आनन्द, उल्लास और उत्साह का वर्णन होता है वहीं कन्यादान के समय हृदय करुणा से भर उठता है। अब तक माता-पिता कन्या का भरण-पोषण, विकास, सुरक्षा, सुख-शान्ति, आनन्द उल्लास आदि का प्रबन्ध करते थे; अब वह प्रबन्ध वर और उसके कुटुम्बियों को करना होगा। कन्या नये घर में जाकर विरानेपन का अनुभव न करे, उसे स्नेह, सहयोग, सद्भाव की कमी का अनुभव न हो, इसका पूरा ध्यान देना होगा। कन्यादान का दृश्य बहुत मार्मिक होता है। इसके गीत सभी के आँखों को नम कर देते हैं; क्योंकि कन्या अपने कुल से वर पक्ष के कुल में चली जाती है। गीत के बोल इस प्रकार हैं:

जही दिन आगे बेटी तोहरो जनम भेल

नयनवों में आबई सुख नीन हो रामा।

नीनों ना आबई बेटी भूखों ना लगई

तारा गिनत भेल बिहान हो रामा॥

भाँवर या फेरे वो गीत होते हैं जिनमें वर्णन होता है जब दूल्हा और दुल्हन अग्नि की परिक्रमा करते

हैं। इन गीतों में सातो वचन निभाने की चर्चा होती है; उदाहरणार्थ—

पहली कियरिया में जौ बोये बाबुल  
दुसरी कियरिया में धान...

वर एवं कन्या पक्ष दोनों के घर में विवाह के विविध रस्मों के बाद कोहबर पूजन होता है। इसके दौरान कुछ विशेष संस्कार गीत भी गाये जाते हैं, जिन्हें कोहबर गीत कहा जाता है। कोहबर उस विशेष चित्रकारी को भी कहते हैं जो दूल्हा दुल्हन के कमरे की दीवार पर बनाया जाता है। इस चित्रकारी में कलश, आम के पल्लव का चित्र हरे भरे वृक्ष का चित्र सूर्य का चित्र, पान के पत्ते का चित्र, गंगा यमुना की धारा का चित्र होता है। चित्रकारी के मध्य भाग में लिख होता है:

जब लगी गंग जमुन की धारा  
अटल रहे अहीबात तुम्हारा

वधू के आगमन पर उसे इसी कक्ष में रखा जाता है। चित्रकारी में चावल के पिठार और हल्दी कुमकुम का भी प्रयोग किया जाता है। चित्रकला के सामने, जमीन पर बैठने का रस्म होता है। यहाँ स्त्रियाँ एकत्रित होती हैं, कोहबर गीत गाती हैं। इन गीतों में प्रेम भाव होता है। प्रेम और आकर्षण का वातावरण बनाया जाता है ताकि दूल्हा दुल्हन एक दूसरे से परिचित हो सकें; फिर उन्हें थोड़ी देर अकेले रहने की अनुमति मिलती है। कोहबर गीत इस प्रकार है:

अहलहू कवने दूल्हा  
दूरी रे गवनती से रे गवनवाँ  
बइठी गेलई ससुर दुआरि

विवाह के समय प्रायः सभी विधाओं की समाप्ति के बाद चुमावन या चुमौन की विधि सम्पन्न की जाती है। रिश्ते में बड़ी औरतें चुमावन की विधि में भाग लेती हैं। वर-वधू के चुमावन के समय परिवार के सदस्यों द्वारा अन्न धन लुटाने एवं शुभ शुभ होने का उल्लेख मिलता है। इस विधि को सम्पन्न करने के लिए कीबी का डाला सजाने, उसमें दूध (हरी घास) धान और अक्षत रख कर वर को चुमाने एवं आशीर्वाद देने की प्रथा है। चुमावन का गीत इस प्रकार है –

बजा बहू हे बिछिया धीरे धीरे  
चुमने ने चलली दादी सुहागिन  
चुमा बहू है ललना धीरे धीरे

विवाह सम्पन्न होने के उपरान्त बेटी की बिदाई का वक्त आता है। एक ओर माता-पिता खुश होते हैं कि बेटी का विवाह सम्पन्न हुआ; दूसरी ओर वे अत्यन्त दुखी होते हैं कि अब उनकी बेटी उनसे दूर कैसे रह पायेगी। जिस पुत्री को माता-पिता अपने साथ रख उसका पालन पोषण करते हैं अब वह दूसरे घर में कैसे रहेगी? इस समय मिथिलांचल में समदाउन गाने की प्रथा है। भोजपुर में विदाई गीत गाया जाता है जो अपने आप में बहुत मार्मिक होता है। इस अवसर के गीत बहुत हृदयस्पर्शी होते हैं। समदाउन के शब्द इस प्रकार हैं :

सूतल छलिगाई बाबा के भवनवा  
अचके में आयल कहार

जब कन्या ब्याह करके अन्यत्र वधू बनकर जाती है, तब अपने साथ स्थानीय लोकाचार, लोकगीत,

लोकगाथा, रीति व्यवहार आदि अपने साथ अदृश्य रूप से लेकर जाती है। कालान्तर में मायके ससुराल की संस्कृति में मेल मिलाप होता है और संस्कृति इन संस्कार गीतों के माध्यम से अपने जूड़े में एक और पुष्प टाँक लेती है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक असंख्य संस्कार लोक की परम्परा प्रचलित है। लोकगीत मानव मन की सहज भावना को उजागर करते हैं। जीवन के हर छोटे-बड़े संस्कार से जुड़े इन गीतों में जीवन के अनुभव दिखते हैं। दीनानाथ सहनी के अनुसार, “संस्कार गीत मनुष्य की वह परछाईया जो मनुष्य की उत्पत्ति के समय से ही किसी ना किसी रूप में संघ चली आ रही है। लोकगीतों में लौकिक सभ्यता लौकिक रीतिरिवाज एवं परम्परा का प्रतिबिम्ब झलकता है। प्रकृति के शान्त सरल वातावरण में, हरे लहलहाते खेतों में सरिता तट के रेतीली भूमि में, मेघाच्छादित नम मण्डल नीचे इन गीतों की रचना होती है। प्रकृति के सन्निकट होने के कारण इनमें झरने की स्वच्छता, फूलों का हास वृक्षों की उदारता, नदी का प्रवाह, वर्षा की सजलता, बसन्त का सौरभ, सूर्य का प्रकाश, कोयल की मिठास सुनाई देती है।”

वर्तमान जीवन शैली ज्यों-ज्यों आधुनिक होती जा रही है जीवन मूल्य भी बदल रहे हैं। समय परिवर्तन के साथ विकास हर ओर दिखता है। ग्रामीण परिवेश में देखते तो खेती किसानों पर अब कम लोग निर्भर है। लोगों का पलायन शहरों की ओर होता जा रहा है। लोक भाषाओं, लोकगीतों और विभिन्न संस्कारों को लोग शोध-पत्र में पढ़कर जान रहे हैं। हम सब की ये जिम्मेवारी होगी कि अपनी लोक भाषाओं और विभिन्न प्रकार की लोक संस्कृति को, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है संस्कार गीत, हम अनमोल धरोहर की तरह संरक्षित करें। इन्हें व्यावहारिक जीवन में अनुष्ठानों में ज्यादा से ज्यादा प्रयोग करें, सहेज कर रखें। इनका लोकाचार बना रहे ताकि आने वाली पीढ़ी इस संस्कार गीतों का आनन्द ले सके और इन गीतों की मूल अभिव्यक्ति बनी रहे।

सन्दर्भ :

1. भोजपुर क्षेत्र को प्रचलित गीत विधाएँ, डा. विजय कपूर
2. लोकगीत ( भोजपुरी ) कविता कोश
3. भोजपुरी संस्कार गीत [info@jogiza.com](mailto:info@jogiza.com)
4. भोजपुरी संस्कार जीत :[https://www.exoticindiaart.com/book Samskar-geet-xare-book-NZC184](https://www.exoticindiaart.com/book/Samskar-geet-xare-book-NZC184)
5. लोकगीत ( मैथिली ) कविता कोश



## प्रेमचंद की कहानियों के हिंदी-उर्दू पाठ की समानता (प्रेम-प्रतिमा और फ़िरदौसे-ख़याल की कहानियों के संदर्भ में)

### ○ आशुतोष पार्थेश्वर

1915 के आस-पास से प्रेमचंद हिंदी और उर्दू, दोनों भाषाओं में एक समान सक्रिय हो गए। उन्होंने कुछ आरंभिक उर्दू कहानियों को हिंदी रूप देना शुरू किया और वे कहानियाँ ‘सप्त सरोज’ (1917), नवनिधि (1917) और ‘प्रेम पूर्णिमा’ (1919) जैसे संग्रहों में संकलित हुईं। हिंदी से उर्दू और उर्दू से हिंदी में रचनाओं के रूपांतरण का यह सिलसिला प्रेमचंद ने जीवन के अंत तक जारी रखा। रचनाओं के रूपांतरण की यह प्रक्रिया कई रूपों में दिखती है। कहीं पात्रों के नाम बदलते हैं, उनके संवाद बदलते हैं, मुहावरों और सूक्तियों में परिवर्तन आता है तो कई बार रूपांतरण का अंतराल यानी तत्कालीन युग-परिवेश भी कहानी के ‘पाठ’ में अंतर ला देता है और कहानी विशेष चमक से भरी हुई दिखाई देने लगती है। प्रेमचंद प्रायः कहानी के क्राफ़्ट या बाह्य ढाँचे में परिवर्तन नहीं करते। भाषायी रूपांतरण की प्रक्रिया में वह परिवर्तन स्वतः होता हुआ लग सकता है। कई बार भाषायी रूपांतरण महज शाब्दिक रूपांतरण तक सीमित है और वह बहुत सहज और प्रवाही है तो, कई बार वह बड़ा कमज़ोर, सायास और कृत्रिम नज़र आता है।

इस लेख में हिंदी संग्रह ‘प्रेम प्रतिमा’ (1926) और उर्दू संग्रह ‘फ़िरदौसे-ख़याल’ (1929) में संकलित कहानियों की तुलना का प्रयास किया गया है। ‘प्रेम प्रतिमा’ में कुल उन्नीस कहानियाँ संकलित थीं—मनुष्य का परम धर्म, विचित्र होली, सत्याग्रह, वज्रपात, मुक्ति मार्ग, मुक्ति धन, सौभाग्य के कीड़े, क्षमा, भूत, दीक्षा, शतरंज के खिलाड़ी, विनोद, सवा सेर गेहूँ, डिक्री के रूपए, सभ्यता का रहस्य, भाड़े का टट्टू, लैला, गुरुमंत्र, बाबाजी का भोग।<sup>1</sup> इनमें से ‘गुरुमंत्र’ और ‘बाबाजी का भोग’ शीर्षक कहानियों के इस संग्रह में संकलित होने से पूर्व हिंदी में अन्यत्र प्रकाशित होने की सूचना अब तक उपलब्ध नहीं है।

इन उन्नीस कहानियों में से ग्यारह कहानियाँ ‘फ़िरदौसे-ख़याल’ (1929) में रूपांतरित होकर संकलित हुईं। वे कहानियाँ हैं—तोबा (दीक्षा), अप्प (क्षमा), मुरीदी (गुरुमंत्र), नेकबख़्शी के ताज़ियाने (सौभाग्य के कीड़े), राहे-निज़ात (मुक्ति मार्ग), डिग्री के रूपए (डिक्री के रूपए), नज़ूले-बर्क (वज्रपात), भाड़े का टट्टू (भाड़े का टट्टू), भूत (भूत), सवा सेर गेहूँ (सवा सेर गेहूँ), तहज़ीब का राज़ (सभ्यता का रहस्य)। ‘फ़िरदौसे-ख़याल’ के परवर्ती संस्करणों में ‘लैला’ को भी सम्मिलित कर लिया गया। इस तरह ‘प्रेम प्रतिमा’ की बारह कहानियाँ इस संकलन में प्रस्तुत हुईं।

‘फ़िरदौसे-ख़याल’ की कहानियों के हिंदी-उर्दू पाठ की तुलना कुछ उद्देश्यों से की जा रही है। पहला, यह कि हम प्रेमचंद की हिंदी और उर्दू की परस्परता देखें, उनका नैकट्य और दूरी देखें। दूसरा यह कि

उनकी हिंदी और उर्दू का 'स्ट्रिंग प्वाइंट' क्या है? तीसरा यह कि तीसरे दशक की ये कहानियाँ, जब स्वतंत्रता आंदोलन ज़ोरों पर था, प्रेमचंद अपनी हिंदी और उर्दू दोनों को किस रूप में गढ़ रहे थे। एक लेखक के रूप में अपने पाठकों को वे किस तरह की भाषा का उदाहरण दे रहे थे या कहें कि वे पाठकों को कैसी भाषा सिखा रहे थे।

## 1. वज्रपात ( नुजुले-बर्क )

हिंदी में यह कहानी पहली बार 'माधुरी' पत्रिका के मार्च 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ में कुछ शब्दों के रूपांतरण के अतिरिक्त कोई विशेष बदलाव नहीं है। नादिरशाह के दिल्ली आक्रमण की पृष्ठभूमि पर लिखी इस कहानी के हिंदी पाठ में भी पात्रों के संवादों में उर्दू शब्दों का मुखर प्रयोग है। कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ से कुछ अंशों की तुलना प्रस्तुत है :

क. हिंदी-दिल्ली की गलियाँ दिल्ली निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतंक जमा रखा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उनकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचंड क्रोध किसी भाँति शांत ही नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके कोप की आग को बुझा नहीं सकती।

उर्दू-दिल्ली की गलियाँ बाशिंदगाने-शहर के खून से तर हो रही हैं। नादिरशाह की फौज ने सारे शहर में आफत बरपा कर रखी है। जो कोई सामने आ जाता है, तलवार के घाट उतार दिया जाता है। नादिरशाह का आतिशीं गुस्सा किसी तरह फ़िरो नहीं होता। खून की बारिश भी उसके गुस्सा की आग को ठंडा नहीं कर सकती।

तुलना-'दिल्ली निवासियों' को उर्दू में 'बाशिंदगाने-शहर', 'रुधिर से प्लावित' को 'खून से तर', 'आतंक जमा रखा' को 'आफत बरपा', 'प्रचंड क्रोध' को 'आतिशीं गुस्सा', 'रक्त की वर्षा' को 'खून की बारिश', 'कोप' को 'गुस्सा' से बदला गया है। स्पष्ट है कि उर्दू पाठ, हिंदी पाठ का शाब्दिक अनुवाद है और इस रूपांतरण में हिंदी पाठ का प्रभाव पूरी तरह सुरक्षित है।

ख. हिंदी-शेर ने दिल पर चोट किया। पत्थर में भी सूरख होते हैं; पहाड़ों में भी हरियाली होती है; पाषाण हृदयों में भी रस होता है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया।

उर्दू-शेर ने दिल पर चोट की। पत्थर में भी सूरख होते हैं, पहाड़ों में भी मुनब्वरी होती है, संगदिलों में भी नरमी होती है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया।

तुलना-उर्दू में हिंदी के 'हरियाली' को 'मुनब्वरी', 'पाषाण हृदयों' को 'संगदिलों', 'रस' को 'नरमी' से बदला गया है। इस रूपांतरण में प्रेमचंद हिंदी से इतर कोई अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करते। बल्कि मूल भाव को सुरक्षित और उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं।

ग. हिंदी-मुल्क न सही, अधिकार न सही, सेना न सही; पर जिंदगी भर की स्वेच्छाचारिता एक दिन में नहीं मिट सकती। यदि नादिर को हीरा न मिला, तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढावे।

उर्दू-मुल्क न सही, इक्तेदार न सही, फौज न सही, मगर तमाम उम्र की खुदमुख्तारी एक रोज़ में नहीं मिट सकती। अगर नादिर को हीरा न मिला तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढाए।

तुलना-'मुल्क' दोनों पाठ में है। 'अधिकार' का 'इक्तेदार' तथा 'सेना' का 'फौज' से रूपांतरण शाब्दिक अनुवाद है। किंतु 'जिंदगी भर की स्वेच्छाचारिता' को 'तमाम उम्र की खुदमुख्तारी' से बदलना अनुवाद मात्र नहीं है। यह देखना चाहिए कि 'जिंदगी' को 'उम्र' से बदलने पर क्या प्रभाव पड़ा? क्या इससे

कोई खास अंतर आया? यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि 'जिंदगी भर की स्वेच्छाचारिता' की तुलना में 'तमाम उम्र की खुदमुख्तारी' का प्रयोग अधिक कलात्मक और प्रवाहयुक्त है। हिंदी प्रयोग इसकी तुलना में सायास लगता है।

घ. हिंदी—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा खौफ़ मालूम होता है, गोया किसी शेर का सामना हो।

उर्दू—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा खौफ़ मालूम होता है गोया किसी शेर की कुरबत हो। (उर्दू)

तुलना—'खौफ़', 'मालूम', 'गोया' दोनों पाठ में हैं। किंतु, अंतिम अंश देखें; 'कुरबत' का अर्थ सामीप्य या नैकट्य होता है। यानी, यहाँ मामला केवल आमने-सामने का नहीं है। नादिरशाह का सामीप्य भी भयोत्पादक है। स्पष्ट है कि यहाँ भी उर्दू पाठ, हिंदी की तुलना में तनिक अधिक व्यंजक बन पड़ा है।

ड. हिंदी—मगर नादिरशाह हीरा न पाकर भी दुखी न था। सबसे हँस-हँसकर बातें करता था, मानो शील और विनय का साक्षात अवतार है।

उर्दू—मगर नादिरशाह हीरा ना पाकर भी मग़मूम न था। सबसे हँस-हँसकर बातें करता था। गोया रहमो-इन्किसार का मुजस्समा है।

तुलना—'शील और विनय' को उर्दू में 'रहमो-इन्किसार' से बदला गया है। यहाँ 'शील' और 'रहम', दोनों समानार्थी नहीं हैं।

च. हिंदी—शाहज़ादा विजयी होकर लौटा, तो प्रजा ने बड़े समारोह से उसका स्वागत और अभिवादन किया। सारा तेहरान दीपावली की ज्योति से जगमगा उठा। मंगल गान की ध्वनि से सब गली और कूचे गूँज उठे। (हिंदी)

उर्दू—शहज़ादा फ़तह पाकर लौटा तो रिआया ने निहायत धूम-धाम से उसका इस्तेक़बाल व ख़ैर मक़दम किया। सारा तेहरान चरागों की रोशनी से जगमगा उठा। खुशी के नग़्मों से शहर का कूचा-कूचा गूँज उठा।

तुलना—हिंदी पाठ में 'बड़े समारोह' है और उर्दू में 'निहायत धूम-धाम'। कहना न होगा, हिंदी प्रयोग, उर्दू की तुलना में तनिक शुष्क है। अपनी बात को मुहावरे का रूप देने और व्यंजक बना देने की उनकी सिद्धता यहाँ उर्दू में अधिक है। एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि उर्दू में 'दीपावली की ज्योति' को उन्होंने छोड़ दिया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह छोड़ना क्या मात्र इसलिए कि वे तत्समता से मुक्त होना चाहते थे, या कारण यह है कि 'दीपावली' का धार्मिक-सांस्कृतिक संदर्भ है जो हिंदी पाठ में तो निभ गया, किंतु उर्दू में उसे निभाने में कठिनाई होती।

हिंदी पाठ में 'गली' है और कूचे' भी। यह वैविध्य उर्दू में नहीं है। हालाँकि, इससे प्रभाव में न्यूनता नहीं आती।

## 2. मुक्तिमार्ग ( राहे-निजात )

हिंदी में यह कहानी पहली बार 'माधुरी' पत्रिका में अप्रैल 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ से कुछ अंशों की तुलना प्रस्तुत है :

क. हिंदी—सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुंदरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है।

उर्दू—सिपाही को अपनी सुर्ख पगड़ी पर, हसीना को अपने ज़ेवर पर और तबीब को अपने पास बैठे हुए मरीजों पर जो ग़रूर होता है वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है।

**तुलना**—उर्दू पाठ, हिंदी पाठ के शाब्दिक अनुवाद का उदाहरण है।

ख. **हिंदी**—बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किंतु लौटने में अपनी हेठी समझता था।

**उर्दू**—बुद्धू बातें तो बड़ी लजाजत से कर रहा था, मगर लौटने में अपनी कसरे-शान समझता था।

**तुलना**—उर्दू अंश, हिंदी पाठ का अनुवाद है। किंतु, ‘हेठी’ के न होने से पाठ का देशज प्रभाव उर्दू में नहीं उभर पाता।

ग. **हिंदी**—बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था।

**उर्दू**—बुद्धू भी घर का मजबूत आदमी था।

**तुलना**—‘पोढ़ा’, प्रौढ़ का तद्भव रूप है। यह प्रयोग हिंदी के स्वभाव के अनुकूल है। उर्दू प्रयोग में यह तद्भवता नहीं है। ‘पोढ़ा’ कहने में कई भाव आते हैं। उसमें दृढ़ता है और मजबूती भी। प्रेमचंद ऐसे प्रयोगों से हिंदी के भांडार को समृद्ध करना चाहते थे और साथ ही खड़ी बोली हिंदी का स्थानीय भाषाओं से जीवंत संवाद करना चाहते थे। यह प्रवृत्ति उनके समूचे कथा साहित्य में उपस्थित है।

घ. **हिंदी**—वास्तव में, हम किसानों का कल्याण दबे रहने में है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता।

**उर्दू**—असल में हम किसानों का भला दब कर रहने ही में है, भगवान को भी हमारा सर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता।

**तुलना**—हिंदी में ‘कल्याण’ है और उर्दू में ‘भला’। हिंदी में ‘ईश्वर’ है और उर्दू में ‘भगवान’। ये बदलाव स्वाभाविक हैं।

ड. **हिंदी**—आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलमी भरी गई। दोनों आदमी पत्थर के सिलों पर लेटे और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—“तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।”

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—जानता हूँ। थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—“बछिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।”

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—“जानता हूँ।” फिर दोनों सो गए।

**उर्दू**—आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ तैयार कीं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने नमक मिर्चे के साथ रोटियाँ खाईं। फिर चिलमी भरी गई। दोनों आदमी पत्थर के सिलों पर लेटे और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।

झींगुर ने मज़ाक़ आमेज़ लहजे में कहा—जानता हूँ।

ज़रा देर बाद झींगुर बोला—बछिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था। बुद्धू ने भी उसी लहजे में कहा—जानता हूँ।

फिर दोनों सो गए।

**तुलना**—पाठ की अभिन्नता का यह सुंदर उदाहरण है। उर्दू अंश में कुछ ही शब्द बदले हुए हैं। ‘विनोद’ को ‘मज़ाक़ आमेज़’ तथा ‘भाव’ को ‘लहजे’ से उर्दू में बदला गया है। हिंदी पाठ का ‘लाल मिर्च और

नमक' उर्दू में केवल 'मिर्च और नमक' है। मानो, रोटी के साथ खाने लायक मिर्च के लिए अलग से 'लाल' बताना ज़रूरी न हो।

### 3. क्षमा (अपव)

हिंदी में यह कहानी पहली बार 'माधुरी' पत्रिका में जून 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। उर्दू में यह कहानी 'माफी' शीर्षक से भी प्रकाशित हुई थी। दोनों भाषाओं में यह कहानी चार भाग में है। कहानी के उर्दू पाठ के पहले भाग में हिंदी पाठ से तनिक भिन्नता है; शेष हिस्से में प्रायः शाब्दिक रूपांतरण या कुछ शब्दों की कमी-बेसी है और उनसे उत्पन्न भिन्नता है। कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ से कुछ अंशों की तुलना प्रस्तुत है :

क. हिंदी—मुसलमानों को स्पेन देश पर राज्य करते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मस्जिदें बनती जाती थीं; घंटों की जगह अज़ान की आवाज़ें सुनाई देती थीं।

उर्दू—मुसलमानों को स्पेन पर हुकूमत करते कई सदियों गुज़र चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मस्जिदें बनती जाती थीं। घंटों की खुशआइंद मगर बेजान सदाओं की जगह मोअज़ज़िन की करख़्त पुर रूहानी सदाएँ सुनाई देती थीं।

तुलना—इस अंश का दूसरा वाक्य उर्दू पाठ में विस्तार पाता है। हिंदी में प्रयुक्त 'घंटों की जगह अज़ान' में कोई विशेषण नहीं है जबकि उर्दू में विशेषणों का प्रयोग है। 'खुशआइंद मगर बेजान सदाओं' का 'बेजान' बहुत कुछ कहता है, उसी तरह 'करख़्त पुर रूहानी सदाएँ' भी कम व्यंजक नहीं है। देखना चाहिए कि कलीसाओं की जगह मस्जिद बनने की प्रक्रिया केवल राजनीतिक और धार्मिक मामला नहीं है। यह व्यक्ति के 'निज' का भी प्रश्न है जो धर्म और देश के नाम पर निरंतर अवमूल्यन का शिकार होता है। इसलिए न तो 'बेजान' को और न ही 'रूहानी' को अभिधात्मक रूप में पढ़ा जाना चाहिए।

ख. हिंदी—जो ईसाई नेता अब तक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाते थे, और अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उनमें एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद विद्वान और साहसी था। वह अपने इलाके में इस्लाम को क़दम न जमाने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रांतों से आकर उसके शरणगत होते थे। वह बड़ी उदारता से उनका पालन-पोषण करता था।

उर्दू—उन ईसाई सरदारों में जिन्होंने अब तक इस्लाम की दावत न क़बूल की थी और इस्लामी जबरूत का लोहा न माना था, जो अब भी अपने मुल्क में स्वराज्य कायम करने का ख़्वाब देख रहे थे, एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद आलिम और दिलेर था, बला का खुद्दार, वह अपने इलाके में इस्लाम को क़दम न जमाने देता था। उसका घर मुसीबतज़दा ईसाई फ़िदाइयों के लिए वाहिद जाए-अम्न था। उसका सब कुछ उन पर निसार था।

तुलना—दोनों पाठ के पहले वाक्य में भिन्न मुहावरे का प्रयोग है। हिंदी में 'सिर न झुकाते थे' का प्रयोग है जबकि उर्दू में 'दावत न क़बूल की' का। 'इस्लामी जबरूत का लोहा न माना था' और 'बला का खुद्दार' केवल उर्दू में है। हिंदी में 'वाहिद जाए-अम्न' पर बल नहीं है, यह उर्दू में ही है। इसी तरह उर्दू पाठ का अंतिम वाक्य, हिंदी की तुलना में अधिक कलात्मक है। 'निसार' कहने से जो प्रभाव और ध्वनि उत्पन्न होती है, वह 'पालन पोषण' से अधिक है। यह दाऊद के लक्ष्य और समर्पण को अधिक बेहतर रूप में प्रस्तुत करता था।

ग. हिंदी—सेनाओं ने उसके इलाके को घेर लिया। दाऊद को प्राण-रक्षा के लिए अपने संबंधियों के

साथ भागना पड़ा। वह घर से भागकर ग्रनाता में आया, जहाँ उन दिनों इस्लामी राजधानी थी। वहाँ सबसे अलग रहकर वह अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करने लगा। मुसलमानों के गुप्तचर उसका पता लगाने के लिए बहुत सिर मारते थे, उसके पकड़ लाने के लिए बड़े-बड़े इनामों की विज्ञप्ति निकाली जाती थी, पर दाऊद की टोह न मिलती थी।

**उर्दू**—इस्लामी फौजों ने उसके इलाके को महसूर कर लिया, और उसका सामाने रसद बंद कर दिया। दाऊद कुछ दिनों तक तो अपने मजबूत क़िले में बंद रहा जब क़िले में पानी भी न रहा तो उसके मजबूरन जाँ-बरी के लिए अपने मुतल्लकिन के साथ भागना पड़ा। एक दिन मौक़ा पाकर वो रात को क़िला से निकला और इस्लामी दारुल ख़लाफ़ा ग्रनाता में आकर रूपोश हो गया। उसकी जाँबाज़ियो ने नौ मुस्लिम ईसाइयों में उसके मोतकिद पैदा कर दिए थे। दुनिया परवरी आन पर चाहे कायम न रह सके, हमीयत से बेबहरा नहीं होती। ऐसे ही हमदर्दों के दरम्यान दाऊद भले दिनों के इंतज़ार में ज़िंदगी बसर करने लगा। मुसलमानों के मुख़िबर उसका सुराग़ लगाने के लिए बहुत सर मारते थे। उसकी गिरफ़्तारी के लिए इनामात कसीर मुश्तहर किए जाते थे, मगर दाऊद का पता न चलता था।

**तुलना**—हिंदी का देशज ‘टोह’ उर्दू में नहीं है। किंतु, यह देखें कि उर्दू में दाऊद के चरित्र को अधि क उभारा गया है। वहाँ डिटेलिंग अधिक है। और, यह इसका अकेला उदाहरण नहीं है। दूसरी कहानियों में भी प्रेमचंद ने उर्दू पाठ में डिटेलिंग हिंदी की तुलना में अधिक की है। इस डिटेलिंग में वे मुहावरों और सूक्तियों के लिए भी जगह निकाल लेते हैं। जैसे, यहीं देखें; ‘दुनिया परवरी आन पर चाहे कायम न रह सके, हमीयत से बेबहरा नहीं होती।’—यह अंश केवल उर्दू में है।

**घ. हिंदी**—वह अतीतकाल की कल्पना कर रहा था, जब ईसाई स्त्री और पुरुष इन रविशों में टहलते होंगे, जब यह स्थान ईसाइयों के परस्पर वार्तालाप से गुलज़ार होगा।

**उर्दू**—गुज़रे हुए ज़माने का ख़याल कर रहा था जब ईसाई औरत मर्द उन रविशों पर टहलते होंगे, जब ये मुक़ाम ईसाइयों के शीरीं नग़मों से गूँजता होगा।

**तुलना**—इन दोनों अंशों की अपनी विशिष्टता है। जहाँ हिंदी में ‘गुलज़ार’ है तो उर्दू में ‘शीरीं नग़मों’। निश्चय ही, ‘वार्तालाप’ का प्रयोग तनिक शुष्क प्रयोग है। और, यह ख़याल करें कि अगर ‘गुलज़ार’ उर्दू में भी होता तब वाक्य का प्रभाव कैसा होता!

**ड. हिंदी**—जाओ, तुम्हें खुदाए-पाक घर पहुँचावे।

**उर्दू**—जाओ तुम्हें खुदाए पाक बख़ैरो-आफ़ियत घर पहुँचा दे।

**तुलना**—‘बख़ैरो-आफ़ियत’ उर्दू पाठ में जोड़ा गया है।

#### 4. सौभाग्य के कोड़े ( नेकबख़्ती के ताज़ियाने )

हिंदी में यह कहानी पहली बार ‘प्रभा’ पत्रिका के जून 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ में शाब्दिक रूपांतरण के अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है। दोनों भाषाओं के पाठ से कुछ अंशों की तुलना द्रष्टव्य है :

**क. हिंदी**—लड़के क्या अमीर के हों क्या ग़रीब के विनोदशील हुआ ही करते हैं। उनकी चंचलता बहुधा उनकी दशा और स्थिति की परवाह नहीं करती।

**उर्दू**—लड़के क्या अमीर के हों क्या ग़रीब के, सभी चुलबुली तबीयत के हुआ करते हैं। उनकी फ़ितरती शोख़ी बेश्तर उनकी हालत और हैसियत की परवा नहीं करती।

**तुलना**—‘विनोदशील’ को उर्दू में ‘चुलबुली तबीयत’ तथा ‘चंचलता’ को ‘फितरती शोखी’ से बदला गया है। इस बदलाव से अर्थ में कोई अंतर नहीं आता।

**ख. हिंदी**—कभी-कभी उसे एक आधा पैसा दे देते, खाने को भी घर में इतना झूठा बचता था कि ऐसे ऐसे कई अनाथ अफर सकते थे, पहनने को भी उनके लड़कों के उतारे मिल जाते थे, इसलिए नथुवा अनाथ होने पर भी दुखी नहीं था।

**उर्दू**—कभी कभी उसे एक आधा पैसा दे देते। खाने को भी घर में इतना झूठा बचता था कि ऐसे कई यतीम शिकमसेर होकर खा सकते थे। पहनने को भी उनके लड़कों के उतारे हुए कपड़े मिल जाते थे। इसलिए नथुवा अनाथ होने पर भी दुखी नहीं था।

**तुलना**—‘अफर सकते थे’—यह तद्भव प्रयोग है। उर्दू में इसके स्थान पर ‘शिकमसेर’ है। दोनों का अर्थ एक ही है।

**ग. हिंदी**—अब वह दाग़ उन्हें सौभाग्य की रेखाओं से भी प्रिय लगते। यथार्थ में वह कोड़ों की मार उनके लिए शिव का वरदान थी।

**उर्दू**—ये अब वो दाग़ उन्हें नेकबख़्ती की लकीरों से भी ज़्यादा अच्छे मालूम होते थे। वाकई वह कोड़ों की मार उनके लिए शिवजी का बरदान थी।

**तुलना**—‘सौभाग्य की रेखाओं’ को उर्दू में ‘नेकबख़्ती की लकीरों’ तथा ‘यथार्थ में’ को ‘वाकई’ से बदला गया है। यह शाब्दिक अनुवाद का उदाहरण है।

**घ. हिंदी**—यही वही रत्ना है, भोली-भाली बालिका ने सौंदर्य, लज्जा, गर्व और विनय की देवी का रूप धारण कर लिया है। उसकी हिम्मत न पड़ी, कि रत्ना की तरफ़ सीधी आँखों से देख सकें।

**उर्दू**—यह वही रत्ना है, भोली भाली लड़की ने हुस्न, शर्म, ग़रूर और इन्क़सार की देवी की सूरत अख़्तेयार कर ली है। उसकी ज़ुरअत न हुई कि रत्ना की तरफ़ आँख उठा कर देखे।

**तुलना**—यह पूरी तरह शाब्दिक अनुवाद का उदाहरण है। सिवाए इसके कि हिंदी पाठ में ‘सीधी आँख’ प्रयुक्त है, उर्दू में उसकी जगह ‘आँख उठाकर’।

**ड. हिंदी**—यूरोप की यात्रा के बाद वर्णभेद नहीं रहता। जन्म से चाहे जो कुछ हूँ, कर्म से तो शूद्र ही हूँ।

**उर्दू**—यूरोप के सफ़र के बाद जात पात नहीं बाकी रहती। पैदाइश से ख़्वाह कुछ हूँ आमाल से तो शूद्र ही हूँ।

**तुलना**—यह शाब्दिक रूपांतरण का उदाहरण है।

**च. हिंदी**—उसे इस अज्ञात दशा में रखे हुए प्रणय पाश को दृढ़ करना उन्हें परले सिरे की नीचता प्रतीत होती थी, यह कपट है, दगा है, धूर्तता है जो प्रेमाचरण में सर्वथा निषिद्ध है।

**उर्दू**—उसे इस नावाक़्फ़ियत की हालत में रखकर रिश्त-ए-मुहब्बत को मज़बूत करना उन्हें परले सिरे का कमीनापन मालूम होता था। यह दगा है। फ़रेब है, मक्कारी है, जो आइने-मुहब्बत के खिलाफ़ है।

**तुलना**—यहाँ भी मूल भाव जस का तस बना है। केवल शब्दों में बदलाव है।

## 5. भूत ( भूत )

हिंदी में यह कहानी पहली बार ‘माधुरी’ पत्रिका के अगस्त 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस

कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ में शाब्दिक रूपांतरण के अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है। दोनों भाषाओं के पाठ से कुछ अंशों की तुलना द्रष्टव्य है :

क. हिंदी—मुरादाबाद के पंडित सीतानाथ चौबे गत तीस वर्षों से वहाँ के वकीलों के नेता हैं।

उर्दू—मुरादाबाद के पंडित सीतानाथ चौबे गुज़श्ता तीस सालों से मक़ामी वोक्ला के लीडर हैं।

तुलना—यह शाब्दिक अनुवाद का उदाहरण है।

ख. हिंदी—इस समृद्धि पर चार पुत्रों का होना उनके भाग्य को आदर्श बनाए हुए था।

उर्दू—इस तरक्की पर चार लड़कों के वजूद ने उन्हें और भी ज़्यादा खुशनसीब बना दिया था।

तुलना—दोनों पाठ में भाव साम्य है। किंतु, उर्दू प्रयोग तुलनात्मक रूप से अधिक सहज है। हिंदी में ‘भाग्य को आदर्श बनाए हुए था’—सायास प्रयोग का उदाहरण है।

ग. हिंदी—चौबेजी के मुख-चंद्र में केवल एक कला की कमी थी। उनके कोई कन्या न थी। पहलौठी कन्या के बाद फिर कन्या हुई ही नहीं; और न अब होने की आशा ही थी।

उर्दू—पंडितजी की दिली राहत में सिर्फ़ एक कसर थी। उनके कोई लड़की न थी। पहली लड़की के बाद फिर कोई लड़की पैदा नहीं हुई। और न अब पैदा होने की उम्मीद थी।

तुलना—उर्दू में ‘पहलौठी’ को जगह नहीं है। यह प्रयोग प्रेमचंद के हिंदी शब्द-भांडार की विविधता और देशज संपन्नता को प्रस्तुत करता है। अब पूर्वांश देखें, वहाँ उर्दू में ‘दिली राहत में सिर्फ़ एक कसर’ जिस तरह मुहावरे का रूप धरता है वह ‘मुखचंद्र में केवल एक कमी’ से कहीं अधिक प्रभावी है।

घ. हिंदी—वकील साहब कभी इतने बाल वत्सल न थे।

उर्दू—वकील साहब बच्चों के साथ कभी इतना मेल जोल ना करते थे।

तुलना—दोनों अंशों में भाव साम्य है।

ड. हिंदी—बुढ़ापे में पत्नी का मरना बरसात में घर का गिरना है। फिर उसके बनने की आशा नहीं होती। मंगला की मृत्यु से पंडितजी का जीवन अनियमित और विशृंखल सा हो गया।

उर्दू—बुढ़ापे में बीवी का मरना, बरसात में घर का गिरना है। फिर उसके बनने की उम्मीद नहीं होती। मंगला की मौत से पंडित की जिंदगी बेक़ायदा और बे-सिलसिला हो गई।

तुलना—उर्दू अंश, हिंदी पाठ का शाब्दिक अनुवाद है। इस रूपांतरण में मूल भाव जस का तस है।

च. हिंदी—वह पंडित जी का मन बहलाने का निरंतर प्रयत्न करती रहती थी। उन्हें कभी मन मारे न बैठने देती। पंडितजी का मन अब कचहरी में न लगता था। घंटे दो घंटे बैठकर चले आते थे। युवकों के प्रेम में विकलता होती है, और वृद्धों के प्रेम में श्रद्धा। वे अपनी यौवन की कमी को खुशामद से, मीठी बातों से और हाज़िरबाशी से पूर्ण करना चाहते हैं।

उर्दू—वह पंडित जी के दिल बहलाव की हमेशा कोशिश करती रहती थी, उन्हें कभी उदास न बैठने देती थी। पंडित जी का दिल अब कचहरी में न लगता था। घंटे दो घंटे बैठकर चले आते थे। नौजवानों की मुहब्बत में इज़्तिराब होता है, और बूढ़ों की मुहब्बत में एतकाद। वह अपने शबाब की कमी को खुशामद से, शीरी कलामी से और हाज़िरी से पूरी करना चाहते हैं।

तुलना—‘मन बहलाने’ को उर्दू में ‘दिल बहलाव’ तथा ‘मन मारे’ को ‘उदास’ से बदला गया है। यहाँ हिंदी अंश ‘मन’ पर केंद्रित है। उर्दू में भाव वही है किंतु ‘मन मारे न बैठने देती’—वाला प्रभाव वहाँ नहीं

उभर पाता है।

## 6. दीक्षा (तौबा)

हिंदी में यह कहानी पहली बार 'माधुरी' पत्रिका के सितंबर 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। उर्दू में 'फिरदौसे-ख़याल' में संकलित होने के साथ-साथ 'रियासत' साप्ताहिक के 2 मार्च 1929 के अंक में भी यह कहानी छपी थी। इस कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ में शाब्दिक रूपांतरण के अतिरिक्त कोई विशेष अंतर नहीं है। हिंदी और उर्दू पाठ से कुछ अंशों की तुलना प्रस्तुत है :

क. हिंदी—जब मैं स्कूल में पढ़ता था, गेंद खेलता था और अध्यापक महोदयों की घुड़कियाँ खाता था, अर्थात् जब मेरी किशोरावस्था थी, न ज्ञान का उन्मेष हुआ था और न बुद्धि का विकास, उस समय मैं टेंपरेंस एसोसिएशन (नशा निवारिणी सभा) का उत्साही सदस्य था।

उर्दू—जब मैं स्कूल में पढ़ता था तो गेंद खेलता और मास्टर्स की धमकियाँ सहता था, यानी जब मेरा बचपन का ज़माना था, न अक्ल का ज़हूर हुआ था ना दानाई की नश्वो-नमा; उस वक़्त मैं टेंपरेंस सोसायटी का मनचला मेंबर था। (उर्दू)

तुलना—'घुड़कियों' को उर्दू में 'धमकियों', 'किशोरावस्था' को 'बचपन', 'ज्ञान का उन्मेष' को 'अक्ल का ज़हूर' तथा 'बुद्धि का विकास' को 'दानाई की नश्वो-नमा' से बदला गया है। यह एक तरह से शाब्दिक अनुवाद है।

ख. हिंदी—जीवन संग्राम कितना विकट है, इसका अनुभव हुआ। इसे संग्राम कहना ही भ्रम है। संग्राम की उमंग, उत्तेजना, वीरता और जय ध्वनि यहाँ कहाँ? यह संग्राम नहीं, ठेलमठेल, धक्कापेल है। यहाँ 'चाहे धक्के खाएँ, मगर तमाशा घुसकर देखें' की दशा है। माशूक़ का वस्ल कहाँ, उसकी चौखट को चूमना, दरबान की गालियाँ खाना और अपना-सा मुँह लेकर चले आना है।

उर्दू—ज़िंदगी की लड़ाई (कारज़ारे-हयात) कितनी ज़बरदस्त है, इसका एहसास हुआ। उसे लड़ाई कहना ही वहम है। लड़ाई की उमंग, जोश अफ़जा बहादुरी और उसके फ़तह के नारे यहाँ कहाँ? यह लड़ाई नहीं कशमकश और जद्दोज़हद है। यहाँ तो चाहे 'धक्के खाएँ तमाशा घुसकर देखें' वाली हालत है। माशूक़ का वस्ल कहाँ? उसकी चौखट चूमना, दरबान की गालियाँ खाना और अपना सा मुँह ले चले आना।

तुलना—हिंदी पाठ का अधिकांश उर्दू में ज्यों का त्यों बना हुआ है। कुछेक शब्दों में केवल बदलाव आया है। और, वह बदलाव शाब्दिक रूपांतरण का उदाहरण है।

ग. हिंदी—पूर्व संतान के लिए, यश के लिए, धर्म के लिए मरता है; पश्चिम अपने लिए। पूर्व में घर का स्वामी सबका सेवक होता है। वह सबसे ज़्यादा काम करता, दूसरों को खिलाकर खाता, दूसरों को पहनाकर पहनता है, किंतु पश्चिम में वह सबसे अच्छा खाना, अच्छा पहनना अपना अधिकार समझता है। यहाँ परिवार सर्वोपरि है, वहाँ व्यक्ति सर्वोपरि है। हम बाहर से पूर्व और भीतर से पश्चिम हैं। (हिंदी)

उर्दू—मशरिक़ औलाद के लिए, नामवरी के लिए मज़हब के लिए मरता है और मग़रिब अपने लिए। मशरिक़ में घर का आका सबका गुलाम होता है। वह सबसे ज़्यादा काम करता है। दूसरों को खिलाकर खाना, दूसरों को पहनाकर पहनता है। मग़रिब में वह सबसे अच्छा खाना, सबसे अच्छा पहनना अपना हक़ समझता है। यहाँ कुनबा मुक़द्दमतरीन है और वहाँ शख़्सियत। हम ज़ाहिरन मशरिक़ी और बातिन में मग़रबी हैं।

तुलना—उर्दू अंश, हिंदी पाठ का शाब्दिक अनुवाद है। रूपांतरण से दोनों पाठ के भाव में तनिक अंतर नहीं आता।

घ. हिंदी—मैंने निश्चय किया, यह अभिनय होली के दिन हो। इस दीक्षा के लिए इससे उत्तम मुहूर्त कौन होगा?

उर्दू—मैंने तहीया कर लिया कि ये तमाशा होली के रोज़ हो। इस किस्म की मुरीदी के लिए इससे ज़्यादा मुस्तहसन दिन कौन होगा।

तुलना—उर्दू पाठ, हिंदी पाठ के शाब्दिक अनुवाद का उदाहरण है।

ड. हिंदी—खैर, 9 बजते-बजते मुक़द्दमा समाप्त हुआ। पर अब जाऊँ कहाँ? बरसात की रात, कोसों तक आबादी का पता नहीं। घर लौटना कठिन ही नहीं, असंभव। आस-पास भी कोई ऐसा गाँव नहीं, जहाँ वह संजीवनी मिल सके।

उर्दू—खैर, नौ बजते बजते मुक़द्दमा ख़त्म हुआ मगर अब जाऊँ कहाँ? बरसात की रात कोसों तक आबादी का पता नहीं। घर लौटना दुश्वार ही नहीं बल्कि ग़ैर मुमकिन। कुरबो-ज्वार में भी कोई ऐसा गाँव नहीं, जहाँ वह आबे-हयात मिल सके।

तुलना—मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए शाब्दिक अनुवाद का यह सुंदर उदाहरण है। हिंदी में ‘संजीवनी’ है तो उर्दू में ‘आबे-हयात’। दोनों शब्दों का स्पष्ट सांस्कृतिक संदर्भ है। ऐसे प्रयोगों में प्रेमचंद की ‘सचेतनता’ विशेष रूप से ध्यान देने लायक है।

च. हिंदी—हाँ, यह चालाकी यह की कि उसमें कुछ थोड़ा सा अपनी तरफ़ से बढ़ा दिया, अर्थात् रात को जब मुझे नशा चढ़ा तो मैं बोतल और गिलास लिए साहब के कमरे में घुस गया था और उसे कुरसी से पटककर ख़ूब मारा था। इस क्षेपक से मेरी दलित, अपमानित, मर्दित आत्मा को थोड़ी सी तस्कीन होती थी। दिल पर तो जो कुछ गुज़री, वह दिल ही जानता है।

उर्दू—अलबत्ता चालाकी ये की कि कुछ थोड़ा सा अपनी तरफ़से जोड़ दिया, यानी रात को जब मुझे नशा चढ़ा तो मैं बोतल गिलास लिए साहब के कमरा में घुस गया था और उसे कुर्सी से टेक कर ख़ूब मारा था। इस इज़ाफ़ा से मेरी मातूब, इहानतज़दा और दुखभरी आत्मा को थोड़ी तस्कीन हो जाती थी। दिल पर जो कुछ बनती वह दिल जानता है।

तुलना—हिंदी पाठ का भाव, उर्दू में पूरी तरह सुरक्षित है। लेकिन जो ध्यान देनेवाली बात है कि प्रेमचंद जितनी खूबसूरती से हिंदी में ‘तस्कीन’ के लिए जगह बना लेते हैं, उसी सुंदरता से उर्दू में ‘दुखभरी आत्मा’ के लिए। हालाँकि, कहानी में ‘मर्दित आत्मा’ प्रयोग ‘दुखभरी आत्मा’ की तुलना में अधिक व्यंजक और सटीक है।

## 7. सवा सेर गेहूँ ( सवा सेर गेहूँ )

हिंदी में यह कहानी ‘चाँद’ मासिक पत्रिका के नवंबर 1924 के अंक में प्रकाशित हुई थी। उर्दू में ‘फ़िरदौसे-ख़याल’ में संकलित होने से पूर्व ‘प्रकाश’ साप्ताहिक के 4 मार्च 1928 के अंक में प्रकाशित हो चुकी थी। कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ के कुछ अंशों की तुलना यहाँ प्रस्तुत है :

क. हिंदी—किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीध-सादा ग़रीब आदमी था, अपने काम-से-काम, न किसी के लेने में, न किसी के देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिंता न थी, ठग विद्या न जानता था, भोजन मिला, खा लिया, न मिला, चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा।

उर्दू—किसी गाँव में शंकर नामी एक कुरमी किसान रहता था। सीध-सादा ग़रीब आदमी था। अपने काम

से काम, न किसी के लेने में, न किसी के देने में। छक्का पंजा न जानता था। छल कपट की उसे छूत भी न लगी थी। ठगे जाने की फ़िक्र न थी। ठग विद्या न जानता था। खाना मिला तो खा लिया न मिला तो चरबन पर क़नाअत की। चरबन भी न मिला तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा।

**तुलना**—हिंदी पाठ के ‘प्रपंच’ को उर्दू में ‘कपट’ से बदला गया है। ‘चबेने’ को उर्दू में ‘चरबन’ से बदला गया है। हिंदी में केवल ‘काट दी’ है, उर्दू में इसके स्थान पर ‘क़नाअत की’ है। ‘क़नाअत’ का अर्थ संतोष है। इस तरह दोनों पाठ में शब्दों के बदलने के बावजूद भाव साम्य है।

**ख. हिंदी**—एक दिन संध्या के समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीतांबर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, संपूर्ण वेष उन महात्माओं का साथ जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योग-सिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। (हिंदी)

**उर्दू**—एक रोज़ शाम को एक महात्मा ने आकर उसके दरवाज़े पर डेरा जमा दिया। चेहरे पर जलाल था। पीतांबर गले में, जटा सर पर पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, गर्ज कि पूरा भेस उन महात्मा का सा था जो रऊसा के महलों में रियाज़त, हवा गाड़ियों पर मंदिरों का तवाफ़ और योग (मराक़्बा) में कमाल हासिल करने के लिए लज़ीज़ ग़िज़ाएँ खाते हैं।

**तुलना**—उर्दू पाठ में हिंदी शब्दावली को उसके सांस्कृतिक बोध के साथ प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न है। ‘द्वार’ को उर्दू में ‘दरवाज़े’, ‘तेजस्वी मूर्ति’ को ‘चेहरे पर जलाल’ से बदला गया है। ‘देवस्थानों’ को ‘मंदिरों’ से, ‘योग-सिद्धि’ को ‘तवाफ़ और योग’ से रूपांतरित किया गया है। इसी तरह ‘रुचिकर भोजन’ को ‘लज़ीज़ ग़िज़ाएँ’ से बदला गया है। हालाँकि ‘रुचिकर’ और ‘लज़ीज़’, पूरी तरह समानार्थी नहीं हैं।

**ग. हिंदी**—विप्र जी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया। (हिंदी)

**उर्दू**—पुरोहित जी बरहमन से महाजन हुए। शंकर किसान से मज़दूर हो गया। (उर्दू)

**तुलना**—हिंदी पाठ में ‘विप्रजी’ है उर्दू में ‘पुरोहित जी’। हिंदी पाठ में ‘मजूर’ है और उर्दू में ‘मज़दूर’। दोनों पाठ में प्रेमचंद का भाषिक प्रयोग आकर्षक है। हिंदी में ‘मजूर’ का तद्भव प्रयोग है तो उर्दू में ‘बरहमन’ का। प्रेमचंद ऐसे प्रयोगों से भाषा में चमक उत्पन्न कर देते थे।

**घ. हिंदी**—प्रेम का बंधन, खून का बंधन, दूध का बंधन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ-परिश्रम से कुल मर्यादा का वृक्ष लगाया था.....

**उर्दू**—मुहब्बत का रिश्ता, दूध का रिश्ता आज टूटा जाता है। उसने सख़्त मेहनत करके ख़ानदानी इज़्ज़त का यह दरख़्त लगाया था।

**तुलना**—हिंदी पाठ में ‘बंधन’ है और उर्दू पाठ में ‘रिश्ता’। हिंदी के ‘भगीरथ परिश्रम’ को उर्दू में छोड़ दिया गया है। उसके स्थान पर ‘सख़्त मेहनत’ है। निश्चय ही, ‘सख़्त मेहनत’ की जगह ‘भगीरथ परिश्रम’ अधिक व्यंजक है। हालाँकि, इस प्रयोग का सांस्कृतिक संदर्भ है। संभव है, उर्दू पाठक की उससे अनभिज्ञता को ध्यान में रखते हुए प्रेमचंद ने उसे छोड़ दिया हो।

**ड. हिंदी**—विप्र-गुलामी समझो, चाहे मजूरी समझो, मैं अपने रुपए भराए बिना तुमको कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा, हाँ जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

**उर्दू**—पंडित-गुलामी समझो, चाहे मजूरी समझो। मैं अपने रुपए भराए बिना तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

**तुलना**—कहानी के हिंदी पाठ में 'विप्र' प्रयोग है और उर्दू पाठ में 'पंडित'। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई अंतर नहीं है।

#### 8. डिक्री के रुपए ( डिक्री के रुपए )

हिंदी में यह कहानी पहली बार 'माधुरी' पत्रिका के जनवरी 1925 के अंक में प्रकाशित हुई थी। दोनों भाषाओं में यह कहानी छह भागों में है। उर्दू पाठ, हिंदी पाठ का पूरी तरह शाब्दिक अनुवाद है और दोनों पाठ में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

क. **हिंदी**—नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक अभिन्नता थी, जितनी दो प्रणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलास बाग़ का कोमल पौधा; नईम को क्रिकेट और फुटबॉल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तावलोकन का; नईम एक विनोदशील, वाकचतुर, निर्द्वंद्व, हास्यप्रिय विलासी युवक था। उसे 'कल' की चिंता कभी न सताती थी।

**उर्दू**—नईम और कैलाश में इतनी दिमागी, अख़लाकी और सोशल तफ़ावत थी, जितनी दो इन्सानों में हो सकती है। नईम बड़ा भारी दरख़्त था, कैलाश बाग़ का नाजुक पौदा, नईम को क्रिकेट, फुटबॉल, सैरो-शिकार का शौक़ था, कैलाश को मुताला-ए-कुतुब का। नईम शोख़, पुर गो, आज़ाद, मज़ाक़पसंद और ऐशपरस्त नौजवान था। उसे कल की फ़िक्र कभी न होती थी।

**तुलना**—उर्दू पाठ, हिंदी पाठ का अनुवाद है। नईम के लिए प्रयुक्त विशेषणों को अनूदित करते हुए प्रेमचंद ने वही भाव संरक्षित रखने में सफलता पाई है।

ख. **हिंदी**—कॉलेज से निकलने के बाद नई को शासन-विभाग में एक उच्च पद प्राप्त हो गया, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था। कैलास प्रथम श्रेणी में पास हुआ था; किंतु उसे बरसों एड़ियाँ रगड़ने, ख़ाक़ छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला।

**उर्दू**—कॉलेज से निकलने के बाद नईम को सूब-ए-हुकूमत में एक बड़ा ओहदा मिल गया, अगरचा वह तीसरे दर्जे में पास हुआ था। कैलाश अव्वल दरजा में पास हुआ था मगर उसको बरसों एड़ियाँ रगड़ने, ख़ाक़ छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला।

**तुलना**—उर्दू पाठ में हिंदी पाठ के कुछ ही शब्द बदले हुए हैं। बदले हुए शब्द, शाब्दिक अनुवाद के उदाहरण हैं। इस तरह दोनों पाठ अभिन्न हैं।

ग. **हिंदी**—उन्हीं दिनों कैलास नईम से मिलने आया। दोनों मित्र बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों-बातों में यह संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाया और कैलास पर अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहा।

**उर्दू**—उन्हीं दिनों कैलाश नई से मिलने आया, दोनों दोस्त बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों बातों यह सारा हाल कह सुनाया और कैलाश पर अपने तर्ज़े-अमल की वाजिबियत साबित करनी चाही।

**तुलना**—उर्दू पाठ में हिंदी पाठ के कुछ ही शब्द बदले हुए हैं। इस तरह दोनों पाठ अभिन्न हैं।

घ. **हिंदी**—अदालत ने नईम को बीस हजार रुपयों की डिक्री दे दी। कैलास पर मानो वज्रपात हो गया।

**उर्दू**—अदालत ने नईम को बीस हजार रुपयों की डिक्री दे दी! कैलास पर गोया बिजली गिरी!

**तुलना**—उर्दू पाठ में 'वज्रपात' को 'बिजली गिरी से' बदला गया है। इसके अतिरिक्त दोनों अंश में कोई अंतर नहीं है।

ङ. **हिंदी**—इस निश्चय पर राजनीतिक संसार में फिर कुहराम मचा। सरकारी पक्ष के पत्रों ने कैलास

को धूर्त कहा; जन-पक्षवालों ने नईम को शैतान बनाया।

**उर्दू**—इस फ़ैसला पर सियासी दुनिया फिर कुहराम मचा। सरकार के जानिबदार अख़बारात ने कैलाश को फ़रेबी बताया, अवाब की तरफ़वालों ने नईम को शैतान कहा।

**तुलना**—उर्दू पाठ में शाब्दिक अनुवाद के अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है।

इस तरह कहानी के उर्दू पाठ में किसी प्रकार के अंतर से बचते हुए शाब्दिक अनुवाद को बेहतर ढंग से निभाने का प्रयास दिखाई देता है।

## 9. सभ्यता का रहस्य (तहज़ीब का राज़)

हिंदी में यह कहानी 'माधुरी' के मार्च 1925 के अंक में पहली बार प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का उर्दू रूप हिंदी पाठ का शाब्दिक अनुवाद मात्र है। उर्दू पाठ में तनिक भी विस्तार या संकोच नहीं है। विशेष यह है कि रूपांतरण की प्रक्रिया में मूल पाठ का भाव और भाषायी प्रभाव, दोनों ही अक्षुण्ण हैं। कुछ अंश तुलनीय हैं :

क. **हिंदी**—मेरे इने-गिने मित्रों में एक राय रतनकिशोर भी हैं। आप बहुत ही सहृदय, बहुत ही उदार, बहुत अधिक शिक्षित और एक बड़े ओहदेदार हैं। बहुत अच्छा वेतन पाने पर भी उनकी आमदनी खर्च के लिए काफ़ी नहीं होती। एक चौथाई वेतन तो बंगले ही की भेंट हो जाता है। इसलिए आप बहुधा चिंतित रहते हैं।

**उर्दू**—मेरे इने गिने दोस्तों में एक राय रतन किशोर भी हैं। आप बहुत ही नेक दिल, बहुत ही सख़ी बहुत ज़्यादा तालीमयाफ़्त और एक बहुत बड़े ओहदेदार हैं। बहुत अच्छी तनख़्वाह पाने पर भी उनकी आमदनी खर्च के लिए क़ी नहीं होती। एक चौथाई तनख़्वाह तो बंगले ही की नज़र हो जाती है। इसलिए आप अकसर मुतफ़क्किर रहते हैं।

**तुलना**—यह शाब्दिक रूपांतरण का उदाहरण है। दोनों अंशों में कोई अंतर नहीं है।

ख. **हिंदी**—राय साहब-बक-बक मत करो।

दमड़ी-हज़ूर.....

राय साहब-दो रुपए जुरमाना।

**उर्दू**—राय साहब-बक-बक मत करो।

दमड़ी-हज़ूर.....

**तुलना**—'राय साहब-दो रुपए जुरमाना'—यह अंश उर्दू पाठ में छोड़ दिया गया है। जुरमाने की रकम का पता उर्दू पाठ में आगे के अंश से चलता है।

ग. **हिंदी**—पर ग़रीब इतना चंट न था।

**उर्दू**—मगर ग़रीब इतना चालाक न था।

**तुलना**—'चंट' का देशज प्रयोग हिंदी पाठ को उर्दू के 'चालाक' की तुलना में अधिक व्यंजक बनाता है।

घ. **हिंदी**—दमड़ी के पास कुछ छह बिस्वे ज़मीन थी! पर इतने ही प्राणियों का खर्च भी था। उसके दो लड़के, दो लड़कियाँ और स्त्री, सब खेती में लगे रहते थे, फिर भी पेट की रोटियाँ नहीं मयस्सर होती थीं। इतनी ज़मीन क्या सोना उगल देती! अगर सब के सब घर से निकल मजदूरी करने लगते, तो आराम

से रह सकते थे; लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने का अपमान न सह सकता था।

**उर्दू**—दमड़ी के पास कुछ छह बिस्वे ज़मीन थी, मगर इतने ही आदमियों का खर्च भी था। उसके दो लड़के, दो लड़कियाँ और बीवी सब खेती में लगे रहते थे, फिर भी पेट भर खाने को रोटियाँ मयस्सर नहीं होती थीं। इतनी ज़मीन क्या सोना उगल देती? अगर सब के सब घर से निकल मजदूरी करने लगते, तो आराम से रह सकते थे; लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने की बेइज़्ज़ती गवारा नहीं कर सकता था।

**तुलना**—चिह्नों और कुछ शब्दों के रूपांतरण के अतिरिक्त इन दोनों अंश में कोई अंतर नहीं है। प्रेमचंद उर्दू शब्दों का हिंदी में अत्यंत खूबसूरती से प्रयोग करते थे। यह उपर्युक्त अंश से भी पुष्ट है।

**ड. हिंदी**—मैंने दोनों वृत्तांत सुने और मेरे दिल में यह ख़याल और भी पक्का हो गया कि सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है।

**उर्दू**—मैंने दोनों दास्तानें सुनीं और मेरे दिल में यह ख़याल और भी पोख़्ता हो गया कि तहज़ीब सिर्फ़ हुनर के साथ ऐब करने का नाम है।

**तुलना**—उर्दू पाठ में ‘वृत्तांत’ को ‘दास्तानें’, ‘पक्का’ को ‘पोख़्ता’ तथा ‘सभ्यता’ को ‘तहज़ीब’ से बदला गया है। दोनों पाठ का भाव पूरी तरह एक है।

#### 10. भाड़े का टट्टू ( भाड़े का टट्टू )

यह कहानी हिंदी में पहली बार ‘माधुरी’ पत्रिका के जुलाई 1925 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का उर्दू पाठ, हिंदी पाठ का सफल शाब्दिक अनुवाद है। इस प्रस्तुति में मूल पाठ से किसी प्रकार का विस्तार या संकोच नहीं है। कुछ अंशों की तुलना प्रस्तुत है :

**क. हिंदी**—रमेश—‘भई, संसार में आदर्श का निर्वाह केवल संन्यासी ही कर सकता है; मैं तो नहीं कर सकता। मैं तो समझता हूँ कि अगर तुम्हें धक्का देकर तुमसे बाज़ी जीत सकूँ, तो तुम्हें ज़रूर गिरा दूँगा और, बुरा न मानो, तो कह दूँ, तुम भी मुझे ज़रूर गिरा दोगे। स्वार्थ का त्याग करना कठिन है।’

**उर्दू**—रमेश—भाई दुनिया में मेयाराना रविश सिर्फ़ संन्यासी ही अख़्तियार कर सकता है। मैं तो नहीं कर सकता। मैं तो समझता हूँ कि अगर तुम्हें धक्का देकर तुमसे बाज़ी जीत सकूँ तो तुम्हें ज़रूर गिरा दूँगा। और बुरा न मानो तो कह दूँ कि तुम भी मुझे ज़रूर गिरा दोगे। खुदग़र्ज़ी का तर्क करना मुश्किल है।

**तुलना**—दोनों पाठ में कुछ ही शब्द बदले हुए हैं। उर्दू पाठ, शाब्दिक रूपांतरण का उदाहरण है।

**ख. हिंदी**—देश की राजनीतिक स्थिति चिंताजनक हो रही थी। यशवंत अपने पुराने मित्र के लेखों को पढ़-पढ़कर काँप उठते थे। भय होता, कहीं वह क़ानून के पंजे में न आ जाए। बार-बार उसे संयत रहने की ताकीद करते, बार-बार मिन्नतें करते कि ज़रा अपने क़लम को और नरम कर दो, जान-बूझकर क्यों विषधर क़ानून के मुँह में उँगली डालते हो? लेकिन रमेश को नेतृत्व का नशा चढ़ा हुआ था। वह इन पत्रों का जवाब तक न देता था।

**उर्दू**—मुल्क की सियासी हालत नाजुक हो रही थी। जसवंत अपने क़दीम दोस्त के मज़ामीन को पढ़ पढ़ कर काँप उठते थे। अदेशा होता था कि कहीं क़ानून के ज़द में न आ जाए, बार बार उसे मोहतात रहने की ताकीद करते, बार बार मिन्नतें करते कि ज़रा अपने क़लम को और नरम कर दो और जान बूझकर क्यों क़ानूनी साँप के मुँह में अंगुली डालते हो? रमेश को लीडरी का नशा चढ़ा था, वह इन बातों का जवाब तक न देता था।

**तुलना**—उर्दू पाठ, हिंदी पाठ का शाब्दिक अनुवाद है। और, यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि यह मूल से अधिक सहज और प्रवाही है। जैसे—‘संयत’ को ‘मोहतात’ तथा ‘नेतृत्व’ को लीडरी से बदलने से उत्पन्न प्रभाव मूल से अधिक है।

ग. **हिंदी**—भाग्य की कुटिल क्रीड़ा देखिए। साथ खेले और साथ पढ़े हुए दो मित्र एक-दूसरे के सम्मुख खड़े थे, केवल एक कठघरे का अंतर था, पर एक की जान दूसरे की मुट्ठी में थी।

**उर्दू**—किस्मत का उलटफेर देखिए। साथ खेले और साथ पढ़े हुए दो दोस्त एक दूसरे के मुक़ाबिल खड़े थे, सिर्फ़ एक कठघरा दरम्यान में हाइल था। मगर एक की जान दूसरे की मुट्ठी में थी।

**तुलना**—पहला वाक्य देखें। निश्चय ही, उर्दू पाठ हिंदी की तुलना में अधिक सहज है। शेष शाब्दिक अनुवाद है।

घ. **हिंदी**—सारे शहर में शोर मचा हुआ था—रमेश बाबू पकड़े गए! बात सच्ची थी। रमेश सचमुच पकड़ा गया था। उसी युवक ने, जो रमेश के सामने से कूदकर भागा था, पुलिस के प्रधान से सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दिया था। अपहरण और हत्या का कैसा रोमांचकारी, कैसा पैशाचिक, कैसा पापपूर्ण वृत्तांत था!

भद्र समुदाय बगलें बजाता था। सेठों के घरों में घी के चिराग जलते थे। उनके सिर पर एक नंगी तलवार लटकती रहती थी, आज वह हट गई। अब वे मीठी नींद सो सकते थे।

**उर्दू**—सारे शहर में गौगा मचा हुआ था। रमेशबाबू पकड़ लिए गए। बात सच्ची थी। रमेश सचमुच गिरफ्तार था, उसी शख्स ने जो रमेश के सामने से कूद कर भागा था, पुलिस के अफसर से सारा माजरा मिनोअन बयान कर दिया था। इस्तेहसाल बिलजब्र और क़त्ल की कैसी पुर मासियत कैसी शीतनत आमेज़ और कैसे रोंगटे खड़े कर देनेवाली दास्तान थी।

मुहज़ज़ब जमात बगलें बजाती थी। सेठों के मकानों में घी के चिराग जलते थे। उनके सरों पर शमशीर बरहना लटकती रहती थी, आज वह हट गई थी। अब वह ख़्वाब-शीरी के मजे उठा सकते थे।

**तुलना**—यह प्रस्तुति भी शाब्दिक रूपांतरण का उदाहरण है।

ड. **हिंदी**—रमेश—‘आपने साहस से काम नहीं लिया, स्वार्थ से काम लिया। आप अपने स्वार्थ के परम भक्त हैं। मैं तो आपको ‘भाड़े का टट्टू’ समझता हूँ। मैंने अपने जीवन का बहुत दुरुपयोग किया, लेकिन उसे आपके जीवन से बदलने को किसी दशा में भी तैयार नहीं हूँ। आप मुझसे धन्यवाद की आशा न रखें।’

**उर्दू**—रमेश—आपने हिम्मत से काम लिया, खुदग़र्ज़ी से काम लिया। आप अपनी ग़रज़ के मोतक़िद हैं। मैं तो आपको भाड़े का टट्टू समझता हूँ। मैंने अपनी ज़िंदगी का बहुत बड़ा इस्तेमाल किया, लेकिन उसे आप की ज़िंदगी से तबछील करने को किसी हालत में भी तैयार नहीं हूँ। आप मुझसे शुक्रिया की उम्मीद न रखें।

**तुलना**—यह शाब्दिक रूपांतरण का उदाहरण है।

## 11. गुरुमंत्र ( मुरीदी )

‘प्रेम प्रतिमा’ (1926) में प्रकाशन से पूर्व यह कहानी हिंदी में किसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी या नहीं, इस संबंध में अभी तक कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस कहानी का उर्दू रूप हिंदी पाठ से अभिन्न है। कुछ शब्दों में बदलाव को छोड़कर दोनों पाठ में कोई अंतर नहीं है। निम्न उदाहरणों से यह स्पष्ट है :

क. हिंदी—घर के कलह और निमंत्रणों के अभाव से पंडित चिंतामणि जी के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ, और उन्होंने संन्यास ले लिया तो उनके परम मित्र पंडित मोटेराम शास्त्री जी ने उपदेश दिया—“मित्र, हमारा अच्छे-अच्छे साधु महात्माओं से सत्संग रहा है। वह जब किसी भलेमानस के द्वार पर जाते हैं, तो गिड़गिड़ाकर हाथ नहीं फैलाते और झूठ-मूठ आशीर्वाद नहीं देने लगते, कि ‘नारायण तुम्हारा चोला मस्त रखे, तुम सदा सुखी रहो।’.....”

उर्दू—घर के झगड़ों और दावतों<sup>3</sup> के फ़िक्रदान से पंडित चिंतामन के दिल में तर्क-व-गुना का जज़्बा पैदा हुआ और उन्होंने संन्यास ले लिया। उस वक़्त उनके दिली दोस्त पंडित मोटेराम जी शास्त्री ने उन्हें यूँ नसीहत की : “दोस्त! हमारे अच्छे अच्छे साधुओं से साथ रहा है। वह जब किसी भलेमानस के दरवाज़े जाते हैं तो गिड़गिड़ाकर हाथ नहीं फैलाते और झूटमूट आशीर्वाद नहीं देने लगते कि नारायण तुम्हारा चोला मस्त रखे, तुम सदा सुखी रहो.....”

तुलना—उर्दू अंश हिंदी पाठ का अनुवाद है।

ख. हिंदी—चिंतामणि ने दोनों कान उँगलियों से बंद कर लिए और अपनी पूरी शक्ति से चिल्लाकर बोले—“न देगा तो चढ़ बैटूँगा।” यह नाद ऐसा आकाशभेदी था कि मोटेराम भी सहसा चौंक पड़े। चमगादड़ घबराकर वृक्षों पर से उड़ गए, कुत्ते भूँकने लगे।

उर्दू—चिंतामन ने दोनों कान उँगलियों से बंद कर लिए और अपनी पूरी ताक़त से चिल्लाकर बोले—न देगा तो चढ़ बैटूँगा। ये आवाज़ ऐसे जोर शोर की थी कि मोटेराम भी दफ़अतन चौंक पड़े। चमगादड़ घबराकर दरख़्तों पर से उड़ गए, कुत्ते भूँकने लगे।

तुलना— उर्दू में ‘शक्ति’ को ‘ताक़त’ से, ‘सहसा’ को ‘दफ़अतन’ से, ‘नाद’ को ‘आवाज़’ से तथा ‘आकाशभेदी’ को ‘जोर शोर’ से बदला गया है।

## 12. लैला ( लैला )

हिंदी में यह कहानी पहली बार ‘सरस्वती’ पत्रिका में जनवरी 1926 के अंक में प्रकाशित हुई थी। 1929 में प्रकाशित ‘फ़िरदौसे-ख़याल’ के पहले संस्करण में यह कहानी संकलित नहीं थी।<sup>2</sup> 1938 में प्रकाशित संस्करण में यह संकलित है।<sup>3</sup> इस संग्रह की यह ऐसी कहानी है जिसके हिंदी और उर्दू पाठ में सर्वाधिक अंतर है। हिंदी में यह दस भागों में है और उर्दू में नौ। कुछ स्थलों पर हिंदी में विस्तार है तो कहीं उर्दू में। जबकि इस संग्रह की अन्य कहानियों के पाठ में विस्तार और संकोच का अंतर नहीं है।

दोनों ही भाषाओं में यह कहानी तत्समता के आग्रह से भरी हुई है। यह भी एक ऐसा अंतर है जो इसे संग्रह की अन्य कहानियों से भिन्न ठहराता है। उपमाएँ और सामासिकता का इस कहानी में प्रचुर प्रयोग है। यह कहानी यह दिखाने में भी सक्षम है कि उर्दू गद्य की पुरानी परंपरा का प्रेमचंद कब और किस रूप में प्रयोग कर लेते हैं। भाषा की क्लासिक रवायत पर प्रेमचंद के अधिकार को जानने के लिए यह कहानी एक अच्छा उदाहरण है। सामंती परिवेश की यह कहानी, स्वभावतः, भाषा के बोले जानेवाले रूप और तद्भव-देशज प्रयोग से दूर है।

हिंदी पाठ का तीसरा भाग, उर्दू में नहीं है। यह पाठ निम्नवत है—

‘तेहरान में घर-घर आनंदोत्सव हो रहा था। आज शाहज़ादा नादिर लैला को ब्याह कर घर लाया था।  
.....एक महिला ने कहा—आपका सुहाग सदा सलामत रहे।

हज़ारों कंठों से ध्वनि निकली—आमीन!’

हिंदी पाठ के कई अंश उर्दू में नहीं हैं, यथा-

क. वह काव्य, संगीत, सौरभ और सुषमा की एक मनोहर प्रतिमा थी, जिसके सामने छोटे और बड़े, अमीर और ग़रीब, सभी के सिर झुक जाते थे, सभी मंत्र मुग्ध हो जाते थे, सभी सिर धुनते थे।

ख. वह ऋषियों के आशीर्वाद की प्रतिमा थी, कल्याण में डूबी हुई, शांति में रेंगी हुई थी। कोई उसे स्पर्श न कर सकता था, उसे मोल न सकता था।

ग. राज्य में तो यह अशांति फैली हुई थी, विद्रोह की आग दिलों में सुलग रही थी और राजभवन में प्रेम का शांतिमय राज्य था, बादशाह और मलका दोनों प्रजा के संतोष की कल्पना में मग्न थे। आदि-आदि।

घ. हिंदी पाठ के आठवें भाग का निम्न हिस्सा उर्दू पाठ में नवें भाग के रूप में है-

जिस दिन नादिर और लैला ने फिर तेहरान में पदार्पण किया, सारा नगर उनका अभिवादन करने के लिए निकल पड़ा। शहर पर आतंक छाया हुआ था, चारों ओर से करुण रोदन की ध्वनि सुनाई देती थी। अमीरों के मुहल्लों में श्री लोटती फिरती थी, ग़रीबों के मुहल्ले उजड़े हुए थे, उन्हें देखकर कलेजा फट जाता था। नादिर रो पड़ा, लेकिन लैला के ओठों पर निष्ठुर, निर्दय हास्य अपनी छटा दिखा रहा था।

नादिर के सामने अब एक विकट समस्या थी।.....उसके सामने क्या हस्ती थी!

इस भाँति तीन साल बीत गए, प्रजा की दशा दिन-दिन बिगड़ती ही गई।'

ड. यह कहानी उर्दू में 'प्रेम चालीसी', भाग-2 में संकलित हुई थी। इसका प्रकाशन 1930 में हुआ था। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि 'फ़िरदौसे-ख़याल' के पहले संस्करण में यह कहानी नहीं है। प्रेमचंद के निधन के पश्चात प्रकाशित इंडियन प्रेस से 1938 में प्रकाशित संस्करण में यह संकलित है। किंतु, 1930 और 1938 के पाठ में भिन्नता में अंतर है। 1938 के पाठ और हिंदी कहानी के पाठ का अंत कुछेक शब्दों की कमी-बेसी और शब्दों के रूपांतरण के अतिरिक्त समान है। किंतु, 'प्रेम-चालीसी' में कहानी का अंत निम्न अतिरिक्त अंश से होता है :

'नादिर ने उस कागज़ के पुर्जे को आँखों से लगाया और वहीं बैठ गया। उसका दिल एक हौलनाक बियाबान की तरह खड़ा सिसक रहा था।

एक लम्हे में उसी हौलनाक बियाबान से एक सदा-ए-दर्द उठी। लैला.....! लैला.....! जिसने उस बियाबान के एक एक ज़र्रे को उसी सदा से मुतरन्मि कर दिया।'

इस अंत से कहानी के पाठ एवं 'फ़िरदौसे-ख़याल' में संकलन के संबंध में कई प्रश्न उठते हैं। डॉ. प्रदीप जैन ने लिखा है कि 'यह निश्चित है कि गीलानी इलेक्ट्रिक प्रेस, लाहौर से प्रकाशित इसके द्वितीय संस्करण में यह कहानी प्रकाशित हुई थी।'<sup>4</sup> किंतु, वे यह उल्लेख नहीं करते कि वह संस्करण कब आया? फिर यह भी प्रश्न उठता है कि क्या 1929 से 1938 के बीच इंडियन प्रेस से इसका कोई अन्य संस्करण भी आया? और, अगर आया तो क्या उसमें भी यह कहानी संकलित है?

बहरहाल, इतना तय है कि प्रेमचंद ने 'प्रेम चालीसी', भाग-2 (1930) में इसे संकलित करते हुए इसका अंत हिंदी पाठ से तनिक भिन्न और प्रभावी बनाने का प्रयास किया।

उपर्युक्त तुलना के बाद यह कहा जा सकता है कि 'फ़िरदौसे-ख़याल' (1929) की कहानियाँ ('लैला' को छोड़कर) कई कारणों से उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों की उर्दू, सामान्यतः शाब्दिक अनुवाद का उदाहरण है। और, वह अनुवाद अत्यंत कुशलता से हुआ है। इसमें संकलित कहानियाँ अपने मूल रूप में भी हिंदी-उर्दू की आपसदारी का सुंदर उदाहरण हैं। कहानियों के पाठ की तुलना से यह भी रेखांकित होता है

कि प्रेमचंद की हिंदी तत्सम प्रभाव में नहीं, देशज और तद्भव शब्दों के प्रयोग से खिलती है, उसी तरह उनकी उर्दू की ताकत उसके मुहावरे, सामासिकता और रवानगी है। एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि कहानियों की भाषा बदलते हुए प्रेमचंद सांस्कृतिक संदर्भों वाले शब्दों को लक्ष्य भाषा के अनुरूप बदल देते हैं। वे हिंदी की 'संजीवनी' को 'उर्दू' में नहीं रहने देते। उसे 'आबे-हयात' से बदल देते हैं और इसी तरह का परिवर्तन उर्दू से हिंदी में रूपांतरित करते हुए भी करते हैं। क्या प्रेमचंद यह मानकर चल रहे थे कि उर्दू का पाठक 'संजीवनी' से अपरिचित होगा। इस बदलाव के पीछे क्या यह भी मानना था कि दोनों भाषाएँ बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक आते-आते धार्मिक पहचान के साथ नत्थी कर दी गई थीं? और, उस पहचान से मुक्त होना उनके लिए मुमकिन नहीं था?

### संदर्भ :

1. 'फ़िरदौसे-ख़्याल' के आवरण पृष्ठ पर मुद्रित था—  
फ़िरदौसे-ख़्याल/अज़/प्रेमचंद/मुसन्निफ़ प्रेम पचीसी, प्रेम हँसी, सोज़े-वतन, बाज़ारे-हुस्न, चौगाने-हस्ती, गोश-ए-आफ़ियत वगैरह/मतबूआ इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद/1929 ई.  
इस विवरण में 'प्रेम हँसी' का उल्लेख भ्रामक है। संभव है, वह मुद्रण की त्रुटि हो; और वहाँ 'प्रेम बत्तीसी' का उल्लेख होना हो। क्योंकि 'प्रेम हँसी' शीर्षक से प्रेमचंद की कोई रचना अब तक अज्ञात है। यह दोष केवल इसी संस्करण तक सीमित नहीं है। 1938 में इंडियन प्रेस से प्रकाशित इस पुस्तक के संस्करण में यह उल्लेख फिर से है।
2. मदन गोपाल द्वारा संपादित 'कुल्लियाते-प्रेमचंद' के ग्यारहवें खंड में यह कहानी संकलित है। वहाँ 'मजूरी' के स्थान पर 'मजबूरी' मुद्रित है। वह अशुद्ध है। देखें, कुल्लियाते-प्रेमचंद, खंड-11, कौमी कौंसिल बराए-फ़रोगे-उर्दू, नई दिल्ली, 2001 : 387
3. मदन गोपाल द्वारा संपादित 'कुल्लियाते-प्रेमचंद' के बारहवें खंड में यह कहानी संकलित है। वहाँ 'दावतों' के स्थान पर 'औरतों' मुद्रित है। वह अशुद्ध है। देखें, कुल्लियाते-प्रेमचंद, खंड-12, कौमी कौंसिल बराए-फ़रोगे-उर्दू, नई दिल्ली, 2003 : 29; मूल पाठ के लिए देखें, फ़िरदौसे-ख़्याल, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1929 ई. : 49
4. डॉ. प्रदीप जैन, प्रेमचंद के कहानी संकलन : प्रकाशन काल की दृष्टि से, अनुभव प्रकाशन, गालियाबाद, 2018 : 145



## शारदा सिन्हा की गायकी : निर्माणकारी परिस्थितियाँ, प्रशिक्षण एवं गुरु-प्रभाव

साक्षात्कारकर्ता : अंशुमन कुमार

लोकगीत संस्कृति के सच्चे संवाहक होते हैं। लोकगीत ही लोक संस्कृति के वो दर्पण बनते हैं जिनमें झाँकने से उस संस्कृति की विहंगम छटा का दर्शन स्वतः ही हो जाता है। लोकगीतों के माध्यम से विगत 50 वर्षों से अपना अतुलनीय योगदान दे रही स्वर साम्राज्ञी श्रीमती शारदा सिन्हा जी के व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा गाए गए गीतों की सांगीतिक विवेचना उनके संगीत की विधिवत शिक्षा और उनके विभिन्न गुरुओं से प्राप्त ज्ञान और कौशल के आलोक में देखना इस साक्षात्कार का उद्देश्य है। शारदा जी के जीवन में घटित ऐसी कई कहानियाँ मुझे बड़े सौभाग्य से उनसे एक साक्षात्कार के दौरान जानने को मिलीं जिससे यह ज्ञात हुआ कि उनके संगीत की यात्रा में उनके माता-पिता तथा गुरुओं का किस तरह से विशिष्ट योगदान रहा। इसके अलावा प्रस्तुत साक्षात्कार से आदरणीय शारदा सिन्हा जी की गायकी की विकासयात्रा की निर्माणकारी परिस्थितियों को भी समझा सकता है-

**अंशुमन कुमार :** शारदा जी, आपके संगीत यात्रा के आरम्भ को यदि हम जानना चाहें तो बाल्यावस्था के कौन से ऐसे संस्मरण हैं जो आपके अन्दर संगीत की धारा के उद्गम का बोध हमें करा सकते हैं? साथ ही यह भी जानना चाहेंगे कि आप 8 भाइयों में एक अकेली बहन हैं तो इतने बच्चों में आपकी रुचि और प्रतिभा की पहचान घर में किसने की?

**शारदा सिन्हा :** मैं जब छोटी थी तो कविताओं को अक्सर गा कर सुनाया करती थी। अगर कोई भजन जैसी रचना मन में आती थी तो अपने आस-पास किसी भी वस्तु को भगवान् बना कर उसे सामने रख कर और उसी दृश्य में खो कर गाया करती थी।

**अंशुमन :** क्या आपको उन कविताओं में से या उस समय की रचनाओं में से कुछ भी याद है? क्या वो धुन आज भी आपको याद है ?

**शारदा सिन्हा :** हाँ, बिल्कुल याद है! क्योंकि बाबूजी की एक आदत थी, वे मेरे बचपन की गतिविधियों को एक डायरी में नोट किया करते थे और मैंने एक बार उस डायरी के पन्नों में ही उस कविता की चर्चा देखी थी। बाबूजी ने उसमें लिखा था कि “शारदा आज ये कविता- ‘भैया मेरा राजा, सोने का दरवाजा को गा रही थी और साथ ही नृत्य-अभिनय भी कर रही थी”। बाल्यावस्था की मेरी ऐसी प्रतिक्रियाओं पर मेरे पिता स्वर्गीय शुकदेव ठाकुर जी का ध्यान गया और समय के साथ घर के अन्य सदस्यों ने भी उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। मेरे पिता जी एक बहुत बड़े शिक्षाविद थे और अपने सामायिक परिवेश के मुताबिक

एक उन्नत सोच रखने वाले पिता थे। इसलिए वे हमेशा ये मानते थे कि जिस भी बच्चे की जो रुचि हो उसे उसी दिशा में अग्रसर करना चाहिए।

**अंशुमन :** बाल्यकाल में परिजनों के अलावा स्कूल जैसे परिवेश में तथा अपने अध्यापकों के समक्ष किस तरह की बातें आपको याद आती हैं ?

**शारदा सिन्हा :** छुटपन में कई स्कूलों में पढ़ाई हुई क्योंकि पिताजी की अपनी नौकरी में स्थानांतरण होता रहता था। वे शिक्षा विभाग में कार्यरत थे और बिहार के संयुक्त शिक्षा-निदेशक के पद से सेवा-निवृत्त हुए थे। इसलिए मेरी प्रारंभिक शिक्षा भागलपुर, रांची और पटना के विभिन्न विद्यालयों में हुई। मुझे स्मरण है कि बाबूजी ने अपनी डायरी में भागलपुर के नवयुग विद्यालय में मेरे पठन-पाठन की बात लिखी थी। वहीं पर उन्होंने मुझे 'भैया मेरा राजा...' गाते हुए देखा था। तब मेरी उम्र 3-4 वर्ष की रही होगी। बाबूजी ने मेरे बालपन की अठखेलियों को भी संस्मरण के तौर पर दर्ज कर रखा था, इस बात को सोच कर मुझे गर्व होता है कि मैं ऐसे दूरदर्शी पिता के घर जन्मी। पिताजी ने मेरी बदमाशियों, मेरे विकसित होने की प्रक्रिया को, मेरे बाल्यावस्था की सोच, भाई बहनों से मेरे रिश्ते इन सभी बातों को डायरी में दर्ज किया है। और, इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने मेरे विद्यालय के प्राध्यापक की टिप्पणियों तक को भी उसमें दर्ज किया है जिससे मुझे यह भान होता है कि अपनी एक मात्र बेटी के समुचित विकास के लिए सतत चिन्ताशील एक पिता और उनका अनुसरण करने वाली मेरी माँ स्वर्गीय सावित्री देवी की भूमिका कितनी अहम है। जीवन में मुझे कई गुरुओं का सानिध्य प्राप्त हुआ पर इस मार्ग पर मुझे प्रशस्त करने का श्रेय अगर सर्वप्रथम किसी को जाता है तो वे मेरे पिता ही थे। पर, मैं तुम्हारे प्रश्न पर लौटती हूँ जिसमें एक महत्वपूर्ण बात तुमने पूछी है कि अध्यापकों के साथ क्या अनुभव रहे? तो जैसा कि मैंने पहले बताया, पिताजी के बार-बार शहर बदलने की वजह से मेरे विद्यालय और अध्यापक भी बदलते रहे। यही कारण है कि बहुत लम्बे समय तक किसी एक गुरु के सान्निध्य में मैं नहीं सीख पाती थी। पर जब ऐसे पिता हों जिन्हें मेरे हुनर का आभास था तो उनका प्रयास सदा यही रहा कि शिक्षण-प्रशिक्षण के कार्य की निरंतरता टूटने न पाए और इसलिए जहाँ भी मैं एडमिशन लेती वहाँ नृत्य-संगीत के प्रति मेरी रुचि का खयाल बाबूजी जरूर रखते और प्राध्यापक से इसकी चर्चा कर लेते थे। मुझे ध्यान है कि बांकीपुर गर्ल्स हाई स्कूल में मेरा नामांकन 7वीं या 8वीं कक्षा में हुआ था। वहाँ संगीत के शिक्षक थे श्री अखौरी नागेन्द्र नारायण सिन्हा जी जिन्हें लोग अक्सर 'अखौरी जी' या 'नंदन जी' के नाम से संबोधित करते थे और श्रीमती रागिनी चटर्जी जी भी थीं। अखौरी जी संगीत मार्तंड पंडित ओमकार नाथ ठाकुर जी के शिष्य थे। यहाँ पर ये बताना जरूरी है कि ग्वालियर घराने की गायकी से मेरा परिचय अखौरी जी के सान्निध्य में ही हुआ। अतः मैंने अपनी बाल्यावस्था में कई बंदिशें और गायकी के अंग को इनसे ग्रहण किया था। मुझे अखौरी जी बहुत मानते थे और अमूमन मैं विद्यालय के अंतर्गत जो गीत संगीत की एक छोटी सी दुनिया होती है उसमें जानी जाने लगी थी क्योंकि मैं अतिरिक्त सह पाठ्यक्रम के गतिविधियों में आगे रहती थी। राज भवन में जन गण मन की प्रस्तुति में गाना हो या विद्यालय के संगीत प्रतिस्पर्धा में, देश भक्ति के गीत कहीं गाने हों या हॉस्टल के अन्दर मेरे दोस्तों के बीच की अंत्याक्षरी हो, मुझे अक्सर ढूँढ़ कर लोग सम्मिलित कर ही लेते थे।

**अंशुमन :** शारदा जी, जब ये सब हो रहा था तब वह कौन सा साल रहा होगा, आपको स्मरण है ?

**शारदा सिन्हा :** जरूर, मैं याद करने की कोशिश कर रही हूँ और जैसा मुझे स्मरण आता है कि ये तकरीबन 1963-64 की बात रही होगी।

**अंशुमन :** तो क्या आपने शास्त्रीय संगीत सीखने के सिलसिले में सबसे पहली बंदिश या खयाल इन्ही वर्षों में सीखा था या बांकीपुर विद्यालय में आने से पहले राग रागिनियों की दुनियां से आप परिचित हो चुकीं थीं?

**शारदा सिन्हा :** देखो दरअसल देखा जाये तो इन गतिविधियों की सटीक समयावधि को बताना ज़रा मुश्किल होगा लेकिन मुझे यह अच्छी तरह से याद है कि हुलास (मेरा पैतृक स्थान-जन्म स्थान) में पिताजी ने पंडित रामचंद्र झा जी को इस कार्य के लिए बोल रखा था। क्योंकि, मैं हॉस्टल में रहती थी और छुट्टियों में मेरा गाँव आना तय था। उस दौरान घर पर मेरी साधना में कोई कमी न आ जाए या मेरे संगीत के शिक्षण में कोई बाधा न आये इसके लिए पिताजी ने पुख्ता इंतजाम कर रखा था। वे बड़े आदर से और पारंपरिक तरीके से गुरु जी (पं रामचन्द्र झा जी) को घर बुलाते और वे एक सप्ताह मेरे घर पर ही निवास करते थे। उस दौरान सुबह सवेरे उठ कर रियाज करवाने से ले कर स्वर साधना और शास्त्रीय संगीत के अनुशासन की समझ को बाल मनोविज्ञान में स्थापित करने का कार्य इन गुरुओं ने ही किया था। बाद के दिनों में पंडित रघु झा जी ने मुझे शास्त्रीय संगीत के गाम्भीर्य का बोध करवाया। परन्तु मैं इन दोनों गुरुओं की परस्पर भूमिका को अपने संगीत यात्रा के सृजनकर्ता के रूप में ही मानती हूँ। मेरे प्राथमिक गुरुओं यानी पं रामचंद्र झा जी तथा रघु झा जी का सम्बन्ध क्रमशः 'पनिचोभ घराना' तथा पंचगछिया घराने से था। इन दोनों गुरुओं ने इन्हीं घरानों से अपनी अपनी संगीत शिक्षा का विकास किया था। इनमें पं रघु झा जी जिन्हें 'शेरे-ए-बिहार' और 'संगीत चूड़ामणि' की उपाधियाँ दी गई थीं एवं पंचगछिया घराने के मूर्धन्य गायकों में जाने जाते थे। राय बहादुर बाबू लक्ष्मी नारायण सिंह जी पंचगछिया घराने के संरक्षक और पोषक थे। पंचगछिया घराने की विशेषता खयाल एवं ठुमरी गायन के साथ पखावज वादन की मानी जाती रही है।

पं. राम चन्द्र झा जी ने मुझे सबसे पहले राग भूपाली से अवगत कराया था और वो बंदिश थी 'जाऊं तोरे चरण कमल पर बारि, हे गोविन्द गोपाल मुरारी' और एक प्रार्थना जैसी बंदिश भी सीखी थी जिसके बोल थे, 'विनती सुनो भगवान हमारी'। इसके अलावा राग देश के लक्षण गीत-देश राग 'सखि अति प्रिय लागत' और राग खमाज की बंदिश 'अरे मन हरी सौं करिए तू प्रीत' (शारदा सिन्हा को ये बंदिशें धुन सहित याद थी जिसे उन्होंने गा कर सुनाया भी)। पनिचोभ घराना का एक पुराना इतिहास रहा है और स्व. रामचंद्र झा जी का नाम इसमें अग्रणी है।

मैं जानती हूँ कि तुम्हें अब भी प्रश्न आ रहे होंगे कि कौन सी बंदिश कब सीखी थी! पर ये याद करना मेरे लिए थोड़ा मुश्किल है। स्मृति में यही आता है कि हर छुट्टी में घर आने पर कुछ नया सीखने को मिलता ही था, और यह सिलसिला मेरे स्नातकोत्तर ही नहीं बल्कि मेरी शादी तक जारी रहा।

**अंशुमन :** बाल्यावस्था में इन गुरुओं द्वारा राग रागिनियों की जानकारी के अलावा और ऐसी कौन सी बातें आपकी स्मृति में आती हैं जिन बातों का असर आपकी गायकी या आपके जीवन और व्यक्तित्व पर पड़ा?

**शारदा सिन्हा :** यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और वाकई शास्त्रीय संगीत के प्रशिक्षण में व्यक्ति केवल रागों की जानकारी या शास्त्रीय संगीत का अनुशासन ही नहीं सीखता बल्कि एक जीवन शैली को आत्मसात करना होता है। जब मैं बहुत छोटी थी तब स्वर साधना के तरीके सबसे पहले मुझे पं. रामचंद्र झा जी ने सिखाया और आगे चल कर पं. रघु झा जी ने। सुबह 4 बजे उठ कर जब नींद से आँखें नहीं खुल रही होती थीं तभी गुरु जी तानपुरा के तार छेड़ना शुरू कर देते और षडज साधना करने को कहते। कुछ समय बीतने के बाद उन्होंने मुझे कंठ संस्कार के दृष्टिकोण से 'अ, आ, ॐ, ए, इ, उ' जैसे स्वर वर्णों के रियाज

में अग्रसर किया। परन्तु इस रियाज में अक्सर गाते गाते सोने की अवस्था में पहुँचने लगती थी; जाहिर है, लम्बी अवधि तक ऐसे अ, आ, ॐ इत्यादि स्वर वर्णों को गले से निकालते रहने पर एक बच्ची का मन नहीं लग रहा था। यहाँ ये पहले ही बताना चाहूंगी कि पं. रामचंद्र झा जी एक कोमल हृदय व भावुकता से भरे शिक्षक थे। एक बालमन को कैसे प्रेम पूर्वक समझा कर काम करवाना है, वे अच्छी तरह जानते थे। इसलिए उन्होंने नया तरीका इजाद किया। उन्होंने मुझे यह बताया की प्रातः काल ‘भगवान् श्री राम जी’ के सुमिरन से साधक के अन्दर विशेष गुणों का विकास होता है, और साधना सहज व उत्तम परिणाम देने वाले होती है। इसलिए प्रातः अभ्यास में तानपुरे के स्वर पर ‘राम’ शब्द का उच्चारण करने को उन्होंने मुझे बोला। दर-असल शास्त्रीय संगीत में अभ्यास के दौरान मुँह को पूरा खोल कर गाने पर जोर होता है क्योंकि मुँह पूरा यदि नहीं खोल कर स्वर लगाया जाए तो स्वर के लगाव बदल जाते हैं और इस बात को गुरुजन जानते हैं। तो तुम देखो कि ‘राम’ के उच्चारण में ‘आ’ वर्ण का अभ्यास स्वतः ही हो जाता है। और अध्यात्म से जुड़ाव होने की वजह से रियाज में अनुराग की अनुभूति होने लगती है।

एक संस्मरण और है जिसका प्रभाव मेरे जीवन और गायकी दोनों पर, यहाँ तक की व्यक्तित्व पर भी, गहरा पड़ा था। क्योंकि तुम्हारा प्रश्न यही है तो मुझे ये बताना जरूरी लगता है। एक बार छुट्टियों के बाद मुझे अपने विद्यालय वापिस जाना था और मेरे गुरु पं. रघु झा जी को भी अपनी एक शास्त्रीय गायन प्रस्तुति हेतु वहीं जाना था। इसलिए पिताजी ने उनसे ही आग्रह किया कि वे स्वयं मुझे हॉस्टल छोड़ आयें। मेरे लिए तो बिलकुल ही नई बात थी और मैं उत्साहित भी थी कि गुरु जी स्वयं साथ जा रहे हैं। इस रेल यात्रा को मैं कभी नहीं भूलती, क्योंकि आजीवन न भूलने वाली सीख इसी में छिपी है। संध्या को हमारी यात्रा शुरू हुई थी। ये उस समय की ट्रेन थी, जब ट्रेन की खिड़कियों में लोहे के रॉड नहीं होते थे। टायर में हमारी यात्रा हो रही थी चलती ट्रेन में जब सुबह के चार बज रहे थे, गुरु जी ने मुझे नींद से जगाया और कहा कि ‘उठे शारदा, भोर भए गेलै’। मैंने सोचा पता नहीं क्यों उठा रहे हैं इस वक्त क्या उन्हें कोई समस्या आई कि मुझे अभी उठने कह रहे हैं? पर अचरज की सीमा तब टूट गयी जब उन्होंने कहा कि ‘स्वर साधन के समय भै गेलै ..स्वर साधन एहीठाम शुरू कै दहक’। मैंने उनसे जब कहा कि “गुरुजी तानपुरा त नै छै. तहन कोना स्वर साधन संभव हेतै?” इस पर उन्होंने कहा “कोनो बात नै शारदा, ट्रेन जे चलै छै ओकरे स्वर सौं स्वर मिला क अभ्यास कैल जा सकै छै”। अब तो मैं बिलकुल ऐसी सोच में पड़ गयी कि इतने लोग सो रहे हैं कुछ लोग सामने ही बैठे हैं ऐसे में उनके सामने ये आ आ की आवाज लगाना कैसा अब्धाबा सा लगेगा ? पर गुरुजी ने मेरी मनः स्थिति को समझते हुए मुझे एक लोकोक्ति द्वारा समझाया कि “ढीठा गावै अ बेसरमा नाचौ” अर्थात् “गायक को अपने अभ्यास के समय शर्म लाज छोड़ कर, ध्यान मग्न हो कर हर स्थिति में अपना रियाज करना चाहिए। ...एक दिन के रियाज छूट जाने पर साधक 3 दिन पीछे हो जाता है और 3 दिन के रियाज छुट जाने पर साधक एक सप्ताह पीछे छूट जाता है”। उस दिन से मेरे जेहन से यी बातें कभी नहीं उतरी और अनवरत मैं गुरुवाणी को अटल सत्य मान कर अपनी साधना करती रही। आज, जब मैं 70 वर्ष की होने चली तब भी अपने रियाज में ‘राम’ और जहाँ भी होऊँ चाहे यात्रा में या कभी चिकित्सीय कारणों से अस्पताल में रहना हो, अपने स्वर साधन को मैं संजीवनी मान कर जारी रखती हूँ। गुरुजन द्वारा दी हुई यही शक्तियाँ मेरे जीवन की उपलब्धियाँ हैं।

**अंशुमन :** स्कूल से कॉलेज की तरफ यदि आगे बढ़ें तो संस्थागत प्रशिक्षण के तहत भी आपके कुछ गुरु हुए होंगे, जो आपके प्रेरणास्रोत बने, उनके बारे में भी कुछ बताइए।

**शारदा सिन्हा :** बिलकुल मुझे याद है, क्योंकि कॉलेज में आते आते अनुभव के स्तर बदल चुके थे, जाहिर है कि किशोरावस्था के उत्साह में जो उत्साह था उस समय की स्मृतियों में एक अलग सा जोश था। संगीत को मेरे मन ने पूर्ण रूप से आत्मसात कर लिया था और मेरे लिए सांगीतिक गतिविधियाँ सबसे ज्यादा महत्व रखने वाले हो चले थे। मैं बहुत सौभाग्यशाली रही कि मेरी हर आयु में जिन गुरुओं से मेरा परिचय हुआ उन्होंने मुझे अगाध स्नेह और शिक्षण के गाम्भीर्य के साथ ही सिंचित किया। इस सिलसिले में मगध महिला कॉलेज की स्मृतियाँ मेरे मन में आज भी ताजा हैं।

यहाँ मेरे संस्थागत प्रशिक्षण प्रणाली के तहत भागलपुर के मिश्र घराने के ‘श्री प्रह्लाद प्रसाद मिश्र जी’ से हुई जो इस कॉलेज में संगीत के प्रोफेसर थे। इनसे मुझे ध्रुपद- धमार, बड़ा ख्याल, छोटा ख्याल तथा भजन इत्यादि सीखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। राग रामकली की बंदिश ‘सागरी रेन के जागे पागे, सुघर चतुर सुर जन्मा बलमा...’, राग पुरिया की बंदिश ‘पिया गुणवंता ...’, राग जय जयवंती की बंदिश ‘पालना गढ़ला ...’ तथा राग पूरिया धनश्री पर आधारित संस्कृत रचना ‘त्वमादी देव पुरुषः पुराण...’ सीखा था। मुझे पुरिया धनश्री राग और स्व. प्रह्लाद जी द्वारा सीखी यह रचना इतनी ज्यादा पसंद है कि 2015 में हमारे वर्तमान राष्ट्रपति माननीय श्री राम नाथ कोविंद जी के समक्ष मुंबई के रंग शारदा ऑडिटोरियम में जब उनके स्वागत में कुछ गाने का आग्रह किया गया तो स्वतः ही संस्कृत की रचना मंच पर याद आ गयी और इसकी प्रस्तुति से वह संध्या एक यादगार संध्या की तरह मुझे सदा याद रहती है। आदरणीय प्रह्लाद जी मुझे बहुत स्नेह देते थे और कॉलेज के दिनों में भी बिलकुल पारिवारिक सम्बन्ध बना कर उन्होंने पठन-पाठन के कार्य को सरल बना दिया था।

**अंशुमन :** आपकी संगीत यात्रा में अन्य गुरुजनों की चर्चा आपने की थी जिनके मार्गदर्शन की आपकी गायकी को गढ़ने और परिष्कृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसके अलावा विवाह एक महिला के जीवन में सबसे बड़ा मोड़ होता है और विवाहोपरांत, जैसा कि आप पहले बता रहीं थी, अंग्रेजी भाषा में स्नातकोत्तर करने जब आप मुजफ्फरपुर के लंगट सिंह कॉलेज में थीं, उन्हीं दिनों ग्वालियर घराने के ‘पं.सीताराम हरी दांडेकर जी’ से आपका परिचय हुआ। स्व. सीताराम हरी दांडेकर जी के सान्निध्य में आपने गायन शैली के किन आयामों को अंतर्लीन किया ?

**शारदा सिन्हा :** बिलकुल ये सत्य है कि गुरुओं की भूमिका मुझे गढ़ने से लेकर प्रस्तुतीकरण के लिए तैयार करने तक रही; यहाँ तक कि संगीत के व्यावसायिक पक्ष को समझाने से लेकर यह सुनिश्चित करने की भी रही कि किस तरह के कार्यक्रम में प्रस्तुति देना उचित होगा। प्रारंभिक गुरुओं ने जहाँ मेरे संगीत-बोध में वृद्धि की और कंठ संस्कार को आकार दिया वहीं पं. सीताराम हरी दांडेकर जी के प्रशिक्षण में मुझे संगीत के उन पक्षों को जानने का मौका मिला जो मुझे मेरे संगीत यात्रा के लिए सशक्त और प्रस्तुतीकरण की दुनिया के लिए दक्ष बनाने वाले थे। स्व. दांडेकर जी ग्वालियर घराने के श्री विनायक राव पटवर्धन जी के शिष्य थे। दिखने में गौरवर्ण, दिव्य कान्ति लिए, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए और चेहरे पर एक सुकून भरी मुस्कराहट, मुझे वे बिलकुल वैसे ही याद आते हैं। खुली आवाज में गाना, ध्रुपद अंग गायन, आलापों का निराला ढंग, सीधी व सपाट तानों का प्रयोग, बोल तानों के प्रयोग के साथ गमक को गायकी में शामिल करना इस घराने की विशेषता है। एक तरह से देखो तो ग्वालियर घराने की गायकी से मेरा परिचय दोबारा हो रहा था। इससे पहले ‘अखौरी जी’ जी ने किशोरावस्था में ग्वालियर घराने के गूढ़ तत्वों से और इस घराने की विशेष गायन शैली से अवगत कराया था। मुझे याद है राग यमन जब मैंने ‘आदरणीय नंदन जी’ से सीखा

था उन्होंने मुझे इसी बंदिश से सिखाया था जिसके बोल 'आहात अनहद भेद नाद के, प्रथम भेद श्रुतियां सौं होवे, अनहद मुनिजन ध्यान धरत जब। और ध्रुपद शैली में एक भजन भी, जिसके बोल थे 'गौरांग अर्थांग गंगे तरंगे....' परन्तु इस घराने की अन्य बारीकियों से मैं दांडेकर के समीप ही अवगत हुई। और जब दांडेकर जी ने मुझे पुनः यमन सिखाना शुरू किया था तो उन्होंने मुझसे 'आहत अनहद ..' वाली बंदिश जब सुनी तो उन्होंने यही कहा था कि "आपने मेरी बंदिश से भी अच्छी बंदिश सीखी है इसको बिलकुल ऐसे ही गाइए जैसे आपने किशोरावस्था में सीखा था। फिर उसी बंदिश में उन्होंने अपनी शैली के बोल अलाप और 8-8 मात्रे के छोटे छोटे तान सिखाये थे। इसके अलावा राग हिंडोल, राग शुद्ध कल्याण, राग हेमंत, राग गौड़ मल्हार इत्यादि के प्रशिक्षण मिले। रागों पर आधारित भजन मुझे दांडेकर जी ने खूब बताये। और जैसे उनके व्यक्तित्व में सात्विकता भरी थी उसी तरह भजनों को गाने में और बताने में वे एक अलग ही आनंद लिया करते थे।

**अंशुमन :** क्या इन दिनों में आपने प्रस्तुतियां देनी शुरू कर दी थीं या दुनिया आपकी गायकी से इस समय तक अनभिज्ञ थी ?

**शारदा सिन्हा :** नहीं नहीं, मैं इन दिनों में रेडिओ की ग्रेडेड आर्टिस्ट हो चुकी थी और 'दुलरुआ भैया', और विवाह गीतों के इ पी रिकार्ड्स बाजार में आ चुके थे। मंच प्रदर्शन भी खूब होते थे। यूँ कहो की मंच प्रदर्शन ही मूलतः उन दिनों गायन-वादन-नृत्य इत्यादि को प्रदर्शित करने के माध्यम थे। इस बात पर मुझे एक वाक्या याद आ गया। एक बार बिजली विभाग के एक कार्यक्रम के लिए मुझे बुलाया गया था मुजफ्फरपुर में ही, और वह अवसर था विश्वकर्मा पूजा का। तब मैं दांडेकर जी के पास 'हरी सभा चौक' अपने पति श्री ब्रजकिशोर सिन्हा जी के साथ पहुंची और मैंने उनसे आग्रह किया कि "मैं चाहती हूँ जब मैं अपनी प्रस्तुति दूँ तो आप सामने बैठे हों, क्योंकि यह सौभाग्य बड़े मुश्किल से किसी शिष्य को प्राप्त होता है।" और, उन्होंने खुशी खुशी इस बात के लिए अनुमति दी। मैंने उनके सिखाये भजन उनके सामने प्रस्तुत किये और उन्होंने मुझे आशीष दे अनुगृहीत किया। आदरणीय दांडेकर जी की एक और बात है जो मैं कभी नहीं भूलती; क्योंकि शिष्य के जीवन में ऐसे पल बार बार नहीं आते। एक बार अपने प्रशिक्षण कार्य को पूरा कर जब मैं घर जाने को वहां से चली तो अमूमन जैसे हमारी संस्कृति है, गुरु के चरण रज ले कर ही हम वहाँ से विदा लेते हैं। मैं भी झुकी और उनके चरण स्पर्श किये और उन्होंने एकदम से मुझे कहा कि "शारदा सिन्हा आप पैर मत छुआ कीजिये ... भगवान् ने आपके गले में वो हरकत स्वतः डाल कर भेजी है जो किसी संगीत के विद्यार्थी को 10 वर्षों के रियाज के बाद मिल पाता है।" तुम सोच सकते हो कि मैं उनके ये शब्द सुन कर स्तब्ध खड़ी रह गई। उनका ऐसा कहना मेरे लिए बहुत बड़ी बात थी; लेकिन उनके इस स्नेह को मैंने उनके आशीर्वाद स्वरूप ग्रहण किया और ये तो गुरु कृपा ही है जिसने मुझे संगीत में मुकाम दिया।

**अंशुमन :** शारदा जी, आपके जीवन में गुरुओं की कड़ी में अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण कड़ी पर आपसे एक आखरी सवाल करना चाहता हूँ। भले ही आपने शास्त्रीय संगीत सीखा हो और सुगम संगीत आपके दिल के बहुत करीब रहा, परन्तु आपके आत्मिक रुझान कहीं न कहीं संगीत के उपशास्त्रीय तथा लोक पक्ष की तरफ ज्यादा हुए। ईश्वर की कृपा से आप लोक संगीत के मील के पत्थर रूप में जानी भी जाती हैं। पर अनेक शास्त्रीय गुरुओं के सान्निध्य के बावजूद आपने "श्रीमती पन्ना देवी जी", जो कि गज़ल-साम्राज्ञी बेगम अख्तर जी की समसामयिक गायिका थीं, उनसे भी तालीम ली। क्या आपको गायकी के कुछ विशेष अंग

के विकास की इच्छा हुई थी? क्या आप संगीत में उपशास्त्रीय गायन शैली की तरफ, मेरा मतलब “ठुमरी-दादरा” से है, कदम बढ़ाना चाह रही थीं? स्व. पन्ना देवी जी के सान्निध्य के संस्मरण विद्यार्थी और शोधार्थियों के लिए एक अनूठी जानकारी होगी; क्योंकि आपका ये मानना है कि आपने उनसे बहुत कम सीखा पर बहुत कम अवधि में भी उन्होंने आपकी गायकी के साथ जादूगरी कर दी थी। प्रस्तुतीकरण के भाव पक्ष की कौन सी बातें आपने उनसे सीखी ?

**शारदा सिन्हा :** (मुस्क्राते हुए ) तुम्हारे एक सवाल में तो कई सवाल छिपे हैं। पर मैं प्रयास करूँगी कि अपने संस्मरण से तुम्हें समझा सकूँ। देखो, संगीतवेत्ताओं से यदि जानकारी लोगे तो पाओगे की कलाकार के जीवन में गायन कला सीखने के अलावा श्रवण की कला सीखना भी जरूरी है। विविध शैलियों, घरानों, विधाओं के श्रवण से कलकार का समुचित विकास होता है। जैसे गुरु शिष्य परंपरा में गुरु की पूरी जीवन शैली का असर शिष्य की गायकी पर झलकता है वैसे ही अपनी दिनचर्या में यदि किसी दिग्गज गायक/गायिका को हम सुनते रहते हैं और साथ ही अनुकरण करते रहते हैं उससे उन कलावन्तों की गायकी के गुणों की झलक संगीत के विद्यार्थी या उस संगीत को सुनने वाले कलाकार पर पड़ता है। यह भी सत्य है कि जो ज्ञान हम सापेक्ष रूप से गुरु के सामने रहकर अर्जित कर सकते हैं, उस तुलना में श्रवण मात्र से सीखे कलाकार के अनुभव कम होंगे और अनुमान पर आधारित होंगे, जिससे कलाकार के अन्दर कुछ न कुछ त्रुटियाँ रह जाने की आशंका रहती है। तो मैं भी उन दिनों ठुमरी दादरा की मल्लिका के रूप में जानी जाने वाली “श्रीमती निर्मला देवी (बाद में निर्मला अरुण के नाम से मशहूर), श्रीमती लक्ष्मी शंकर, मेरी आदर्श आदरणीया बेगम अख्तर जी और श्रीमती शोभा गुर्दू जी के एल.पी. रिकार्ड्स को पूरे दिन अपने काम के साथ साथ श्रवण करती रहती थी। और संध्या काल के रियाज के वक्त जब हमारे “तबला संगतकार” स्व. सूरज कुमार रॉय जी आते तो उनके साथ घंटों लम्बी बैठकी लगती और मैं उन ठुमरियों, दादरा, ग़ज़ल के रियाज तबले के लय पर करती थी ।

**अंशुमन :** क्या कुछ ठुमरियों के बोल आपको स्मरण हैं ? कुछ ठुमरियों के बारे में बताइए। इन उपशास्त्रीय विधाओं के अलावा आप और किन विधाओं को सुनती थीं ? क्या लोक-संगीत भी श्रवण का हिस्सा थे?

**शारदा सिन्हा :** हाँ हाँ बिल्कुल, उन रियाज के पलों की बातें कभी नहीं भूल सकती। “मैंने लाखों के बोल सहे” निर्मला देवी की आवाज में; “चैन कहाँ से पाऊँ”, सावन बीता जाये” इत्यादि जो लक्ष्मी शंकर जी और निर्मला देवी जी के युगल गायन में होती थी। “एही ठइयां मोतिया हेराई गेले रामा”- चैती, “रो रो नैना गवाए सजना न आये”; निर्मला देवी जी के एकल गायन को और साथ ही बेगम अख्तर जी के “ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया”, “खुश हूँ कि मेरा हुस्न-ओ-तलब काम तो आया..”, “उज्र आने में हैं और बुलाते भी नहीं” इत्यादि ग़ज़लों को पूरे दिन सुनती रहती थी। भारतीय तथा कर्नाटकीय शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय संगीत में समय-सिद्धांत का बड़ा महत्त्व है। जहाँ प्रस्तुति देने या अभ्यास करने के समय इस सिद्धांत की महत्ता है, वहीं गुरुजनों द्वारा श्रवण के लिए भी समय सिद्धांत के हिसाब से ही सुनने की सलाह दी गई है। अत्यंत व्यस्तता के कारण हो सकता है बहुत ज्यादा समय सिद्धांत का अनुसरण न कर सकी होड, पर जहाँ तक हो सका मेरा यही प्रयास रहा कि समय का ध्यान कर के ही श्रवण करूँ या एल.पी. रिकॉर्ड का चयन करूँ। सुबह का वक्त है तो क्या, और दोपहर का वक्त है तो क्या, अथवा संध्या व रात्रि में क्या बजाना चाहिए या श्रवण करना चाहिए, इस बात का खयाल यथासंभव रखने कोशिश जरूर की। इसलिए प्रातःकाल अपना रियाज संपन्न कर जब घर के सदस्यों की चहल-पहल शुरू हो जाती थी

तब समय के अनुसार मैं सबसे पहले भजनों से शुरुआत करती, भजनों की सूची जब तक खत्म होती तब तक बच्चों को उठाना, तैयार करना और उसी बीच उनके स्कूल के लिए नाश्ता और सिन्हा साहब के दफ्तर जाने से पहले उनके और अन्य परिजनों के लिए नाश्ते की व्यवस्था पूरी हो जाती थी। दोपहर के खाने और सबके स्नान ध्यान करते करते तक मेरे ग्रामोफोन प्लेयर से पंडित भीमसेन जोशी, उस्ताद नजाकत अली सलामत अली, विदुषी शोभा गुटू इत्यादि के गांभीर्य से ओत-प्रोत संगीत बज चुके होते थे। 4 से 5 बजे पूर्व-संध्या बेला में आदरणीय लता दीदी, आदरणीय मुकेश जी, मोहम्मद रफी साहब, आदरणीय मन्ना डे जी इत्यादि के फिल्मी संगीत का समय होता था।

फिर जब बच्चे स्कूल से लौट जाते तो उनके मनोरंजन के लिए श्री हुल्लड़ मुरादाबादी की हास्य कवि सम्मेलन वाले चुटकुले चला देती थी। साथ ही राजस्थानी लोकगीत 'पल्लो लटके' के वाद्य संगीत, और कुछ उनके मन लायक फिल्मी गीतों को बजाती थी। (मुसकुराते हुए कहतीं हैं शारदा) दरअसल ये उन्हें बहलाने फुसलाने के बहुत काम आता था, क्योंकि वो जल्दी से कपड़े बदलें, हाथ मुँह धोएं और खाना खा लें इसके लिए उन्हें हँसाते खेलाते मुझे अपना काम करना जरूरी था। संध्या ढलते ही पंडित निखिल बनर्जी जी का सितार, उस्ताद अली अकबर खान तथा उस्ताद अमजद अली खां के सरोद वादन इत्यादि शुरू हो जाते थे। इसके पीछे एक कारण ये था कि मैं कथक नृत्य रोज शाम को अभ्यास किया करती थी और इसमें मुझे सितार सरोद पर बजने वाले झाले से आंतरिक ऊर्जा मिलती थी। इन सबके बाद शाम की चाय के समय अपने गाए हुए ध्वन्यांकित गीत एस-पी(short play) और एल-पी(long play) रिकार्ड में जो थे उन्हें बजाती थी और अपने घर के बाहर वाले हिस्से में एक छोटा सा बगीचा था जिसके बागवां सिन्हा साहब थे, वहाँ बैठ कर दूर से सुन कर उन रचनाओं के साहित्य-संगीत तथा उनसे जुड़ी स्मृतियों को समरण करते हुए मेरे समक्ष बैठे शुभ चिंतक तथा आलोचकों के विचार भी सुनती थी। सिन्हा साहब के घर लौटने का जब समय होता था तब संध्या के नाश्ते इत्यादि की तैयारियां शुरू होती और गज़लों का एक दौर चलता था। इसका भी एक कारण था और वो यह कि सिन्हा साहब को शेर-ओ-शायरी का बड़ा शौक था और जब वो थके हुए दफ्तर से आये तो कहीं उन्हें शास्त्रीय संगीत के जटिल माहौल से न जूझना पड़े इसका ख्याल रखना भी मेरा ही फर्ज था। इसलिए उस्ताद मेहंदी हसन, लता दीदी द्वारा गाए हुए मिर्जा गालिब के अशआर, श्री जगजीत सिंह जी के लोकप्रिय नज़्म और फिल्मी गीत, उस्ताद गुलाम अली साहब इत्यादि ही बजते थे। इसी सिलसिले में ऐसा भी होता था कि कभी सिन्हा साहब या उनके कोई अनन्य मित्र किसी नए एलबम को ले कर आते थे कि मुझे सुन सकें तो उसका श्रवण एक अलग ही काम होता था।

**अंशुमन :** आपके सारे संस्मरण हम शोधार्थियों के लिए अत्यंत प्रेरणा-दायी हैं इसलिए पुनः आपकी गुरु स्वर्गीय पन्ना देवी जी के सन्निध्य के स्मृति शेष को जानने की इच्छा है।

**शारदा सिन्हा :** श्रीमती पन्ना देवी जी से मेरी मुलाकात सर्वप्रथम सन 1975 में हुई थी। यहाँ ये बताना आवश्यक है कि नेपथ्य में मेरे अन्दर गायकी के और भी अधिक सूक्ष्म गहराइयों को ग्रहण करने की तीव्र इच्छा होती रहती थी। और इसी वजह से मेरे घर पर होने वाले संगीत के बैठकों में या किसी कार्यक्रम के दौरान मेरे दिमाग पर यह प्रश्न अन्दर ही अन्दर छाया रहता था कि मैं आगे किससे सीख सकती हूँ ? परिणामवश मेरी इस चिन्ता की चर्चा होती रहती थी। सिन्हा साहब के एक अनन्य मित्र थे स्वर्गीय सौदागर यादव जी, जो कि अपने सगे भाई स्वर्गीय रामप्रसाद यादव जी के साथ साथ “भारत माता मंडली, लंगर

टोली” के सचिव के पद पर थे। गौरतलब है कि ‘भारत माता मंडली’ वही कार्यक्रम समिति थी जो कि पूरे देश में सबसे लोकप्रिय कार्यक्रम करवाती रही है जिसका अवसर ‘दुर्गा पूजा’ हुआ करता था। इस मंच से भारतवर्ष के सभी मूर्धन्य एवं विशिष्ट कलाकार प्रस्तुतियाँ देने को उत्सुक होते थे। इन कलाकारों में कई ऐसे कलाकार भी थे जो संगीत-नृत्य-वाद्य जगत के किंवदंती बन चुके थे। जैसे कि उस्ताद बिसमिल्लाह खाँ, उस्ताद अल्लाह रखा खाँ, पंडित गुदई महाराज, पंडित किशन महाराज, पंडित वी.जी जोग, विदुषी एन. राजम, उस्ताद रईस खाँ, उस्ताद विलायत खाँ, श्रीमती निर्मल देवी, श्रीमती लक्ष्मी शंकर, बेगम परवीन सुलताना, पंडित बिरजू महाराज, उस्ताद गुलाम अली, श्री पंकज उधास, श्री अनूप जलोटा, श्री चंदन दास इत्यादि।

वस्तुतः श्री सौदागर यादव जी जब मेरी चिंता से वाकिफ हुए तब उन्होंने मुझे एक नाम बताया और वह नाम था ‘श्रीमती पन्ना देवी’ का। क्योंकि वे इन कार्यक्रमों को सुनने अक्सर आती थीं और यदा-कदा मंच पर अपनी प्रस्तुति भी देती रहती थीं। इसी वजह से वे सौदागर जी के संपर्क में थीं। आदरणीय सौदागर जी संगीत और कलाकरों के लिए आत्मिक रूप से आदर, सम्मान और कोमलता का भाव रखते थे और संगीत के जानकार न होते हुए भी एक सुधि श्रोता और रसपूर्ण मिजाज वाले व्यक्तित्व के धनी आदमी थे। सिन्हा साहब के मित्र होने के नाते और क्योंकि मेरे गीतों की लोकप्रियता बढ़ने लगी थी। इन दोनों वजहों से वे मेरे गायकी से भली भाँति परिचित और प्रभावित भी थे। इसलिए सबसे पहले उन्होंने नाम लिया तो कहा “आपको तो बेगम अख्तर से सीखना चाहिए था पर अब तो वे रहीं नहीं; हाँ, उनके समकक्ष गाने वालों में से एक ऐसी हैं जो इन दिनों पटनावास कर रही हैं, नाम है पन्ना देवी”। फिर उन्होंने मुझसे और सिन्हा साहब से वादा किया कि हमारी मुलाकात उनसे शीघ्र करवाएंगे। जब मैं उनसे सर्वप्रथम मिलने गई तब वे पटना के राजेन्द्र नगर स्थित एम.आई. जी फ्लैट में रहती थीं। मेरे पति श्री ब्रजकिशोर सिन्हा जी और श्री सौदागर यादव जी साथ गए थे मुझे उनसे मिलवाने। मुझे याद है कि फलों से भरी टोकरी ले कर हम गए थे। जब वे सामने आईं तब उनके चेहरे की मुस्कान, चेहरे से उभरते ममत्व के वे झलकियाँ मैं भूले नहीं भूलती हूँ। बात करें तो तहजीब सीखने को मिलती थी, मधुरता से कैसे बोलें कि बोल सुनकर ही सामने वाला व्यक्ति मोहित हो जाए। मैंने तुरंत उनके चरण स्पर्श किए और उनसे कहा कि यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैं आपके समक्ष खड़ी हूँ।

**अंशुमन :** जब सीखने सिखाने की बात हुई तो क्या श्रीमती पन्ना देवी जी ने आपसे कुछ गा कर सुनाने को कहा था? या वे आपकी गाने की दक्षता से पूर्व परिचित थी ?

**शारदा सिन्हा :** देखो गायन की दक्षता चाहे कितनी भी हो, 100 प्रतिशत पूर्ण नहीं हो सकती। संगीत-कला या अन्य कलाओं के ज्ञान की वृद्धि की कोई सीमा नहीं होती। मेरी समझ से जिस तरह सौंदर्य को मापदंड पर रखना अनुचित है, क्योंकि किसी भी विषय का सौंदर्य बोध एक आत्मनिष्ठ विषय है जिसे हर व्यक्ति अपने परिप्रेक्ष्य से अवलोकन करते हैं। उसी प्रकार गायन कला को कितना निखारा और परिष्कृत किया जा सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं होती। गायन एक बहुआयामी कला है जिसमें नवनिर्माण की संभावनाएँ असीम हैं और जब एक कलाकार सशरीर जीवित है तो अपनी इस कला में या अपने कला की गुणवत्ता में विकास करते रहना ही उसका परम धर्म होना चाहिए।

गुरु का स्थान हमारी भारतीय संस्कृति में ईश्वर के समकक्ष इसलिए माना जाता है क्योंकि गुरु को अपने सामने बैठे शिष्य को दूर से परखने की और उसके अन्दर की कला के कमी-दोष, खूबियाँ इत्यादि को

जान लेने की शक्ति होती है। भारत की सांस्कृतिक भू-धरा पर अध्यात्म एक ऐसा विषय है जिसका अवलोकन करने पर 'सतगुरु और शिष्य' के बीच के अनूठे संबंधों की अनगिनत महान गाथाएँ मिलेंगी। तुम्हारे इस प्रश्न से मुझे स्वामी विवेकानंद जी और उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस के बीच की वो कहानी याद गयी जब वे उन्हें अपने यहाँ बुला कर एक भजन सुनाने को बोलते हैं, जिसपर नरेंद्र उन्हें 'मन चलो निज निकेतने संसार विदेशे विदेशीर वेशे, भ्रमो केनो अकारणे.....' गा कर सुनते हैं और बाद में स्वामी विवेकानंद जी के गायकी और आध्यात्मिक शक्ति को देखते हुए परमहंस उन्हें परब्रह्म की ओर ले जाते हैं 'माँ काली' के साक्षात दर्शन करवाते हैं। इसलिए शिष्य को परखने और उसमें गुरु अपनी कितनी ऊर्जा देंगे कि शिष्य और भी ज्यादा विकसित होंगे इसके लिए एक औपचारिक जांच की प्रक्रिया अनिवार्य होती है।

मुझे याद है, मुझे जब पन्ना देवी जी ने कुछ सुनाने को कहाँ था तब मैंने एक स्वरचित धुन की भजन को गाया था जिसके बोल हैं "मन लागो मेरो यार ....फकीरी में मन लागो मेरो यार"। इसके बाद थोड़ा मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा था "अबकुछ अपने मन से सुनाओ" तब मैंने छठ का वह गीत उन्हें सुनाया था "मोर भैया जायेला महंगा मुंगेर, लेले अइह हो भैया गेहूँ के मोटरिया"। इस गीत को सुन कर वो बहुत खुश हुई और तुरंत ही इस गीत के स्थाई, अंतरे, मध्य इत्यादि में छोटे छोटे बदलाव को गा कर बताने लगीं। जब वे ऐसे बदलाव ला रही थीं, मैं उन्हें आश्चर्य से देखती रही कि क्या जादू कर रही थीं। वे एक छोटे से लोकगीत के साथ ! उनके प्रशिक्षण की खासियत थी कि वे गीत को गाने के तरीके से कहीं ज्यादा स्वरों के लगाव तथा स्वरों के ठहराव पर विशेष ध्यान देती थी। गले का काम ऐसा बताती थीं जो ताल पक्ष को स्वयं ही निर्देशित कर दे कि क्या तबला का चलन वहाँ होना चाहिए। जैसे मोरा भैया जाएला गीत में "गेहूँ के मोटरिया" वाली जगह पर गले का एक विशेष घुमावदार काम है उसे सुन कर उनकी गायकी के प्रकार को समझा जा सकता है। फिर बाद के दिनों में उन्होंने "मन लागो मेरो यार" भजन के कई हिस्सों में उनकी गायकी के हिसाब से बदलाव लाते हुए मुझे उसी गीत को नए अंदाज में गाना सिखाया था। यह मेरा परम सौभाग्य था कि भारत माता मंडली के कार्यक्रम में मुझे उनके सामने गाने का अवसर मिला और मैंने ये दोनों गीत गा कर उन्हें मंच से अपना आत्मिक अर्पण दिया था। मेरे जीवन काल में मुझे यह दूसरा अवसर प्राप्त हुआ था जब अपने गुरु के सामने बैठ कर मंच प्रस्तुति देने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। नियमित सीखने के सिलसिले में एक बार जब वे मुझे एक ठुमरी जिसके बोल थे "पत राखो न राखो हाय तोहार मरजी हो, हमसे बोलो न बोलो तोहार मरजी हो" सिखा रही थीं तो एक ऐसा क्षण भी आया था जब मेरे स्वर, मुस्कियाँ और कुछ खात को सुन वह खुशी से भर गयीं थीं और मुझे आशीर्वाद दिया था। मैं उनके मुख से निकले शब्द कभी भूल नहीं सकती क्योंकि वे शब्द मेरे लिए ईश्वर के दिए हुए वरदान के जैसा था। उन्होंने कहा था, "शारदा, मेरी औलादों ने तो गाना नहीं गाया पर तुम गाओ...तुम गाओगी तो लोग कहेंगे पन्ना गा रही है।" आज भी उस क्षण को याद करते ही मुझे पूरे शरीर में सिहरन सी आ जाती है।

**अंशुमन :** क्योंकि आप ऐसा मानती हैं कि श्रीमती पन्ना देवी के प्रशिक्षण के बाद आपके संगीत में बहुत बड़ा बदलाव आया इसलिए संगीत के विद्यार्थियों के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि आपने अपने प्रारंभिक संगीत शिक्षा में संगीत के अभ्यास के लिए अपने गुरुओं की जिन निर्देशों का पालन किया, वही निर्देश स्वर्गीय पन्ना देवी जी के भी थे या उन्होंने रियाज, प्रस्तुतीकरण इत्यादि से जुड़े कुछ भिन्न नियमों या तरीकों का अनुसरण करने को कहा था ?

**शारदा सिन्हा :** ये तो शत-प्रतिशत सत्य है कि गुरु माँ पन्ना देवी जी से जो मोड़ मेरी गायकी में मुझे

वरदान स्वरूप मिला, वहीं से मेरे गीतों के ध्वन्यांकन की गुणवत्ता में बहुत बड़ा बदलाव आया। श्रीमती पन्ना देवी जी उस जमाने की संगीत पद्धति से सीखी हुई थी जो कि आज के परिप्रेक्ष्य से देखा जाये तो अत्यंत कठिन और अनुशासित था। पर बदलते समय के साथ सख्तियों में थोड़ी कमी जरूर थी; हालांकि, वह मुझे अत्यंत स्नेह करती थीं इसलिए कोमल व्यवहार मुझे अपने गुरु से भी मिलता रहा। पर वे समय की बड़ी पक्की थी, देर से आने पर उन्हें नाराजगी हो जाती थी। क्योंकि उनके घर पहुँच जाने के बाद यह नियम था कि शिष्य पहले अपने हाथ-पाँव, चेहरा इत्यादि धो कर, कुल्ला वगैरह कर के जो साफ कपड़ा अपने साथ लाये हों तो उसे पहन कर तब रियाज पर बैठें। यानी आपके पहुँचने के बाद इतना समय के लग जाने के बाद ही आप रियाज पर बैठ सकते हैं तो जाहिर है कि आपको 15-20 मिनट पहले वहाँ पहुँचना ही होगा। मुझे स्मरण है कि एक बार उनके घर पहुँचते ही मैं सीधे हारमोनियम और तानपुरे की तरफ बढ़ी तब उन्होंने रोक कर कहा था, “शारदा पहले वुजू कर लो (वुजू- उर्दू शब्द) और जब भी रियाज पर बैठो अच्छे से तैयार हो कर बैठो उससे मिजाज पर गहरा असर पड़ता है।” एक अनोखी स्मृति ऐसी भी है मेरे मानस पटल पर जब एक बार पटना ने अत्यंत भयंकर बाढ़ आपदा का सामना किया था, तब पूरा शहर अस्त व्यस्त और जलमग्न हो गया था। उन दिनों में ही मेरे सीखने की तारीख आ गयी थी। सन् 1975 में संपर्क सूचना व्यवस्था आज की तरह नहीं थी कि मुझे पटना के मौसम का हाल बिल्कुल ताजा मिल जाता। सो मैं तो निकल पड़ी, पर जब पटना पहुँची तब जलमग्न शहर अपनी गाथा सुना रहा था और मैं काफी भयभीत थी कि इस बार शिक्षण प्रशिक्षण कहीं बाधित न हो जाये। उन दिनों मैं अपने बड़े भाई साहब स्वर्गीय शैलेन्द्र शर्मा जी के घर ही रुकी हुई थी जो कि कोलेजियेट स्कूल में अध्यापक थे और नेशनल कंटेस्ट कॉर्प्स एवं भारतीय नौसेना के प्रथम अधिकारी के रूप में वहीं कार्यरत थे। वहीं पर पिताजी श्री शुक्रदेव ठाकुर भी साथ थे। उस समय की परिस्थिति में मेरी चिंता देख बाबूजी ने भाई जी से कहा “शैलेन्द्र, ध्यान दहक कनि, शारदा के रूटीन में कोनो ब्रेक नै अबै”। मैंने भाईजी से अपनी चिंता जताई थी, “भाई जे हे, केना जैबै एतेक पानी भरल छै?” भाई जी ओजस्वी व्यक्तित्व के धनि थे और मुझे बहुत स्नेह करते थे क्योंकि स्कूल के दिनों में भी मेरे स्थानीय अभिभावक वही थे। उन्होंने तुरंत थोड़ा गंभीर स्वर में मुझे कहा “पानी भरल छै त कि भै गेलै, पाएँ में लोग अप्पन काम धाम नै करै छै कि, चलत रिक्शा पकड़ै दे छियौ” मैंने उनसे कहा, “भाईजी, पाएँ सौं डर होइयै” जिसपर उन्होंने मुझे वैसी ही छोटी बच्ची समझ कर कह दिया कि “डर होइयै त नीच्चाँ नै देखिहक” ये कह कर उन्होंने मुझे पास से ही एक रिक्शा बुलवा दिया और मुझे उस पर हारमोनियम सहित बिठा दिया। कमर भर पानी में मैं कॉलेजिएट स्कूल के परिसर से राजेंद्र नगर में पन्ना देवी जी के आवास पर आई। मुझे याद है कि मुझे समय पर पहुँच हुआ देख वह बहुत प्रभावित हुई थीं और मुझे साबुन दे कर नाहा लेने कहा था फिर अपने हाथों से गर्मागर्म चाय उन्होंने बना कर पिलाया तब रियाज और प्रशिक्षण का काम आगे बढ़ा। साथ ही यह भी बताना चाहूंगी कि जिस हारमोनियम की चर्चा अभी हुई है वह मेरा अपना नहीं था बल्कि पन्ना देवी जी ने मुझे वह हारमोनियम दे दिया था ये कहते हुए कि “मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ इन सुरों के माध्यम से सदा बना रहेगा, कुछ भी हो जाये रियाज मत छोड़ना शारदा” और अक्सर जब वह मुझे सिखाती थीं तब सिखाते वक्त कहा करती थीं कि “शारदा जब गाओ ऐसे गाओ कि सुनने वालों के मुँह से वाह न निकले आह निकले।

आज अपनी संगीत यात्रा में जहाँ मैंने जो भी मुकाम हासिल किया है वह सब गुरुकृपा के बदौलत ही है। अपने गुरुओं के स्मरण मात्र से मुझे अपनी साधना को निरंतर गतिशील रखने की ऊर्जा मिलती रहती है। □

## ‘बस्तर बस्तर’ – लोकबाबू

टिप्पणीकार : बलिराज पांडेय



‘बस्तर-बस्तर’ उपन्यास के लेखक हैं लोकबाबू, जो बस्तर के ही रहने वाले हैं। इस उपन्यास को पढ़ते हुए लगा कि मैं इसके माध्यम से भारत के एक ऐसे भू-भाग से परिचित हो रहा हूँ, जो अभी तक अनजान और रहस्य-सा है। इस उपन्यास के कवर पेज पर नाम के नीचे लिखा हुआ है, “यह अरण्य तो दंड का है महाराज!” इसी जगह कथाकार ज्ञानरंजन की टिप्पणी बरबस हमारा ध्यान खींचती है, “यह कथानक दीर्घ, सघन और महाकाव्यात्मक है।” सचमुच, जो प्रेमचंद द्वारा छोड़ी गई ‘परती जमीन’ से परिचित होना चाहते हैं, उन्हें इस उपन्यास को पढ़कर लगेगा कि हिन्दी कथा साहित्य में अभी बहुत कुछ है, जिसे जानना जरूरी है। ‘बस्तर-बस्तर’ उपन्यास में लोकबाबू ने हिड़मा, लेकामी हूंगा, पनकू मामा, इरमा और रघू कोराम की कथा के

माध्यम से आदिवासी संस्कृति और प्रकृति, उनकी जमीन और जंगल पर व्यापारी-सरकारी दखल, जगदलपुर, दंतेवाड़ा, बारसूर, गीदम, गुफा पलटन, बाल संघम्, पुलिसिया दमन, सलवा जुडूम कैप, इन्द्रावती नदी, पहाड़ी झरने आदि का ऐसा विस्तृत और वास्तविक वर्णन प्रस्तुत किया है कि लगता है, हम खुद उन सभी क्षेत्रों में उपस्थित हों। लेखक का कहना है कि जंगल और आदिवासियों का मित्र-भाव सदियों से कायम है। “धरती भगवान ने बनाई/हम भगवान की संतान/ये ‘सरकार’ बीच में कहाँ से आयी?”

उपन्यास में एक बड़ी त्रासदी है, देवगाँव के गोदुल का उजड़ना। गोदुल, जहाँ समूचे क्षेत्र के युवक और युवतियाँ जुटते थे, खान-पान, नृत्य-संगीत होता था और एक-दूसरे के साथ मनचाहा समय व्यतीत करते हुए अपने जीवन साथी का चुनाव करते थे, लेकिन जब “जंगल कटने लगे, झोपड़ियाँ उजड़ने लगीं, तब छोटी-छोटी गठरियाँ बाँधे बाजार जंगल में ताक-झाँक करने लगा।” फिर अवसर देखकर बाहरी लोगों,

कंपनियों, सड़कों के साथ ही नक्सलियों का भी प्रवेश होना ही था। लोकबाबू मृत्यु की मौलिक व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं, “आदमी मरता कहाँ है? वह अगली पीढ़ी की रगों में खून बनकर दौड़ता रहता है। किसी की मौत पर उत्पन्न दुःख को पगुराते रहना आदिवासी (कोयातूर) संस्कृति में नहीं है। उठो और दुःख से भी आनंद छीन लो।” लोकबाबू का मानना है कि बाजार अपने सामान के साथ लफंगा संस्कृति भी लाता है। जंगल में बोनस की रकम बाँटकर जब सेठ के लड़के शराब के नशे में आदिवासी युवतियों को छेड़ने लगते हैं और पुलिस सब कुछ जानते हुए भी मदद नहीं करती, तो गुफा पलटन ही लफंगों का सामना करती है। ऐसे में सामान्य आदमी का उनके प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है। लेखक ने आदिवासियों के भविष्य का बड़ा भयावह चित्र खींचा है, “पुलिस, सुरक्षा बल और नक्सलियों की आमद हर तरफ बढ़ती जा रही थी। उनकी आमद की भुजाओं में जंगल कसता, काँखता, भयाक्रांत हुआ जा रहा था।”

उपन्यास में आदिवासियों के कुलदेवता भी हैं। हिड़मा अपने कुलदेवता से नाराज होती है कि वह उसके प्रेमी-पति को जेल जाने से नहीं बचा सका। अपना सीधा-सादा जीवन जीने वाले आदिवासी लोगों को पुलिस दंतेवाड़ा जेल भेज देती है, इस आरोप में कि उनकी गुफा पलटन से मिलीभगत है। उधर सलवा जुडूम कैप का जो जबरी सदस्य बनाया जाता है, उसे गुफा पलटन पुलिस का मुखबिर मान लेती है। इस प्रकार आम आदिवासी का जीवन दोनों तरफ से तनी हुई बंदूक की नली के बीच फँसकर रह गया है। लोकबाबू ने बस्तर के मूल बाशिंदों के जीवन की इस विडंबना को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उपन्यास में आदिवासी बहादुर लड़की इरमा के चरित्र को लेखक ने खूब बढ़िया तरीके से उभारा है। उसे एसपीओ (स्पेशल पुलिस अफसर) की नौकरी का लालच दिया जाता है, लेकिन उसे वह दृढ़तापूर्वक इंकार कर देती है। उसके माता-पिता सहित सभी रिश्तेदारों को सलवा जुडूम में शामिल न होने के कारण कैप वाले मार देते हैं, फिर भी वह हार नहीं मानती। उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं, बलात्कार का शिकार होती है, लेकिन वह सत्ता-व्यवस्था की गलत और दमनकारी नीतियों के खिलाफ कार्रवाई में शामिल होती है। उसके पिता का कहना था, “मर जाना पर पुलिस का भरोसा न करना। अपनी बात दूसरे के मुँह में ठूँसते हैं। ऐसा न करो तो मारते हैं बहुत।” इरमा अपने देवी-देवताओं के प्रति भी सचेत है। उसका सवाल है कि “हमारी दंतेश्वरी माता, मावली माता की मूर्तियाँ छोटी हैं, इनके सामने हनुमानजी की बड़ी मूर्ति क्यों रख दी गई है? क्या हमारी तरह हमारे देवी-देवता भी भोले, गरीब और असहाय थे?”

उपन्यास में अर्बन नक्सल के रूप में मास्टर विनयमोहन झा की उपस्थिति भी है, जिन्होंने इरमा के प्रेमी रघू को पढ़ाया है, अपनी मोटरसाइकिल दी है। उनकी सीख है कि “जीवन में अपमान, विफलता, धोखे भी मिलेंगे। इन्हें कड़वी गोलियों की तरह निगल लेना, चबाना मत। चबाते रहने से (याद करते रहने से) जीवन भी कड़वा हो जायेगा।” उनका आकलन कि “अच्छे लोग बिखर रहे हैं और बुरे संगठित हो रहे हैं,” आज कितना प्रासंगिक है, यह बताने की जरूरत नहीं। लोकबाबू का मानना है कि आज मीडिया सत्ता का दलाल बन गया है। पहले अखबार छपकर बिकते थे। अब अखबार बिककर छपते हैं। लेखक की मीडिया पर यह टिप्पणी गौर करने लायक है। उपन्यास में कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का भी जिक्र है। सन् 1910 में भूमकाल नाम से आदिवासी विद्रोह हुआ था। यहाँ 31 मार्च, 1961 को हुए लोहांडीगुड़ा गोली काण्ड का वर्णन है। आदिवासियों के पूज्य राजा प्रवीरचंद्र भंजदेव को जब सरकार ने गिरफ्तार किया था, तो उसका विरोध करने पर सैकड़ों आदिवासी मारे गये थे। इस उपन्यास में बस्तर और जगदलपुर के भूगोल से भी हम परिचित होते हैं। तीरथगढ़ का झरना, महादेव झरना, इंद्रावती, शंकिनी, डंकिनी, कोटरी, शबरी, बल्लरी, दूधनदी, नारंगी का प्रवाह हमें मुग्ध करता है, लेकिन जगदलपुर की बड़ी-बड़ी इमारतों, सड़कों

को देखकर इरमा की यह प्रतिक्रिया हमें सोचने के लिए विवश करती है कि बस्तर की पहचान उसके जंगल हैं। जंगल मिटा दो तो बस्तर भी मिट जायेगा। लेखक ने राम-रावण की कथा-चर्चा में राक्षस का अर्थ जंगल का रक्षक बताया गया है। लेखक का मानना है कि यह अफवाह उड़ाई गई कि राक्षस नरभक्षी होते हैं। वास्तव में राम-रावण का टकराव वर्चस्व के लिए दो संस्कृतियों का टकराव था। उपन्यास में कृष्ण-बाणासुर युद्ध की भी चर्चा है। इन कथाओं का जिक्र शायद यह बताने के लिए है कि अन्याय के खिलाफ, अपने अधिकार के लिए हर काल में युद्ध हुए हैं। उपन्यास में लेखक का जोर सकारात्मक विचारों पर है। लोकबाबू लिखते हैं कि “खेतों में बीज न डाला जाए तो प्रकृति उसे घास-फूस से भर देती है। यदि दिमाग में सकारात्मक विचारों का प्रवेश न कराया जाय, तो वहाँ नकारात्मक विचार घर कर लेते हैं। दिमाग और छाता तभी काम करते हैं, जब वे खुले हों। बंद रहने पर ये बोझ लगते हैं।”

उपन्यास में लेखक का निष्कर्ष है कि नक्सली उन्मूलन की जगह आदिवासी उन्मूलन हो रहा है। सलवा जुडूम और सरकार द्वारा आदिवासी बेमौत मारे जा रहे हैं। एक तरफ राज्य, पुलिस, नेता, अधिकारी, ठेकेदार, पूंजीपति और दूसरी तरफ उग्र नक्सली। आम आदिवासी दोनों के बीच फुटबॉल की तरह लात खाता दंडित हो रहा है और मुखबिर? चाहे किसी पक्ष का हो, मरता तो आदिवासी ही है।

पुस्तक : बस्तर बस्तर

लेखक : लोकबाबू

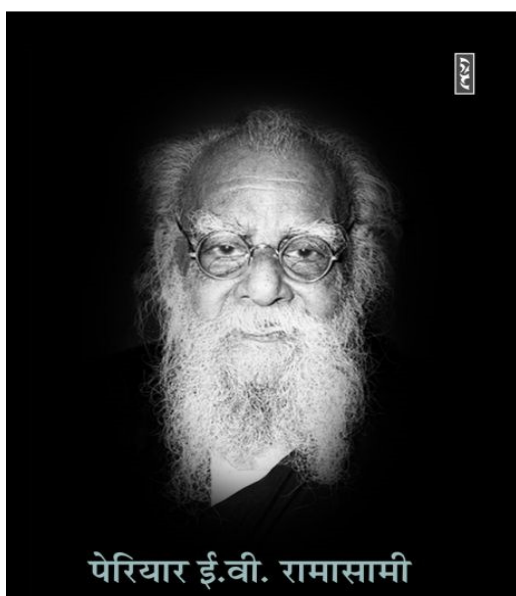
प्रकाशक : राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली

प्रकाशन वर्ष : 2021

पृष्ठ : 336, मूल्य : 239

## ‘पेरियार ई.वी. रामासामी : भारत के वॉल्टेयर’ - ओमप्रकाश कश्यप

टिप्पणीकार : कमलेश वर्मा



भारत के वॉल्टेयर

ओमप्रकाश कश्यप

बड़े साइज के 606 पृष्ठों की यह किताब पेरियार के संघर्ष और योगदान पर विस्तार से बात करती है।

अब तक हिंदी में पेरियार के भाषण और लेखन का बड़ा हिस्सा प्रकाशित हो चुका है, मगर उनके ऐतिहासिक विश्लेषण का ऐसा सुंदर प्रयास मेरे जानते नहीं हुआ है।

भारत के द्रविड़ संदर्भों को व्याख्यायित करते हुए यह किताब मानवता का पक्ष लेते हुए लिखी गयी है। इसे पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि किसी दुराग्रह को लेकर यह किताब चल रही हो।

बहुजन संघर्षों का पक्ष लेते हुए संयमित और तार्किक भाषा में किस तरह से लिखना चाहिए- इस किताब की भाषा-शैली से सीखा जा सकता है।

सामाजिक विमर्श की भाषा में सत्य का आग्रह अवश्य होना चाहिए, अन्याय को उजागर करने का संकल्प होना चाहिए; मगर भाषा ऐसी होनी चाहिए

कि प्रतिपक्ष के लोग भी सोचने के लिए प्रेरित हों। ओमप्रकाश कश्यप ने यही तरीका अपनाया है। उनकी कलम बहुजन लेखन के लिए मॉडल हो सकती है।

इस किताब में जगह-जगह पेरियार के लेखन-भाषण का उपयोग किया गया है, मगर उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियों के विस्तृत विवरण के साथ। यह सब पढ़कर कश्यप जी की इतिहास-दृष्टि और इतिहास-संबंधी जानकारी का मुरीद होना पड़ता है।

मुझे लगता है कि इधर के दशकों में हिंदी में जो बहुजन संघर्षों से संबंधित लेखन हुआ है उसकी गुणवत्ता को बढ़ाने में इस किताब का महत्वपूर्ण योगदान है।

ओमप्रकाश कश्यप ने पेरियार के संघर्षों को क्रम से रखा है और ध्यान दिलाया है कि ऐतिहासिक रूप से वे क्यों महत्वपूर्ण थे और अपने समकालीनों से वे किस रूप में बेहतर थे!

यह किताब स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास के बहुजन पाठ में कुछ जोड़ती है। कहने की जरूरत नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन के भीतरी संघर्षों को समझने में ऐसे पाठ सहायक होते हैं। इतिहास सपाट नहीं होता! उसे तैयार करते समय 'जैकारा' और 'चीख'- दोनों को सुनना पड़ेगा!

उत्तर भारत में पेरियार जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं मिलता। यहाँ उभरनेवाले बहुजन आंदोलनों के व्यक्तित्व इतनी प्रतिबद्ध लंबी पारी नहीं खेल पाए। 'जाति के प्रश्नों' पर जो दृढ़ता पेरियार में दिखती है वैसी यहाँ नहीं दिखी।

पेरियार का कद गाँधी जी के कद से कमतर नहीं है, मगर भारतीय इतिहास की धारा में कमजोर वर्गों के लिए संघर्ष करनेवाले को राष्ट्रीय व्यक्तित्व मानने की परंपरा अभी स्थापित नहीं हो पायी है।

आशा है यह किताब गम्भीरतापूर्वक पढ़ी जाएगी और भावी पीढ़ी के सामाजिक व्यक्तित्वान्तरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

पुस्तक : 'पेरियार ई. वी. रामासामी : भारत के वॉल्टेयर'

लेखक : ओमप्रकाश कश्यप

प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा

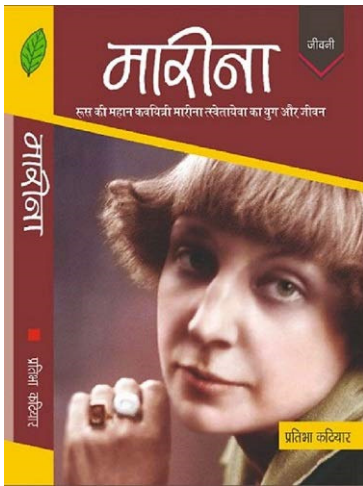
प्रकाशन वर्ष : 2022

पृष्ठ : 606, मूल्य : रु. 595/



## मारीना त्स्वेतायेवा : सौंदर्य, प्रेम और संघर्ष की त्रिवेणी

समीक्षा : साधना अग्रवाल



**मारीना**

प्रतिभा कटियार

संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2020

मूल्य : 300/-

रूस की महान कवयित्री मारीना त्स्वेतायेवा की यह जीवनी, जिसे प्रतिभा कटियार ने लिखा है, इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि यह अनुवाद न होकर संभवतः पहली बार किसी हिंदी लेखक ने किसी रूसी लेखक की जीवनी लिखी है। हालांकि मारीना को किसी भी सीमा में बंधना पसंद नहीं, इसीलिए वह कहती हैं कि कविता लिखना अंदर की भाषा को अनुवादित करने जैसा है। चाहे वह फ्रेंच हो, जर्मन या रूसी। कोई भी भाषा किसी की मातृभाषा नहीं हो सकती। उसको लिखना मतलब उसके स्वर बदल देना। इसलिए मुझे समझ में नहीं आता, क्यों लोग किसी को फ्रेंच कवि या रूसी कवि कहते हैं। मैं रूसी कवि नहीं हूँ, मैं तो कवि हूँ। मैं हैरान हो जाती हूँ जब लोग मुझे वैसा समझते हैं और मेरे साथ वैसा बर्ताव करते हैं। मेरे हिसाब से कोई कवि होता है न कि फ्रेंच या रूसी कवि। हमें मारीना की इस बात पर आज अवश्य गौर करना चाहिए, खासकर तब, जब लेखकों में वर्ग विभेद जोर मार रहा है।

यू तो प्रतिभा कटियार पत्रकारिता और शिक्षण से जुड़ी रही हैं और उनकी कविताएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं लेकिन ऐसे लेखक की जीवनी लिखना, जिसके बारे में बहुत कुछ जानकारी नहीं मिलती, चुनौतीपूर्ण है। हाँ, बचपन के दिनों में अपने पापा की किताबों की ढेर से 'मारीना त्स्वेतायेवा : डायरी, कुछ खत, कुछ कविताएँ' पुस्तक के कवर पेज पर मारीना की तस्वीर का आकर्षण ऐसा था जो उनकी जिन्दगी भर की संगिनी बन गई। यह कोई छोटी बात नहीं बल्कि बहुत बड़ी घटना है। वक्त के साथ प्रतिभा मारीना के इश्क में ऐसी बंधी कि ज्यादा जानकारी न होने पर भी प्रतिभा से मारीना हो गई। वैसे भी प्रेम की गमक के आगे कुछ भी नामुमकिन नहीं। और जब कोई लेखक या कलाकार परकाया प्रवेश कर ही जाता है तो उसका लेखन न केवल प्रामाणिक हो उठता है बल्कि असंदिग्ध भी। यही कारण पूरी पुस्तक में लगभग हर चैप्टर के बाद उनके लिखे बुकमार्क के द्वारा पता चलता है कि वह मारीना से ऐसे संवाद करती हैं जैसे वह उनके सामने बैठी हो और उनकी घनिष्ठ मित्र हो। क्योंकि हिंदी में मारीना जो थोड़ा-बहुत उपलब्ध हो सकी है, वह केवल

रूसी भाषा के अध्येता डॉ. वरयाम सिंह की मार्फत।

मारीना का जन्म 26 सितम्बर, 1892 को रूस के ईवान व्लादीमिरोविच त्स्वेतायेवा के घर हुआ। मारीना के पिता ईवान रूस के महत्वपूर्ण व्यक्ति थे, जो पादरी परिवार से ताल्लुक रखते थे। मारीना की रगों में तीन देशों की संस्कृतियाँ, भाषाएँ और तीन देशों के प्रति प्रेम दौड़ रहा था। जर्मन, पोलैंड और रूस। अपने पिता से उसे रूस मिला, माँ से जर्मनी और नानी से पोलैंड। वह अपनी डायरी में लिखती भी है कि मैं तीन देशों की संस्कृतियों के मिलन का स्थल हूँ। भारतीय संदर्भों में इसे संगम कहा जा सकता है। दरअसल मारीना की कविताओं, डायरी और दोस्तों को लिखे पत्रों के द्वारा मारीना के जीवन की खिड़कियाँ खुलती हैं।

अकेलेपन की त्रासदी, गरीबी, संघर्ष और विस्थापन से मारीना पूरी जिन्दगी जूझती रही। उसकी छोटी बहन अनस्तासिया लिखती है— बार-बार कहीं बसना, उखड़ना, ट्रेनों का सफर, सामान बटोरना, छोड़ना, स्मृतियों को सहेजना, मानो जिन्दगी का कोई सिलसिला ही हो। यह जुदाई सिर्फ घर, शहर, देशतक ही सीमित नहीं रही, भावनात्मक संबंधों में भी यह सिलसिला जारी रहा। जिन्दगी से भी उखड़ते-जमते रहने का सिलसिला।

मारीना की माँ मारीया 05 जुलाई, 1906 को मात्र 37 वर्ष की आयु में दुनिया के तमाम सफेद, स्याह रंग देख कर विदा हो गई। माँ दुनिया से जा चुकी थी लेकिन जीवन के कुछ खूबसूरत लम्हें अब भी धड़क रहे थे क्योंकि अंतिम संस्कार के समय एक नौजवान नम आँखें लिए दोनों बच्चियों के पास आया और भीगी-सी आवाज में बोला, मान्या (मारीना की माँ का बचपन का नाम) की प्यारी बच्चियाँ। वह उन बच्चियों को देखकर मानो मारीया की पूरी जिन्दगी को दोबारा जी रहा था। मारीना को समझते देर न लगी कि यही वह व्यक्ति है, जिसे उसकी माँ ने कभी प्यार किया था।

27 जनवरी, 1912 को मारीना ने सेर्गेई एफ़ोन सेर्योझा से शादी कर ली, जिसके लिए मारीना के पिता ने अनुमति नहीं दी। यह वर्ष मास्को में नेपोलियन के आगमन का भी वर्ष था। अपनी शादी में आने के लिए मारीना ने वोलोशिन को भी पत्र लिखा था क्योंकि मारीना को लगता था कि सेर्योझा से संयोगवश वह वोलोशिन की वजह से मिल पाई। लेकिन उसकी शादी में वोलोशिन नहीं आया बल्कि उसका खत आया, जिसमें शुभकामनाओं की बजाय शोक जाहिर किया गया था। इसी बीच मारीना का परिचय रूस के बड़े कवि मायकोवस्की से हुआ। मारीना की शादी के बाद स्वाभाविक रूप से उसकी छोटी बहन अनस्तासिया अकेलापन महसूस करने लगी। शादी के 9 महीने बाद ही मारीना की सितम्बर 1912 में बेटी अरिआदना (आल्या) का जन्म हुआ और कुछ ही समय बाद यानी 1913 में उसका दूसरा कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ। हालाँकि पहला संग्रह 'द ईवनिंग एलबम' छप चुका था लेकिन लोगों का ध्यान नहीं खींच सका था। उसकी कविताओं के बारे में पुश्किन कहा करते थे, 'दरअसल, बेहद खूबसूरत कविताएँ लिखना आसान है, सच्ची, ऊबड़-खाबड़, ईमानदार कविताएँ लिखना मुश्किल।' मारीना बेहद खुश थी लेकिन नियति को यह मंजूर नहीं था। उसके पिता ईवान व्लादीमिरोविच त्स्वेतायेवा का 30 अगस्त, 1913 को निधन हो गया।

शादी के मात्र 2 साल बाद ही मारीना और सेर्योझा के रिश्ते में तनाव बढ़ने लगा। तनाव का कारण मारीना का कवयित्री सोफिया पारनोक के साथ बढ़ती नजदीकियाँ मानी जाती थीं क्योंकि सोफिया लेस्बियन थी। 13 अप्रैल, 1917 को मारीना ने दूसरी बेटी इरिना को जन्म दिया। इसी वर्ष से उसने कविताओं के साथ गद्य की दुनिया में कदम रखा। वोलोशिन ने एक बार मारीना से कहा था कि 'मारीना, तुम्हारे भीतर सामर्थ्य की प्रचुरता ही तुम्हारा नुकसान करती है। तुम्हारे भीतर दस कवियों के बराबर कविताएँ लिखने की क्षमता है। यही वह समय था जब राजनैतिक उठा-पटक के बीच साहित्य उपेक्षित हो रहा था क्योंकि मास्को

को लगातार राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आघात लगे थे। मारीना को महसूस हो रहा था कि क्रांति का सपना देखना और क्रांति को जीना दो बिल्कुल अलग बातें हैं।

एक तरफ मारीना की वैचारिक टकराहटें बढ़ रही थीं, दूसरी तरफ जीवन की समस्याएँ दिन-प्रतिदिन विकराल होती जा रही थीं। मारीना ने अपने दोस्तों की सलाह मानते हुए बेटीयों को एक अनाथालय में रख दिया, इस उम्मीद में कि उन्हें वहाँ भरपेट खाना तो मिलेगा, लेकिन कुछ ही दिनों में आल्या बहुत बीमार हो गई, जिसे मारीना वापस घर ले आई, उधर छोटी बेटी इरिना की भूख और इलाज की कमी से उसी अनाथालय में मृत्यु हो गई। एक माँ की बेबसी और लाचारी देखिए कि मारीना अपनी बेटी की अंत्येष्टि में भी नहीं जा सकी क्योंकि उस वक्त बड़ी बेटी को बहुत तेज बुखार था। माँ ने एक बेटी की अंत्येष्टि में जाने की जगह दूसरी बेटी के पास रहना चुना क्योंकि उस समय उसको माँ की सख्त जरूरत थी। लेकिन मारीना जीवन भर इस अपराध बोध से छुटकारा नहीं पा सकी। इस घटना को पढ़ते जब हमारी आंखें भींग जाती हैं तो कल्पना की जा सकती है कि मारीना पर क्या बीती होगी?

मारीना की जिन्दगी में जितने लोग आए, उनमें बोरिस पास्तरनाक बहुत खास था। उसको इस बात का अफसोस था कि वह उससे मिल नहीं पा रही है। उसने बोरिस को पत्र लिखा कि मेरी आंखों से नींद का रिश्ता कब का टूट चुका है, मैं किसी भी चीज को देखूँ, मुझे तुम ही नजर आते हो। लेकिन जब मुलाकात का कोई सिरा नजर नहीं आया तो खुद को समझाती है, लेकिन न मिलना असल में और ज्यादा मिलना ही है। तुम समझ रहे हो न? मैं तुम्हें अपने बहुत करीब महसूस कर सकती हूँ। ये सब कोई अतिरेक भरे शब्द भर नहीं हैं, बल्कि ये सचमुच मेरी भावनाएँ हैं।

01 फरवरी, 1925 को मारीना ने पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम वह बोरिस रखना चाहती थी क्योंकि उस बच्चे के रूप में बोरिस को देखना चाहती थी लेकिन उसका पति इस बात के लिए तैयार नहीं हुआ और उसका नाम मूर रखा गया। वह बोरिस के प्रति अपनी भावनाएँ इन शब्दों में व्यक्त करती है—

मुझे तुम्हारा हाथ चाहिए जिसे  
थाम कर दूसरी दुनिया को जी सकूँ  
ओह... विडम्बना  
मेरे तो दोनों हाथ खाली ही नहीं...।

मारीना की जिन्दगी में अनेक लोग आए-गए। मजेदार बात यह है कि जिस पास्तरनाक को वह बेहद चाहती थी, उसी की मदद से उसे एक नया दोस्त राइनेर मारिया रिल्के मिल गया था। चूँकि पास्तरनाक रिल्के की कविताओं का घोर प्रशंसक था और रिल्के द्वारा उसकी कविताओं पर टिप्पणी भी मायने रखती थी, इसलिए उसने मारीना की कविताओं से रिल्के को परिचित ही नहीं कराया बल्कि उसकी इच्छा थी कि जिस तरह रिल्के ने पास्तरनाक की कविताओं पर टिप्पणी की, उसी तरह मारीना की कविताओं पर रिल्के कुछ कहें। लेकिन दुर्भाग्य से जब बोरिस को मारीना और रिल्के के संबंधों के बारे में पता चला तो उसे बहुत दुख हुआ। अजब संयोग देखिए कि मारीना को जब रिल्के की मृत्यु की खबर मिली तो उसने बोरिस को पत्र लिखा..

“प्रिय बोरिस पास्तरनाक,

मेरी आंखों से लगातार आंसू बह रहे हैं..... तुम्हें पता है बोरिस मैंने 29 दिसम्बर को रिल्के के लिए एक कविता लिखी थी... सपने में मुलाकात.... उसी रात रिल्के ने आखिरी सांस ली। ये सब क्यों हुआ बोरिस। मैं उससे मिलना चाहती थी। उसे छूकर महसूस करना चाहती थी। वह मुझसे क्यों नहीं मिला?

और मिला भी तो ऐसे क्यों मिला ? क्यों तुमने मुझे रिल्के से मिलवाया मेरे अच्छे बोरिस। काश कि तुम यहाँ होते मेरे पास। इस पूरी दुनिया में मेरे दुख को सिर्फ और सिर्फ तुम ही समझ सकते हो। ओह! रिल्के। मेरे प्यारे रिल्के।”

मारीना को सही को सही कहने में कोई झिझक नहीं थी। इसका एक उदाहरण मिलता है कि जब बूनिन को नोबेल प्राइज के लिए चुना गया और उसे जिस मंच से बधाई दी जानी थी, वहाँ मारीना को भी होना था। ऐसे अवसर पर मारीना को लगता है कि यह पुरस्कार बूनिन को नहीं बल्कि गोर्की को मिलना चाहिए क्योंकि गोर्की एक पूरा युग है और बूनिन उस युग का अंतिम सिरा।

मारीना की पूरी जिन्दगी संघर्षों और मुसीबतों से भरी थी। एक तरफ मारीना की बेटा आल्या और उसका पति सेर्गेई जेल के भीतर होने वाले जुल्म सह रहे थे, उधर मारीना जेल के बाहर जिन्दगी के जुल्म सह रही थी। आखिरकार 26 अगस्त, 1892 को रूस की धरती पर जन्मी एक बेहद खूबसूरत जिन्दगी और प्रेम से भरी मारीना त्वेतायेवा ने 31 अगस्त, 1941 को दुनिया को अलविदा कहा। मारीना ने आत्महत्या की थी जिसे उसके बेटे मूर ने उसका सर्वश्रेष्ठ फैसला माना। मूर ने एक खत में लिखा- ‘मम्मा मुझे अक्सर खुद को खत्म कर देने की बात किया करती थीं। जिन हालात में वह जी रही थीं, उनमें यह उनका श्रेष्ठ फैसला था। मैं उनकी तकलीफ और दुविधा को समझता हूँ और उनकी मौत का सम्मान करता हूँ।’

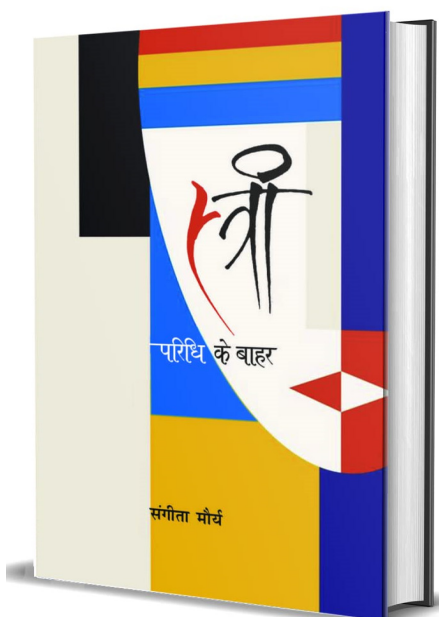
मारीना के लिए लिखना और सांस लेना मानो एक ही बात थी। वह बेवफाई और धोखे जैसे शब्दों से आजाद थी। उसकी जिन्दगी में बहुत से प्रेमी आए भी और गए भी। उसके लिए सिर्फ प्रेम ही सच्चाई थी। वह जब जिस वक्त जिसके प्रेम में थी, पूरी ईमानदारी से थी। उसने कभी एक को झूठ बोलकर, किसी से छुपाकर किसी से प्रेम नहीं किया। उसने अपने पुराने प्रेमियों को नये प्रेमियों के बारे में बताया भी और उन्हें और खुद को किसी भी किस्म के अपराध बोध से आजाद भी रखा। वह अपने पति सेर्गेई से आखिरी समय तक प्रेम करती रही। हालाँकि, पास्तरनाक को मारीना के द्वारा रिल्के को प्रेम करने की बात जानकर काफी दुख हुआ था- ठीक उसी तरह जब मारीना को पता चला था कि पास्तरनाक किसी और स्त्री के प्रेम में पड़ गया है।

मारीना बहुत स्वाभिमानी स्त्री थी। यही कारण है कि अपने अंतिम दिनों में भी उसने पास्तरनाक से कोई मदद नहीं मांगी। कह सकते हैं कि मारीना जैसी दुस्साहसी स्त्री सदियों में कोई एक होती है। उसे मेरी सच्ची श्रद्धांजलि। और प्रतिभा कटियार को मेरी हार्दिक बधाई, जिन्होंने इस जीवनी को लिखा। संपूर्ण हिंदी संसार उनके इस कार्य के लिए सदैव ऋणी रहेगा।



## ‘स्त्री परिधि के बाहर’ - संगीता मौर्य

समीक्षा : संतन राम



‘स्त्री परिधि के बाहर’, उत्तर-प्रदेश के सीमावर्ती जनपद सोनभद्र की रहने वाली संगीता की 2021 में प्रकाशित आलोचनात्मक पुस्तक है। इस पुस्तक में उन्होंने हिंदी साहित्य में स्त्री आत्मकथा का विवेचन व विश्लेषण किया है तथा हिंदी साहित्य के विकास क्रम में स्त्री रचनाकारों की कृतियों के माध्यम से किए गए अवदानों पर गंभीर चर्चा की है। पहले अध्याय में हिंदी कथा साहित्य के विकास क्रम की चर्चा करते हुए लेखिका संस्कृत-पाली होते हुए हिंदी तक की यात्रा पूरी करती हैं और इस क्रम में विगत 2500 वर्षों के उपलब्ध लिखित साहित्य/ साक्ष्यों का परीक्षण तो करती ही हैं साथ ही इन्हीं स्रोतों/ साहित्य के माध्यम से वे भारतीय समाज में स्त्री की दशा का विवेचन करते हुए भी चलती हैं। थैरी गाथाओं में विभिन्न समुदायों की स्त्रियों के आख्यान का विस्तार से उल्लेख करते हुए उन्होंने स्त्रियों की आत्मवृत्ति और भारतीय लोकजीवन परंपरा, दोनों पर प्रकाश डाला है।

आत्मकथा साहित्य के विकास क्रम में जिन हिंदी की पत्र पत्रिकाओं तथा विशिष्ट पुस्तकों का योगदान है उन पर लेखिका सरसरी तौर पर नजर डालती हैं। इस कारण मुख्यधारा में प्रचलित पुस्तकों का उल्लेख तो लेखिका करती हैं परंतु कम चर्चित (पर बेहद प्रभावी) पुस्तकों का उल्लेख उनसे छूट गया है।

स्त्री आत्मकथाओं पर विचार करते हुए मोटे तौर पर चार आयाम दिखाई पड़ते हैं जिनमें- जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग तथा धर्म सम्मिलित हैं। यह सभी आयाम आपस में उलझे हुए अथवा एक दूसरे को प्रतिच्छेदित करते हुए सामाजिक संस्तर का निर्माण करते हैं। अतः भारतीय समाज के विभिन्न पदानुक्रम में सत्ता और शक्ति के केंद्रों पर इन वर्गों के प्रतिनिधियों के फलस्वरूप ही रचनाधर्मिता का निर्माण होता है।

पुस्तक का दूसरा अध्याय स्त्री आत्मकथा के समाजशास्त्रीय अध्ययन की पड़ताल करता है। इसे सही अर्थों में पुस्तक की भूमिका की तरह देखा जाना चाहिए। समाज में विभिन्न अस्मिताएं अपनी पहचान के लिए एक दूसरे में गुंथी रहती हैं उनका स्वायत्त अस्तित्व होते हुए भी उन्हें विमुक्त नहीं समझा जा सकता।

स्त्री आत्मकथाओं में पितृसत्ता, जाति, धर्म, गांव, शहर, रंग-रूप और जीविका इत्यादि एक विभेदीकरण का निर्माण करते हुए दिखाई देते हैं। गहन समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि के कारण लेखिका जाति आधारित स्त्री शोषण और उसके बहुआयामी परिणाम को बहुत ही संवेदनशीलता तथा गहराई से परखती हैं। लेखिका, विभिन्न प्रतिष्ठित एवं ख्यातिलब्ध साहित्यकारों के विचारों को सामने रखकर पाठक के मन में उनके प्रति विद्यमान श्रद्धा पर प्रश्नचिह्न लगाने का आधार भी उपलब्ध कराती हैं। वर्ग, जाति और लिंग के त्रिस्तरीय शोषण, अपमान और सामाजिक असमानता पर अपने सुचिंतित विचार निष्कर्ष के रूप में प्रकट भी करती हैं।

तीसरे शीर्षक में स्त्रियों के सामाजिक विडंबना में लेखिका यह बताने में कामयाब रही हैं कि प्रत्येक समाज और समय की सत्ता संरचनाएं हाशिए की अस्मिताओं को दूर रखती हैं। जब भी हाशिए का वर्ग केंद्र में आने की तड़प में होता है तो उसे बार-बार उसी सत्ता संरचना की प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। साहित्य में इस छटपटाहट की ऐतिहासिक गवाही लेखिका स्त्री आत्मकथाओं के कालक्रम विश्लेषण के द्वारा प्रस्तुत करती हैं। इसी कारण यह आत्मकथाएं प्रतिरोध का साहित्य नजर आने लगती हैं, जो सही अर्थों में सदियों से एकत्रित असंतोष और कुंठा का प्रतिफल है। पुस्तक पढ़ते हुए यह चिंता बार-बार उठ खड़ी होती है कि क्या सत्ता समाज के पुरुष केंद्रित चेतना की जगह सहअस्तित्ववादी छवियों के धरातल का निर्माण हो पाना निकट भविष्य में संभव है? लेखिका मीरा और महादेवी के समय अंतराल का प्रभावी तरीके से उपयोग कर यह बता पाने में समर्थ रही हैं कि मौन को रक्ति की बजाय अवसर की अनुपलब्धता की तरह देखा जाना चाहिए। लंबे समय तक स्त्रियों ने अपने बारे में और समाज के संदर्भ में अपने दृष्टिकोण के विषय में कुछ नहीं कहा इसलिए वर्चस्व की जंग में वे दिखाई नहीं पड़ती। ये स्त्री आत्मकथाएँ उस लंबे अंतराल को पाटती दिखाई देती हैं।

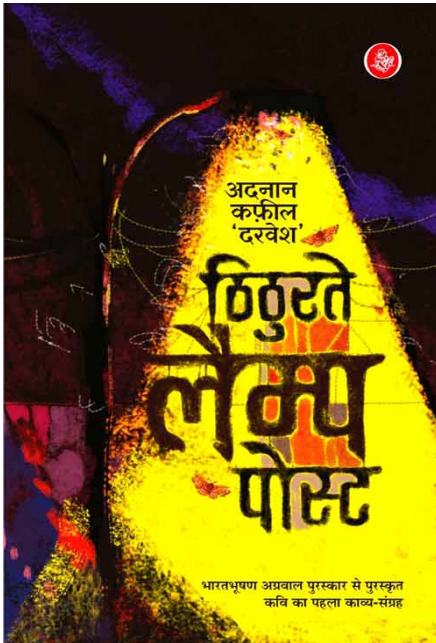
इस पुस्तक का चौथा विमर्श इसकी आत्मा कही जा सकती है, जिसमें लेखिका आत्मकथाओं का मूल्यांकन करती हैं। इससे लेखिका के अंतर्दृष्टि से परिचित हुआ जा सकता है। विधवा स्त्रियों की आत्मकथाओं के माध्यम से उन्होंने सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान आकर्षित कराने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है, पर ऐसा नहीं है कि सभी आत्मकथाओं को लेखिका ने सम्मान ही दिया हो। “लगता नहीं दिल मेरा- कृष्णा अग्निहोत्री” की निर्मम आलोचना इस बात का प्रमाण है कि इस पुस्तक में वृहत्तर स्त्री चेतना का अंध समर्थन नहीं किया जा रहा है। इस अध्याय में भाषाई एवं भौगोलिक विविधता से संबंधित आत्मकथा के विश्लेषण से देश की बहुलतावादी संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। ‘हादसे’ के माध्यम से रमणिका गुप्ता का मूल्यांकन करते हुए लेखिका उनकी आत्म-केंद्रीयता को चिह्नित करने में सफल रही हैं। लेखिका का ऐसा मानना है कि स्त्री और पुरुष आत्मकथाओं में कथानक तथा भाषाई विभिन्नता को लेकर प्रश्न, वास्तव में स्त्रियों को उपलब्ध अवसर तथा समाज द्वारा प्रदत्त स्पेस के कारण हुआ है।

स्त्री आत्मकथा का दायरा बेहद व्यापक हो चुका है अतः एक पुस्तक में सबको समेट पाना असंभव है। संभवतः इस कारण विभिन्न विदेशी लेखिकाओं की आत्मकथा तथा अनेक भारतीय भाषाओं की पुरस्कृत आत्मकथाओं को इस पुस्तक में स्थान नहीं मिल पाया होगा, जो इस पुस्तक का कमजोर पक्ष है। कई जगह यह पुस्तक सब कुछ समेट लेने के शोधार्थियों के कौतूहल / वृत्ति का शिकार नजर आती है। फिर भी यह पुस्तक अपने आप को संतुलित तरीके से प्रस्तुत करने में सफल रही है। डॉ संगीता को इस पुस्तक हेतु बधाई तथा आगामी रचनाओं के लिए शुभकामनाएँ।



## ‘ठिठुरते लैम्प पोस्ट’ : सांस्कृतिक विरासत और समसामयिक विद्रुपताओं की कविता

○ एस.के. साबिरा



हिन्दी का प्रतिष्ठित ‘भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार’ से सम्मानित कवि हैं अदनान कफील दरवेश। अदनान कफील दरवेश का अद्य प्रकाशित पहला काव्य संग्रह है “ठिठुरते लैम्प पोस्ट”। कई मायनों में महत्वपूर्ण काव्य संग्रह है। एक एक कविता अपने समय से लड़ती जूझती अपनी उपस्थिति दर्ज कराती नजर आती है। यह उस समाज व संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसको जबरन खोखला करने की कोशिश जारी है।

99 कविताएँ इस काव्य संग्रह में संग्रहित हैं। इन कविताओं की एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि यह ज्यादा पुरानी व किशोर अवस्था के प्रवाह में बहकर लिखी गयी कविताएँ नहीं लगती बल्कि इसमें किंचित प्रौढ़ता भी नजर आती है। संकट के समय से जूझता हुआ कवि मन अपनी जड़ों की पड़ताल करता, वर्तमान से पीछे, पीछे से आगे होते हुए उन जड़ों की तलाश करने उसको शब्दों में पिरोने में कामयाब होते हुए नजर आता है।

भारतीय साझी विरासत को, गाँव की मिट्टी, सांस्कृतिक साझेपन का वह रंग जो विश्व विदित था उसको एक बार फिर अदनान कफील दरवेश की कविता में देख सकते हैं। वक्त के साथ बहुत सारी चीजों को भुला दिया जा रहा है। उस लुप्तप्राय विषयों, परिस्थितियों व भाषिक संस्कृति के परवरदा हैं अदनान कफील दरवेश।

मिट्टी की महक, गाँव की खुशबु इनकी कविताओं में कूटकूट कर भरी हुई है। ‘फजिर’, ‘मगरिब’, ‘गाँव की शाम’, ‘एक नीरस शाम की सिमफनी’ कविता इसकी मिसाल है। ‘फजिर’ रात के खत्म होने का वह पहर है जहाँ से जीवन जगता है, अपने दैनंदिन कार्यकलापों का आरंभ करता है, जानवरों का चारा पानी, गाँव के सिवान पर सड़कों से गुजरते हुए ट्रकों का साफ सुनाई देती आवाज, स्त्रियों का टोलियाँ

बनाकर नहर की तरफ जाना आदि इन सब के बीच कवि अपनी सारी सांस्कृतिक पहचान को कविता के माध्यम से देख रहा है -

फजिर की अजान  
बस होने ही वाली है  
और मैं सोच रहा हूँ  
कि ऐसा कब से है  
और क्यों है  
कि मेरे गाँव के तमाम-तमाम लोगों की घड़ियाँ  
आज भी  
फजिर की अजान से ही शुरु होती हैं। (पृ. 12)

‘गमछा’ एक पूरे जीवन का प्रतीक है। वह जीवन जो आधुनीकीकरण, पूँजीवाद और बाजारवाद के तलवों तले रौंधता चला जा रहा है। तभी तो कवि कह पाए -

और सच कहूँ  
तो एक पुरबिया के लिए गमछा  
महज एक कपड़े का टुकड़ा भर ही नहीं है  
बल्कि उसके कंधों पर  
बर्फ की तरह जमा  
उसका समय भी है। (पृ. 17)

‘अपने गाँव को याद करते हुए’, ‘बरसात और गाँव’, ‘स्वप्न कथा’, ‘कुओं’, इसी तर्ज की कविताएँ हैं। अनेक कविताएँ भारत की साझी संस्कृति, साझी मान्यताओं की जीती जागती तस्वीर पेश करती है वह संस्कृति, वह मान्यताएँ जिसको राजनीतिक सांप्रदायिकता के जहर ने ग्रहण की तरह निगल लिया है। भारतीय समाज में धर्म विशेष, समुदाय विशेष की वर्तमान स्थिति पर चिंता, दुःख प्रकट करती कविता है ‘गायें’, ‘एक दिन जब सारे मुसलमान’, ‘प्रतिक्रियाएँ आजकल’ आदि। इन कविताओं में समाज को एक चेतावनी दी जा रही है कि असहिष्णुता और समुदाय विशेष के प्रति बढ़ती नफरत की आग सारे समाज को जलाकर राख कर सकती है। इस पर विचार करने की जरूरत है। इस्लामोफोबिया किस तरह फैला है उन जर्नों की तलाश करती हैं यह कविता। इस तरह के असहनशील माहोल में संवेदनशील व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ गड़बड़ा जाती हैं। इस बात को कवि कुछ इस तरह कह रहा है-

जहाँ सब हँसते हैं उठाकर; वहाँ उदास हो जाता हूँ  
जहाँ रोते हैं सब; वहाँ चुप लगा जाता हूँ  
जहाँ सब होते हैं प्रसन्न; वहाँ अकसर मर जाता हूँ  
मेरा सामान्य व्यवहार इस लोकतंत्र में गड़बड़ा गया है। (पृ. 97)

संकट के समय में लिखी जाने के बावजूद विद्रोहात्मक रूप में या विध्वंसात्मक रूप में कविता नहीं कही गयी है बल्कि रचनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। ‘दरवेश’ जो उन्होंने अपने नाम के साथ जोड़ा है उस सिफत व विशेषण को कविता सार्थक करती है।

राजेश जोशी फ्लाप पर लिखते हैं, “अदनान की कविता पढ़ने के बाद चीजें ज्यादा साफ नजर आने लगती हैं। जैसे हमारे ऐनक का नम्बर एकाएक बदल गया हो।...अदनान की कविता अपनी अस्मिता और

परम्पराओं को बचाते हुए हमारे समय के सांस्कृतिक आघात के प्रति असहमति और प्रतिरोध की कविता है।”

‘टार्च’ छोटी सी कविता है। अपने आप में एक अद्भुत कविता है। टार्च कई रूपों में स्थिति को पुनः पुनः देखने के लिए प्रेरित करती है। सामान्य रूप में देखा जाय तो स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं लगता है कब तक, उस समय तक जब तक कि आप अपनी विशेष दृष्टि उसपर नहीं डालते, उसको लेकर सोचेंगे नहीं, चिंतन मनन नहीं करेंगे। जितनी बार उस पर सोचेंगे वह उतनी ही स्पष्ट होती जाएगी। कवि चकित है –

फिर ऐसा क्या है जो  
बदला हुआ सा लगता है हर बार  
जितनी दफे जलाता हूँ टार्च (पृ. 100)

‘छाता’ (अब्बा मरहूम के लिए), ‘किब्ला’, ‘आँख’, ‘वो एक दुनिया थी’, ‘स्वप्नकथा’, कविता अपने कैन्वस में पूरी इनसानी रिश्तों को इतनी नज़ाकत से छू के निकल गयी है कि उसका लम्स दिल की तहों में कैद होकर रह जाता है। कविता जिंदा हो जाती है रिश्तों के बुनियादी अहसास से। माँ पर कई नज़्में, कविताएँ लिखी गयी हैं। निदा फ़ाज़ली के शेर के तो क्या कहने—

बेसन की सौंधी रोटी पर खट्टी चटनी जैसी माँ

निदा ने सारे उपमानों, प्रतीकों को एक तरह से चालेंज किया है। और अदनान कफ़ील दरवेश अपनी कविता में एक सांस्कृतिक चालेंज को स्वीकार किया यह कह कर –

लेकिन मैं इतना भरोसे के साथ कह सकता हूँ  
कि माँ और उसकी जैसी तमाम औरतों का किब्ला  
मक्के में नहीं  
रसोई घर में था...(पृ. 30-31)

एक और कविता ‘आँख’ की पंक्तियाँ हैं—

माँ ने तो अपने हाथों में आँखें उगा ली हैं  
और हम सब अपनी आँख  
कहीं रख कर भूल गए हैं...(पृ. 32)

‘लालटेन’, ‘ढिबरी’, ‘रात का अंधेरा’, ‘गाँव की रातें’, ‘गर्मी का एक दिन’ कुछ ऐसी चीजें और अनुभव हैं जो व्यक्ति के जीवन का हिस्सा थी। आज के वैज्ञानिक सुविधाओं ने इनको भुलवा दिया है एक तरह से।

ये बात है उन दिनों की  
जब रात का अँधेरा एक सच्चाई होता था  
और रौशनी के लिए सीमित साधन ही मौजूद थे मेरे गाँव में  
जिसमें सब से इज्जतदार हैसियत होती थी लालटेन की  
जिसे सांझ होते ही पोंछा जाता  
और उसके शीशे चमकाए जाते  
हर रोज राजा बेटा की तरह माँ और बहनें तैयार करती थीं उसे

लेकिन मुझे तो वो बिल्कुल मुखिया लगता था  
शाम को, घर के अँधेरे का

‘चमकती कटार’ कविता न होकर बदलते दमनकारी व्यवस्था से जूझते आम जीवन की स्थिति को आईना दिखाते शब्द हैं -

अब नींद में मुलायम संगीत नहीं  
है एक सुबुक आवाज़ की  
फैलती स्याही  
एक धुँध का साम्राज्य है चारों तरफ  
जहाँ नमक की बोरियों से  
रिस्ता रहता है खून... (पृ. 57)

पूरी कविता एक ऐसी स्थिति को दर्शाती है जो डर के साए में, अविश्वास के साए में बीत रहा है। जो पैदा की गयी है व्यवस्था द्वारा। कविता के आखिर में लिखा है इसका कारण कुछ इस तरह -

अब बस्ती में, मछरदानी में सोए लोग  
बार-बार चौंक कर जगते हैं  
हर आहट पर कान धरते हैं  
क्योंकि अब नींद के झीने परदे में  
पैवस्त है  
हत्यारे की चमकती कटार। (पृ. 58)

अदनान कफ़ील दरवेश की कविता मिट्टी की खुशबु से महकती हुई कविता है। उस संस्कृति का, वातावरण का पुनः अहसास कराती है जो आज की पीढ़ी को विरासत में मिलना था। इस प्रकार के वातावरण से जब कवि शहर आता है तो ‘शहर की सुबह’ को कुछ इस तरह देखता है -

शहर खुलता है रोजाना  
किसी पुराने सन्दूक-सा नहीं  
किसी बच्चे की नरम मुट्टियों-सा नहीं  
बल्कि वो खुलता है सूरज की असंख्य रौशनधारों से

कविता की आखिरी पंक्ति है

शहर खुलता है एक कवि की धुँएँ से भरी आँखों में  
जिसमें एक स्वप्न की चिता  
अभी-अभी जलकर राख हुई होती है...

‘पुन्नी मिस्त्री’ कविता प्रगतिवादी कविता की तर्ज की कविता है। निराला की ‘तोड़ती पत्थर’ में इलाहाबाद के पथ पर बैठी पत्थर तोड़ती हुई औरत और पुन्नी मिस्त्री की हालत एक सी है। घड़ी के काटे जिस तरह से काम करते हैं उसी तरह से काम करता है पुन्नी मिस्त्री। इसी तर्ज की कुछ और कविताएँ हैं ‘बाबुलाल चौकीदार’, ‘एक मुरदा मजदूर का बयान’ आदि। ‘एक मुरदा मजदूर का बयान’ कोरोना काल में मजदूरों की स्थिति पर लिखी गयी कविता है।

‘तुम’, ‘प्रेम’, ‘वो भूल जाती है’, ‘वहाँ जहाँ कहाँ’ अद्भुत कविताएँ हैं, अनुभूति की कविता कहा जा सकता है -

मैं हूँ वहाँ जहाँ मैं क़तई नहीं हूँ... (पृ. 120)

बेतहाशा दर्द भी इनके यहाँ देखने को मिलता है । ‘फोड़ा’, ‘अपनी आत्मा से’ कविता अकेलेपन के दंश को सहती कविता है –

जीवन उस चाँद की तरह सुन्दर है

जिस तक हमारी रसाई नहीं होती (पृ. 139)

‘मेट्रो में विदा’ जिंदगी का वह बयान है जो हर एक के दिल में दफन है किसी न किसी रूप में और जबान ख़मोश है तालाबंद। इस ख़ामोशी के ताले को तोड़कर पूरी बात कह गया कवि अपनी कविता के मारफ़्त ।

कविता जब कवि के अंतर्मन की यात्रा तय कर अभिव्यक्ति के द्वार पर दस्तक देती है और शब्दों में ढलती है, यह सारी प्रक्रिया से गुजरते हुए कवि को कई बार कई तरह से अपने आप को तपाना भी पड़ता है। काव्य-संग्रह में संकलित कविताएँ ज्यादा पुरानी या किशोर मन का आख्यान नहीं हैं बल्कि पिछले चार पाँच सालों के जीवन का आईना है। इनमें से 2019 में लिखी गयी कविता की पकड़ काफी गहरी है और कई दृष्टियों से अपने आप में महत्वपूर्ण कविताएँ कही जाएँगी। व्यक्तिगत अनुभव व जीवन के दायरे से होते हुए सामूहिक जीवन की सरहदों को छूती है यह कविता।



## आजादी का अमृत महोत्सव : महिला सशक्तीकरण और शिक्षा

- सीता पांडेय
- सुनीता सिंह

### संक्षिप्ति :

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात महिलाओं के सर्वांगीण विकास हेतु एक तरफ जहाँ संवैधानिक और वैधानिक प्रयास किए गए, वहीं दूसरी तरफ उन्हें स्वावलंबी, सशक्त तथा आत्मनिर्भर बनाने हेतु शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया जिससे कि वे वंचितताओं तथा वर्जनाओं को अपनी क्षमता, योग्यता, दक्षता तथा तर्कणा से खंडित करते हुए अपने प्राचीन गौरव व आत्मसम्मान को पुनः प्राप्त कर सकें तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से अनुकूलन करते हुए उन्नत भारत के निर्माण में अपनी भूमिका सुनिश्चित कर सकें। जिससे समावेशी तथा महिला हितैषी समाज का निर्माण हो सके।

आज जब स्वतंत्रता प्राप्ति के 75 वर्षों बाद संपूर्ण देश उल्लास पूर्वक आजादी का अमृत महोत्सव मना रहा है, ऐसे में इस शोध पत्र द्वारा शिक्षा के माध्यम से महिला सशक्तीकरण की वास्तविकता को जानने-समझने का प्रयास किया गया है। इस हेतु कुछ उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं; जैसे कि शिक्षा ने अवसर की समानता बढ़ाने तथा जेंडर संबंधी असमानता को कम करने में क्या भूमिका निभाई है? बढ़ती साक्षरता दर ने महिलाओं को मानसिक रूप से सशक्त किया है। निर्णय निर्माण की प्रक्रिया तथा नेतृत्व क्षमता के विकास में शिक्षा कहाँ तक उपयोगी रही है। महिलाओं के स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दे व परिप्रेक्ष्य तथा उनके आर्थिक सुदृढ़ीकरण में शिक्षा कहाँ तक उपयोगी है? नई 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति', 2020 महिलाओं के शक्ति संवर्द्धन में कितना सक्षम है? क्या इससे उनमें कौशल विकास के साथ-साथ आर्थिक सशक्तीकरण व आत्मनिर्भरता का विकास सुनिश्चित हो सकेगा? और अंततः क्या शिक्षा महिला केंद्रित विकास के साथ-साथ महिला हितैषी सामाजिक वातावरण निर्मित कर पा रही हैं ? उक्त उद्देश्यों के संदर्भ में यह शोध पत्र तैयार किया गया है। शोध पत्र से संबंधित तथ्यों को तार्किक व विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। इस शोध पत्र में वर्णनात्मक शोध प्ररचना का प्रयोग किया गया है तथा आंकड़ों का अनुभवात्मक व तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अवलोकन प्रविधि तथा विद्वतजनों से परिचर्चा की गई है। आवश्यकतानुसार द्वितीयक आंकड़े, अंतरराष्ट्रीय रिपोर्ट, सारणी आदि का प्रयोग किया गया है, जिससे तथ्यों को प्रमाणित किया जा सके।

**बीज शब्द :** शिक्षा, सशक्तीकरण, महिला केंद्रित, महिला हितैषी।

स्वतंत्रता के पश्चात महिलाओं को स्वावलंबी, आत्मनिर्भर तथा सशक्त बनाने हेतु शिक्षा पर विशेष ध्यान

दिया गया जिससे कि वे समाज की मुख्यधारा से जुड़ कर अपना चतुर्विक विकास करते हुए उन्नत भारत के निर्माण में अपना योगदान कर सकें। इन 75 वर्षों में शिक्षा ने महिलाओं को कितना सशक्त किया, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और यह शोध पत्र इसी पर केंद्रित है। सूचना और संचार क्रांति के इस युग में शिक्षा नवाचार के विविध आयामों से गुजरते हुए बुद्धिजीवी मानव संसाधन का विकास कर रही है। ज्ञान व सूचना को विश्व पटल पर सर्वोच्च शक्ति के रूप में देखा जा रहा है। बढ़ते डिजिटलीकरण के कारण संपूर्ण संसार एक 'वैश्विक ग्राम' के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है। मूल रूप से सभी मानव थोड़े बहुत अंतर के साथ एक जैसे होते हैं लेकिन शिक्षा ही उन्हें विशिष्ट, सुसंस्कृत तथा सशक्त बनाती है। शिक्षा व्यक्ति के अंदर राष्ट्रबोध का निर्माण करते हुए राष्ट्रीय अवयव के रूप में कुशल, उपयोगी और संसाधनकृत व्यक्तित्व निर्मित करती है। इसलिए शिक्षा में निवेश को सर्वाधिक महत्वपूर्ण निवेश माना जाता है। शिक्षा किसी राष्ट्र के निर्धारित नीतियों और लक्ष्यों को प्रभावी बनाने के साथ-साथ उन्हें स्थायित्व प्रदान करती है तथा कालांतर में होने वाले सकारात्मक परिवर्तनों के अनुसार अनुकूलन करने में सक्षम बनाती है। इस तरह शिक्षा मानव केंद्रित विकास को सक्षम बनाते हुए किसी राष्ट्र की समृद्धि और विकास में सहायक होती है। एक चीनी कहावत है कि 'यदि आप एक वर्ष के लिए योजना बना रहे हैं, चावल बोएं; यदि दस वर्षों के लिए योजना बना रहे हैं, पौधे लगाएँ; यदि आप जीवन भर के लिए योजना बना रहे हैं, लोगों को शिक्षित करें।'<sup>1</sup> उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि शिक्षा विकास और शक्ति का मूल स्रोत है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो समाज में शैक्षिक समावेशन को बढ़ाती है, तार्किक प्रगतिशील तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करती है। शिक्षा व्यक्ति के बुद्धि, कौशल और विवेक का विकास करते हुए उसे समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक भूमिकाओं के निर्वहन योग्य बनाती है। स्त्री और पुरुष किसी भी समाज के आधार स्तंभ होते हैं।

भारतीय समाज का लगभग आधा हिस्सा महिलाओं का है। उनके समुचित शिक्षण प्रशिक्षण से ही राष्ट्र समृद्धि व विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है। जॉनेटा कॉल का विचार है कि "जब आप एक पुरुष को शिक्षित करते हैं तो आप एक व्यक्ति को शिक्षित करते हैं, जब आप एक महिला को शिक्षित करते हैं, तो आप पूरे परिवार को शिक्षित करते हैं।"<sup>2</sup> चूंकि स्त्री ही संस्कृति एवं संस्कारों की वाहक होती है इसलिए उसकी सही समझ उसमें उत्पन्न हो, उसके लिए शिक्षा आवश्यक है। भारतीय संविधान स्त्री-पुरुष सभी के अवसर की समानता की बात करता है। ऐसे में जब प्रश्न महिला शिक्षा व उसके शक्ति संवर्धन से जुड़ा हो, तो स्वयं ही प्रासंगिक हो जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि सशक्तीकरण है क्या? प्रतिउत्तर में कहा जा सकता है कि सशक्तीकरण का अर्थ शक्ति प्रदान करने से है। यह शक्ति मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक किसी भी तरह की हो सकती है। महिला सशक्तीकरण से अभिप्राय महिलाओं की निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में सहभागिता, आर्थिक स्वावलंबन तथा जेंडर विभेद से रहित अवसर की समानता से है। यदि महिलाएँ स्वयं के द्वारा अर्जित आय, उसे खर्च करने, संपत्ति के रखरखाव तथा स्वयं के श्रम पर नियंत्रण रखती हैं तो यह उनका आर्थिक सशक्तीकरण है। यदि प्रजनन संबंधी तथा पारिवारिक निर्णय की प्रक्रिया में सम्मिलित हैं, तो जेंडर विभेद को कमजोर करते हुए आजादी के इस अमृत बेला में वे शक्ति संवर्धित तथा सशक्त हो रही हैं। इसे हम निम्नलिखित रूपों में देख सकते हैं -

1. निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में सम्मिलित होना अर्थात् घर परिवार से जुड़े सभी छोटे बड़े निर्णयों में

महिलाओं के विचारों को महत्व दिया जाता हो।

2. अवसर की समानता हो; अर्थात् जेंडर संबंधी असमानता के कारण उन्हें विकासात्मक गतिविधियों में असमानता का सामना न करना पड़े।
3. शिक्षा के समान अवसर प्राप्त हों तथा उनमें आलोचनात्मक चिंतन का विकास हो।
4. शादी-विवाह, संपत्ति से संबंधित निर्णयों में उन्हें सम्मिलित किया जाता हो।
5. बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, उनके संकाय चयन में उनकी समान सहभागिता सुनिश्चित हो तथा उनके निर्णयों का सम्मान हो रहा हो।
6. प्रजनन संबंधी निर्णय उनका स्वयं का निर्णय हो।
7. वे अपने अधिकारों से परिचित हों, उनमें आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना हो।

यदि उपर्युक्त आधार किसी समाज या राष्ट्र में महिलाओं के संदर्भ में दिखाई देते हैं तो कहा जा सकता है कि वहाँ महिलाएँ सशक्त हैं और यदि ऐसा नहीं है तो वहाँ सशक्तीकरण की प्रक्रिया को गतिमान करने की आवश्यकता है।

### भारत में महिला शिक्षा की स्थिति व संवैधानिक प्रावधान :

शिक्षा किसी भी राष्ट्र के सर्वांगीण विकास का आधार स्तंभ है, क्योंकि शिक्षा समझ, जागरूकता के साथ-साथ परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायक बनाती है परंतु जब बात महिला शिक्षा की आती है, तो परिस्थितियाँ उनके अनुकूल अधिक नहीं रही हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व महिला साक्षरता मात्र 7.3 प्रतिशत (1951) थी। स्वतंत्रता के पश्चात संवैधानिक प्रावधानों तथा 86 वें संविधान संशोधन 2002 में शिक्षा को मूल अधिकारों के अंतर्गत सम्मिलित करते हुए अनुच्छेद 21(क) जोड़ा गया तथा मूल कर्तव्य के अंतर्गत शिक्षा को 11 वें मूल कर्तव्य के अंतर्गत रखा गया तथा नीति निर्देशक तत्वों के अंतर्गत भी कुछ प्रावधान किए गए। इस प्रकार 2011 की जनगणना में कुल साक्षरता बढ़कर 73 प्रतिशत हो गई जिसमें महिला साक्षरता 64.6 प्रतिशत रही। शिक्षा में राज्यों के स्तर पर विविधता दृष्टिगत होती है। बहुत सी ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ हैं, जो महिला शिक्षा व सशक्तीकरण की गति को कमजोर बनाती हैं।

सारणी- 1: भारत में महिला-पुरुष साक्षरता दर

| वर्ष | कुल साक्षरता<br>(प्रतिशत में) | महिला साक्षरता<br>(प्रतिशत में) | पुरुष साक्षरता<br>(प्रतिशत में) |
|------|-------------------------------|---------------------------------|---------------------------------|
| 1951 | 18.33                         | 8.86                            | 27.16                           |
| 1961 | 28.30                         | 15.35                           | 40.40                           |
| 1971 | 34.45                         | 21.97                           | 45.96                           |
| 1981 | 43.57                         | 29.76                           | 56.38                           |
| 1991 | 52.21                         | 39.29                           | 64.13                           |
| 2001 | 64.84                         | 53.67                           | 75.85                           |
| 2011 | 73.0                          | 64.60                           | 80.90                           |

स्रोत: जनगणना रिपोर्ट- 2011

## शोध पत्र का उद्देश्य :

इस शोध पत्र में इस तथ्य का विश्लेषण किया जाएगा कि शिक्षा महिला सशक्तिकरण को बढ़ाने में कहां तक सहायक सिद्ध हो रही है? क्या ग्रामीण-नगरीय दोनों समाजों की महिलाओं पर शिक्षा का समान प्रभाव पड़ रहा है? इन्हीं मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हुए इस शोध पत्र के कुछ उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. क्या शिक्षा महिला सशक्तिकरण को गति प्रदान कर रही हैं?
2. क्या महिलाओं को समाज में समान अवसर व अधिकार प्राप्त हैं?
3. क्या शिक्षा द्वारा महिलाओं में निर्णय निर्माण की प्रक्रिया का विकास हो रहा है?
4. क्या महिला शिक्षा से स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दे व परिप्रेक्ष्य सशक्त हो रहे हैं?
5. क्या शिक्षा ने महिलाओं के आर्थिक परिदृश्य को सुदृढ़ किया है?
6. क्या शिक्षा समाज में जेंडर संबंधित असमानता को कमजोर कर रही है?
7. क्या राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 महिलाओं के शक्ति संवर्धन में सक्षम है तथा इसके लिए इसमें क्या प्रावधान है?
8. क्या शिक्षा महिलाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य को महिला केंद्रित तथा महिला हितैषी वातावरण में परिवर्तित कर रही है ?

उक्त उद्देश्यों पर इस शोध-पत्र में बिंदुवार आगे चर्चा की जाएगी।

उद्देश्य- 1 : क्या शिक्षा महिला सशक्तीकरण को गति प्रदान कर रही है ?

महिला सशक्तीकरण और विकास में शिक्षा महत्वपूर्ण माध्यम सिद्ध हो रही है परंतु इसको एकमात्र कारक के रूप में नहीं देखा जा सकता है; क्योंकि निरंतर बढ़ती साक्षरता दर के बावजूद भी जेंडर संबंधित असमानता व्याप्त है। पितृसत्तात्मक सोच तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारक भी महिला सशक्तीकरण के मार्ग को कमजोर बना रहे हैं। इन सबके बावजूद शिक्षा से महिलाओं में जागरूकता, अधिकारों के प्रति चैतन्यता उत्पन्न हुई है। संख्यात्मक दृष्टि से भले ही कम हो लेकिन आज महिलाएँ खेल, नौकरशाही से लेकर सैन्य व वैज्ञानिक क्षेत्रों तक अपना परचम लहरा रही हैं, जो शिक्षा के माध्यम से ही संभव हुआ है। शिक्षा ही वह महत्वपूर्ण कारक है जो महिलाओं की प्रस्थिति में सुधार से लेकर उनके सशक्तीकरण के मार्ग को प्रशस्त कर रही है।

उद्देश्य- 2: क्या महिलाओं को समाज में समान अवसर व अधिकार प्राप्त है ?

शिक्षा से महिलाओं में तार्किक दृष्टिकोण, जागरूकता व चैतन्यता उत्पन्न हुई है। शिक्षा के कारण ही उनमें संविधान प्रदत्त अधिकारों, नियम व कानूनों की समझ विकसित हुई है। आज अधिकांश महिलाओं को यह ज्ञात है कि भारतीय संविधान उनके साथ कोई भेदभाव नहीं करता, उन्हें समान अवसर उपलब्ध कराता है। जिसके परिणामस्वरूप महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है भले ही उनकी संख्या कम हो लेकिन यह शिक्षा के माध्यम से ही संभव हुआ है।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सतत विकास लक्ष्य के अंतर्गत जो 17 लक्ष्य 2030 तक संपूर्ण विश्व को बदलने के लिए निर्धारित किए गए हैं, उनमें पांचवा लक्ष्य लैंगिक समानता से संबंधित है। जिसका उद्देश्य लैंगिक समानता प्राप्त करना और सभी महिलाओं और बालिकाओं का सशक्तीकरण करना है। इससे यह सिद्ध होता है कि न केवल भारत बल्कि विश्व स्तर पर जेंडर संबंधी असमानता अभी व्याप्त है। इसे दूर करने के लिए

शिक्षा के साथ-साथ महिला सशक्तीकरण के लिए राज्यों द्वारा योजनाएँ चलाई जा रही हैं। 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' इस दिशा में केंद्र सरकार द्वारा संचालित हो रही महत्वपूर्ण योजना है। इसके अतिरिक्त सुकन्या समृद्धि योजना, मुख्यमंत्री सुमंगला योजना, मिशन शक्ति तथा स्टैंड अप इंडिया भी महत्वपूर्ण योजना है।

'वैश्विक लैंगिक अंतराल रिपोर्ट', जो विश्व आर्थिक मंच द्वारा जारी की जाती है। 2021 की रिपोर्ट में 156 देशों की सूची में भारत 140 वें स्थान पर है, जबकि 2022 की रिपोर्ट में 146 देशों की सूची में 135 वें स्थान पर है। साथ ही विश्व का कोई भी देश पूर्ण लैंगिक समानता को प्राप्त नहीं कर सका है। यह रिपोर्ट जिन चार आयामों के आधार पर तैयार की जाती है, उसमें शिक्षा प्राप्ति भी एक महत्वपूर्ण आयाम है।

उद्देश्य- 3: क्या शिक्षा द्वारा महिलाओं में निर्णय निर्माण की प्रक्रिया का विकास हो रहा है?

शिक्षा से महिलाओं की प्रस्थिति में विविध परिवर्तन दृष्टिगत हो रहे हैं। शिक्षा महिलाओं को एक नई पहचान, दृष्टिकोण तथा वैचारिकी प्रदान कर रही है, जिसके परिणामस्वरूप निर्णय निर्माण की विविध प्रक्रियाओं में महिलाओं को निरंतर सम्मिलित किया जा रहा है। प्रशासन से लेकर प्रबंधन, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में महिलाएँ निर्णय ले रही हैं।

परिवार समाज की सबसे छोटी किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई है। यदि महिलाओं को पारिवारिक स्तर से ही निर्णय प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाए तो यह महिला सशक्तीकरण को और अधिक बल देगा। कुछ ऐसे पारिवारिक निर्णय हैं जहाँ महिलाएँ अभी भी कमजोर हैं; जैसे, संपत्ति से संबंधित निर्णय, शादी विवाह से जुड़े निर्णय। इसमें भी नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों में अंतर विद्यमान है। नगरीय तथा शिक्षित परिवारों में तो महिलाओं की सहभागिता कुछ हद तक होती है परंतु ग्रामीण तथा कम शिक्षित परिवारों में उनकी संख्या अत्यंत सीमित है।

देश की संसद तथा विधानसभाओं में जहाँ समूचे देश के लिए नीतियों और कानूनों का निर्माण होता है, वहाँ महिलाओं की 33 प्रतिशत उपस्थिति न होना महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया को कमजोर बनाती है। इसके लिए आवश्यक है कि समाज के दृष्टिकोण व वैचारिकी में बदलाव हो। वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक रिपोर्ट 2022 में 146 देशों में राजनीतिक सशक्तीकरण में भारत का स्थान 48वाँ है।

उद्देश्य- 4 : क्या महिला शिक्षा से स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दे व परिप्रेक्ष्य सशक्त हो रहे हैं ?

शिक्षा और स्वास्थ्य का अन्योन्याश्रित संबंध है। जो महिलाएँ शिक्षित होती हैं वे अपने स्वास्थ्य तथा उससे जुड़ी समस्याओं के संदर्भ में निर्णय लेने में सक्षम होती हैं। कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है। यदि महिला स्वस्थ है तो वह मानसिक और वैचारिक रूप से सशक्त होगी। कार्यक्षेत्र में अधिक योगदान करेगी। वह व्यक्तिगत स्वास्थ्य से लेकर परिवार के सदस्यों के स्वास्थ्य, पोषण, स्वच्छता के प्रति अधिक जागरूक, सजग व सतर्क होगी। केरल में महिलाओं की साक्षरता दर 2011 की जनगणना के अनुसार 92.1 प्रतिशत है। केरल मातृ और शिशु स्वास्थ्य में शीर्ष राज्य है। केरल में सबसे कम मातृ और शिशु मृत्यु दर है। राज्य स्वास्थ्य सूचकांक 2019-20 में ओवरऑल परफॉर्मेंस के संदर्भ में केरल शीर्ष पर है। सतत विकास लक्ष्यों में राज्यों के प्रदर्शन के संदर्भ में भी केरल का स्थान सर्वोच्च है। उक्त समस्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि शिक्षा व स्वास्थ्य के बीच प्रत्यक्ष संबंध है।

बढ़ती शिक्षा के कारण ही स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दों और परिप्रेक्ष्य पर खुलकर बात हो सकती है। यह भी सशक्तीकरण का एक रूप है। जैसे प्रजनन संबंधी निर्णय एक पारिवारिक निर्णय होता था, किंतु आज यह

व्यक्तिगत निर्णय होता जा रहा है। महिलाओं से जुड़े यौन अपराधों को जहाँ छिपाया जाता था वहीं आज ऐसे अपराधों के लिए अपराधी को कड़ी से कड़ी सजा दिलाने के लिए लोग आगे आ रहे हैं। परंतु वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक की रिपोर्ट 2022 के अनुसार 146 देशों में भारत की स्वास्थ्य व उत्तरजीविता की स्थिति अंतिम अर्थात् 146 वें स्थान पर है, जबकि वर्ष 2021 में 156 देशों में 155 वां स्थान था, ऐसे में यह रिपोर्ट महिला स्वास्थ्य के संबंध में नकारात्मक तथ्य प्रस्तुत करती है तथा व्यापक सुधार की आवश्यकता को दिखाती है।

उद्देश्य- 5 : क्या शिक्षा ने महिलाओं के आर्थिक परिदृश्य को सुदृढ़ किया है ?

शिक्षा से महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ है। शिक्षा में निवेश को सर्वाधिक महत्वपूर्ण निवेश माना जाता है। यदि महिला शिक्षित है तो उसके कौशल विकास में प्रशिक्षित होने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। आत्मनिर्भर भारत के निर्माण के लिए महिलाओं का आर्थिक स्वावलंबन, समावेशन व सशक्तीकरण अनिवार्य तत्व है। शैक्षिक सशक्तीकरण का ही परिणाम है कि महिलाएँ संगठित क्षेत्रों में विभिन्न पदों पर अपनी सेवाएँ दे रही हैं तथा असंगठित क्षेत्र में उनकी भूमिका निर्णायक होती जा रही है। सन 2001 के बाद से कृषि में महिलाओं की संख्या निरंतर बढ़ते हुए 80 प्रतिशत से अधिक हो गई है, जिसको देखते हुए कहा जाने लगा है कि कृषि का महिलाकरण हो रहा है। महिलाएँ देश के सकल घरेलू उत्पाद में यदि 17 से 18 प्रतिशत तक का योगदान कर रहीं हैं तो यह शिक्षा के कारण ही संभव है। जब शिक्षित महिला श्रम शक्ति और कौशल विकास के साथ आर्थिक गतिविधियों में सहायता करती हैं, तब वह परिवार को गरीबी के दुश्चक्र से बाहर निकालती हैं तथा आर्थिक समावेशन को गति प्रदान करते हुए राष्ट्र निर्माण में सहयोग करती हैं। किंतु वैश्विक लैंगिक अंतराल की रिपोर्ट 2022 के अनुसार 146 देशों में आर्थिक भागीदारी और अवसर में भारत का स्थान 143वां है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस दिशा में भारत को और अधिक अच्छे प्रदर्शन की आवश्यकता है। तभी वित्तीय समावेशन और महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण को शिखर तक पहुँचाया जा सकता है।

उद्देश्य- 6 : क्या शिक्षा समाज में जेंडर संबंधी असमानता को कमजोर कर रही है ?

शिक्षा के माध्यम से बढ़ती साक्षरता की दर ने स्त्री-पुरुष के मध्य साक्षरता के अंतराल को कम किया है। 2001 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार पुरुष व महिला के मध्य भारत में 21.59 प्रतिशत का अंतर था जो घटकर 2011 की रिपोर्ट में 16.3 प्रतिशत हो गया है। लैंगिक अंतराल के अध्ययन हेतु वैश्विक स्तर पर चार आयामों को सम्मिलित किया जाता है तथा इन्हीं के आधार पर विभिन्न देशों को रैंकिंग प्रदान की जाती है। 14 जुलाई, 2022 को जो विश्व आर्थिक मंच द्वारा 'वैश्विक लैंगिक अंतराल रिपोर्ट', 2022 प्रस्तुत की गई, उसमें भारत की स्थिति कुछ इस प्रकार रही।

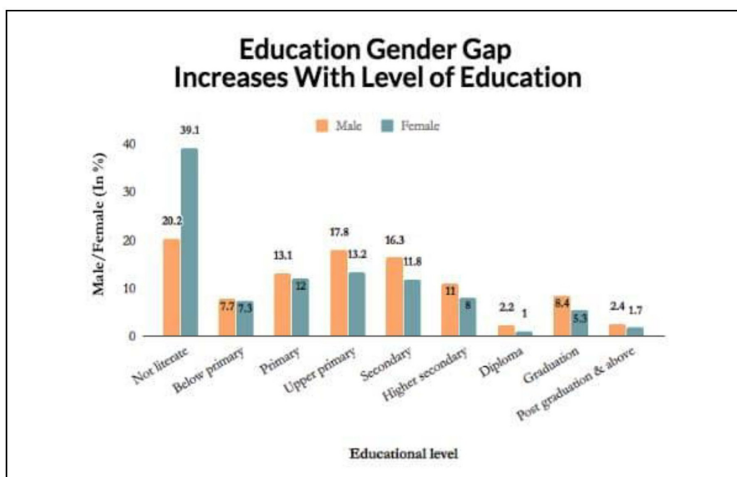
सारणी-2: वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक में भारत की स्थिति

| भारत                          | स्थान (2022 में) |
|-------------------------------|------------------|
| वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक | 135 वां          |
| आर्थिक भागीदारी और अवसर       | 143 वां          |
| शिक्षा प्राप्ति               | 107 वां          |
| स्वास्थ्य एवं उत्तरजीविता     | 146 वां          |
| राजनीतिक सशक्तीकरण            | 48 वां           |

स्रोत: द हिंदू, 14 जुलाई 2022

भारत को कुल 146 देशों में 135वां स्थान प्राप्त हुआ है। शिक्षा प्राप्ति में भारत को 107वां स्थान प्राप्त हुआ है। पिछले वर्ष की तुलना में स्थान थोड़ा निम्न रहा है। जेंडर संबंधी वैचारिकी शिक्षा के साथ-साथ बहुत से सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों से प्रभावित होती है। विश्व पटल पर कोई भी राष्ट्र अभी पूर्ण जेंडर संबंधी समानता को प्राप्त नहीं कर सका है। भारत लैंगिक समानता सुनिश्चित करने के प्रयास में अग्रसर है।

आरेख -1



स्रोत: नेशनल सैम्पल सर्वे रिपोर्ट 2014

उद्देश्य-7 : क्या 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' 2020 महिलाओं के शक्ति संवर्धन में सक्षम है?

'राष्ट्रीय शिक्षा नीति', 2020 महिलाओं के सामाजिक व आर्थिक विकास पर ध्यान केंद्रित करने के साथ ही समावेशी शिक्षा के दृष्टिकोण पर आधारित है। एक समावेशी समाज के निर्माण और राष्ट्र के विकास के दृष्टिगत 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति', 2020 में बालिकाओं और महिलाओं की शिक्षा में भागीदारी बढ़ाने के लिए जेंडर समावेशी कोष (Para 6.8 NEP 2020) की स्थापना एक नवीन व क्रांतिकारी कदम है। 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति', 2020 की प्रस्तावना में ही भारत की विदुषी नारियों (गार्गी और मैत्रेयी) का उल्लेख प्राचीन काल में शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सशक्त उपस्थिति को दर्शाने के साथ ही भविष्य में उनकी बढ़ती सहभागिता की ओर भी संकेत करता है। यह शिक्षा नीति पूर्व प्राथमिक से माध्यमिक और उच्च शिक्षा तक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से वंचित समूहों (SEDG) की एक समान सहभागिता सुनिश्चित करने पर जोर डालती है। इन वंचित समूहों में भी आधी संख्या महिलाओं की है। इसलिए एस.ई.डी.जी. वर्ग की सभी योजनाएँ और नीतियाँ विशेष रूप से इन समूह की महिलाओं की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा से संबंधित है (Para 6.7)।

जेंडर समावेशी कोष का उपयोग किया जाएगा -

- ☐ परिसर में महिलाओं के लिए शौचालय।
- ☐ स्वच्छता से संबंधित अन्य सुविधाएं।
- ☐ लक्षित छात्रवृत्ति।

- परिवहन के लिए साइकिल।
- पढ़ाई में मदद के लिए सशर्त नगद हस्तांतरण।
- छात्राओं के लिए निशुल्क छात्रावासों का निर्माण।

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालयों का विस्तार (Para 6.9) भी समावेशी समाज के निर्माण की दिशा में नई शिक्षा नीति, 2020 का एक उल्लेखनीय कदम है।

उद्देश्य- 8 : क्या शिक्षा महिलाओं के सामाजिक सांस्कृतिक परिदृश्य को महिला केंद्रित तथा महिला हितैषी वातावरण में परिवर्तित कर रही है?

महिलाओं का सामाजिक परिवेश व परिदृश्य तय करने में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी समाज में महिलाओं के शैक्षणिक उन्नयन के आधार पर उस समाज का विकास सुनिश्चित होता है। महिलाओं की स्वास्थ्य के प्रति बढ़ती जागरूकता व चैतन्यता, बच्चों की संख्या सीमित रखने की समाज में बढ़ रही इच्छा, जो प्रजनन दर को नियंत्रित करेगी। सामाजिक विधानों के प्रति महिलाओं में बढ़ रही समझ, अंधविश्वास, रूढ़ियों, सामाजिक कुरीतियों के प्रति तार्किक दृष्टिकोण अपनाते हुए उन्हें कमजोर करके उनकी उन्मूलन के प्रति बढ़ती रुचि। उदाहरण के लिए घरेलू हिंसा, दहेज, बाल विवाह, यौन उत्पीड़न। महिलाओं की शिक्षा के प्रति निरंतर बढ़ रही रुचि, वाणिज्यिक परिदृश्यों में आ रहा बदलाव, सैन्य सेवाओं से लेकर न्यायिक क्षेत्र तक महिलाओं की बढ़ती संख्या, अलग अलग खेलों में नित नए कीर्तिमान स्थापित करती महिलाएँ, सामाजिक निषेधों के प्रति मुखर होती महिलाओं की आवाज यह चरितार्थ करती है कि भौतिक वातावरण समावेशी समाज की ओर अग्रसर है, जिसमें महिलाओं की स्वयं की 'पहचान' है और यह परिदृश्य महिला केंद्रित होने के साथ-साथ महिला हितैषी भी है।

### **महिला शिक्षा के मार्ग की प्रमुख बाधाएँ :**

महिलाओं के उन्नयन, उनके विकास तथा उनकी प्रस्थिति में सुधार के लिए शिक्षा से आ रहा सशक्तीकरण ही उनके पथ को आलोकित करेगा। शिक्षा ही वह माध्यम है, जो सशक्तीकरण और शिक्षा के मार्ग में आ रही बाधाओं को कमजोर करते हुए महिला केंद्रित विकास और महिला हितैषी परिदृश्य निर्मित करेगा। प्रमुख बाधाएं निम्नलिखित हैं,

- समाज की पितृ सत्तात्मक सोच तथा दृष्टिकोण व महिलाओं की द्वितीयक प्रस्थिति।
- अभी समाज में बाल विवाह के प्रति कुछ क्षेत्रों में विशेष झुकाव।
- दहेज प्रथा तथा ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में शिक्षा प्राप्ति के प्रति दृष्टिकोण में अंतर।
- कमजोर महिला हितैषी परिदृश्य।
- घर परिवार से जुड़े समस्त कार्य व उत्तरदायित्व को महिलाओं से संबंधित समझना।
- महिलाओं के समक्ष भूमिका द्वन्द की स्थिति।

### **महिला सशक्तीकरण हेतु सुझाव :**

1. समाज की पितृसत्तात्मक सोच व दृष्टिकोण में बदलाव होना चाहिए।
2. परिवार में बच्चों के समाजीकरण के माध्यम से ही लैंगिक समानता स्थापित करने का प्रयास किया जाए।
3. परिवार के छोटे-छोटे कार्यों को लैंगिक समानता के आधार पर विभाजित करके परिवार के सभी

सदस्यों को उन्हें करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

4. परिवार नागरिक गुणों की प्रथम पाठशाला होती है, ऐसे में महिला सम्मान, सुरक्षा का भाव यहीं से लड़कों में भरा जाए जिससे कि यह आदत बन कर व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाए।
5. सामाजिक मूल्य, प्रतिमानों में सकारात्मक व रचनात्मक बदलावों को महिलाओं के संदर्भ में प्रोत्साहित किया जाए।
6. महिलाओं में नेतृत्व क्षमता तथा कौशल विकास को प्रोत्साहित किया जाए। इसके लिए परिवार, शैक्षिक संस्थान तथा समाज सभी के सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता है।
7. महिलाओं को परिवार से लेकर राष्ट्र तक के निर्णयों से जुड़ी प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाए। उन्हें समान अवसर उपलब्ध कराए जाएं।
8. महिलाओं को कैरियर से जुड़े मार्गदर्शन व प्रशिक्षण लैंगिक समानता के आधार पर प्रदान किए जाएं।
9. महिलाओं से जुड़े अधिकारों के मुद्दों के लिए समुदाय में सजगता व जागरूकता हो।
10. महिलाओं को सशक्त बनाने का प्रयास स्थानीय स्तर से ही प्रारंभ किए जाए तभी वे वास्तविक धरातल प्राप्त कर पाएंगे।
11. महिला केंद्रित योजनाओं के निर्माण के साथ उनके क्रियान्वयन की भी मॉनिटरिंग की जाए।
12. महिलाओं की प्रत्येक क्षेत्र में रचनात्मक तथा सकारात्मक सहभागिता को प्रोत्साहित किया जाए।
13. महिलाओं के कार्यस्थल, लड़कियों के स्कूल और कॉलेजों के पारिस्थितिकी, परिवार के वातावरण को जेंडर फ्रेंडली तथा महिला हितैषी बनाया जाए।
14. महिलाओं को आत्मरक्षा व आत्मनिर्भरता के लिए प्रारंभ से मानसिक रूप से तैयार किया जाए। इससे जुड़े प्रशिक्षण भी प्रदान किए जाए।
15. महिलाएं स्वयं भी अपना तथा अपने कार्यों का सम्मान करें तथा अपने आत्मसम्मान को लेकर सजग व सतर्क रहें। उन्हें आत्मसुरक्षा से संबंधित प्रशिक्षण अनिवार्य रूप से दी जाए।

#### **निष्कर्ष :**

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शिक्षा व महिला सशक्तीकरण के मध्य सकारात्मक सहसंबंध है। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जिन राज्यों में शिक्षा का स्तर उच्च है, वहाँ महिलाएँ अधिक सशक्त हैं। शिक्षा ने निश्चित रूप से अवसर की समानता को बढ़ाया है तथा वाणिज्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परिदृश्य को महिला हितैषी बनाया है। महिलाओं में जागरूकता, तार्किकता तथा बौद्धिक चिंतन शिक्षा के माध्यम से ही संभव हुआ है। आजादी के अमृत महोत्सव तक पहुँचते-पहुँचते शिक्षा विभिन्न संवैधानिक प्रावधानों तथा सामाजिक विधानों के साथ जुड़कर ऐसे समावेशी समाज का निर्माण कर रही है जिसमें जेंडर संबंधी असमानता कम तथा अवसरों की समानता अधिक होगी।

#### **संदर्भ :**

1. कुरुक्षेत्र, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, सितंबर 2005, वर्ष 51, अंक-11 : 2
2. वही : 2
3. सामान्य अध्ययन विशेषांक 'जनसंख्या एवं नगरीकरण', जनगणना 2011, बौद्धिक प्रकाशन : 2
4. वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक 'द हिंदू', ई-न्यूजपेपर, 14 जुलाई 2022
5. ईयरबुक भारत 2022

6. मदान, पूनम एवं सिंह, सुनीता (2022), 'शिक्षा की वैचारिक रूपरेखा' अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
7. अग्रवाल सौरभ (2021) 'शिक्षा की अवधारणात्मक रूपरेखा', एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस, आगरा
8. नेशनल सैम्पल सर्वे रिपोर्ट, 2014
9. नीति आयोग-एस.डी.जी. इंडिया इंडेक्स एण्ड डैशबोर्ड, बेसलाइन रिपोर्ट 2021-22
10. संयुक्त राष्ट्र संघ, सतत विकास लक्ष्य-2030
11. <https://www.hindi.theprint.in>
12. <https://www.indiaspend.com>
13. <https://www.education.gov.in>



## जनपद मैनपुरी की ऐतिहासिक एवं धार्मिक इमारतें

- नेहा
- अजीत प्रताप सिंह

### संक्षिप्ति

भारतीय संस्कृति व सभ्यता का एक मजबूत आधार स्थापत्य कला भी रही है। इतिहास के किसी विशेष कालखंड की जानकारी हमें उस काल में बनी इमारतों से भी प्राप्त होती है, ये इमारतें ऐतिहासिक व धार्मिक किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। यह इमारतें अपने राजवंशों के गौरवशाली इतिहास का एक प्रामाणिक आधार हैं। हमारे देश के प्रत्येक भाग का अपना इतिहास है। अनेक राजवंशों द्वारा शासन के दौरान अनेक भवन, धार्मिक स्थान, सराय आदि का निर्माण कराया गया। जो आज भले ही खण्डहर रूप में मौजूद हों, फिर भी वह उस काल के इतिहास के जीवंत प्रमाण हैं। जो उस काल की संस्कृति व स्थापत्य कला से हमें अवगत कराते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में उत्तर प्रदेश के जनपद मैनपुरी पर चौहान राजवंश, जो पृथ्वीराज चौहान रायपिथौरा से सम्बन्धित थे, के समय में निर्मित ऐतिहासिक किला और धार्मिक स्थानों के बारे में चर्चा की जा रही है।

### परिचय :

जनपद मैनपुरी गंगा यमुना के दोआब में अवस्थित है। इस नगर की प्राचीनता यद्यपि देश के बड़े धार्मिक स्थलों जैसे प्रयाग, कन्नौज, मथुरा, वाराणसी, पाटिलपुत्र जैसी भले ही न रही हो, फिर भी स्वयं में इस जनपद का अस्तित्व प्राचीन काल से रहा है। इस जनपद के इतिहास की प्राचीनता इसके दूर दराज के अंचल के विभिन्न भागों में बिखरे हुये खेड़ों (टीलों), मुद्राओं, प्राचीन इमारतों के ध्वंसावशेषों, पुराने टूटे-फूटे बर्तनों आदि पुरातत्विक सामग्रियों से प्रकट होता है।<sup>1</sup> महर्षि च्यवन, मयन, मार्कण्डेय की साधना स्थली और महाराजा तेज सिंह चौहान की वीरता की साक्षी यह नगरी अपने अंचल में गौरवशाली अतीत को संजोय हुए है। ऋषि मुनियों की भूमि होने के नाते धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता से इस पावन भूमि का वर्षों पुराना नाता रहा है, नगर में आज भी अनेक ऐसे धार्मिक स्थाल हैं जिनका धर्म के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्व भी है। अतः यह कहना होगा कि पुरातत्व, इतिहास, संस्कृति, धर्म एवं लोक जीवन की बहुमुखी गाथा को यह जनपद अपने अन्तराल में संजोये हुए है।<sup>2</sup> वर्षों तक चौहान राजवंश के शासन के दौरान कई इमारतों व धार्मिक स्थालों का निर्माण हुआ जो आज भी मौजूद है।

**मैनपुरी का किला :** दिल्ली के अन्तिम चौहान वंशी शासक पृथ्वीराज के पतन के उपरान्त बहुत से चौहान मैनपुरी जनपद स्थित भौगांव के निकट आकर बस गये।<sup>3</sup> इसी वंश के राजा वीरसिंह ने किला का निर्माण सन् 1391 ई. में कराया था।<sup>4</sup> किन्तु वर्तमान किले का स्थापत्य इतने वर्ष पुराना प्रतीत नहीं होता; सम्भव

है कि राजा वीरसिंह द्वारा निर्मित किले का पुनरुत्थान कराया गया हो क्योंकि मौजूदा किले का स्थापत्य(स्थापना) लगभग 17वीं या 18वीं शताब्दी के आसपास का प्रतीत होता है। अनुमानित है कि ब्रिटिशकालीन किले में छतरीयाँ व झरोखे राजपूत शैली में निर्मित हैं। साथ ही छज्जों में बारीक फूल पत्तियों की सजावट की गई है। किले में लखौरी ईंट का प्रयोग बहुतायत में किया गया है। किले का जो भाग खण्डहर अवस्था में मौजूद है उसमें भी लखौरी ईंट को आसानी से देखा जा सकता है। देश के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (सन् 1857 ई.) में यह किला क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा। जिस कारण यह आज भी ऐतिहासिक महत्व रखता है।

**मैनपुरी का शीतला देवी मंदिर :** इस मंदिर का ऐतिहासिक महत्व है। यह चौहानवंशी राजाओं की कुल देवी हैं जो अब जगदेवी बन गई हैं। इस मंदिर के विषय में जनश्रुति एवं सम्बन्धित दस्तावेजों से जानकारी प्राप्त होती है कि राजा जगतमणी द्वारा माँ शीतला को लाया गया था। राजा जगतमणी प्रतिवर्ष कड़ा मानिकपुर राजस्थान माँ शीतला की पूजा, अर्चना के लिए जाया करते थे। एक दिन अचानक माँ शीतला के सामने खड़े हुए उन्हें आभास हुआ एक आकाशवाणी हुई कि राजन अब जाओ तुम्हें मैनपुरी में ही किले से कुछ दूरी पर में स्वयं मिलूंगी और अब मैनपुरी वासियों की पीड़ा हलूंगी। एकाएक राजा की आँख खुली तो माँ शीतला की प्रतिमा खण्डित हो चुकी थी। फिर वह जब मैनपुरी आये, जहाँ वह उन्हें स्वतः प्रकट हुई मिलीं; वहाँ एक भव्य मंदिर बनवाया गया। आज भी हर वर्ष मंदिर के पास चैत्र कृष्ण अष्टमी से चैत्र शुक्ल अष्टमी तक श्री देवी मेला एवं ग्राम सुधार प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है।<sup>5</sup> लोगों में माँ शीतला के प्रति अपार आस्था है। एक बार इस मंदिर की मूर्तियाँ चोरों द्वारा चुरा ली गई थीं, जो बाद में कहीं भी बिक न सकीं, जिस कारण चोर वापस रख गये।<sup>6</sup> वर्तमान मंदिर परिसर में अनेक मंदिर व मूर्तियों की स्थापना हो चुकी है। प्राचीन कोई भी स्थापत्य वर्तमान में मौजूद नहीं है, इस मंदिर की ऐतिहासिकता इसकी प्राचीनता व राजपरिवार की कुल देवी होने से जगतदेवी की यात्रा तक जुड़ी है।

**टिण्डौली का श्री सिद्धेश्वर महादेव मंदिर :** मैनपुरी से पश्चिम दिशा में लगभग 10 कि.मी. की दूरी पर स्थित ग्राम हिण्डौली जहाँ एक गढ़ी थी, जो आज खण्डहर में तबदील हो चुकी है, किन्तु इस गढ़ी से सम्बन्धित परिवार आज भी है। इस गढ़ी के ही समीप एक मंदिर मौजूद है। यह मंदिर अधिक विशाल तो नहीं किन्तु इसका स्थापत्य व मंदिर के अन्दर मौजूद भित्तिचित्र हमें इसकी ऐतिहासिकता के विषय में सोचने पर विवश कर देते हैं। इस मंदिर की स्थापना का श्रेय राजेन्द्र बहादुर सिंह चौहान के पूर्वज भीषम सिंह जूदेव को दिया जाता है।

सन् 1767 ई. में इस मंदिर के निर्माण में भारतीय मंदिर स्थापत्य कला की प्रमुख नागर शैली का प्रयोग किया गया है।<sup>7</sup> इसकी विशेषता यह है कि प्रवेश करते ही मण्डप होता है गर्भगृह से पहले। इसी प्रकार, इस मंदिर का निर्माण किया गया है।<sup>8</sup> मण्डप का प्रवेश द्वार अलंकरण युक्त दो स्तंभों पर छज्जे युक्त निर्मित है। मंडप से होते हुए गर्भगृह जहाँ सिद्धेश्वर महादेव चारों ओर से नौ देवी देवताओं के बीचों बीच विराजमान हैं। गर्भगृह में महादेव की प्रतिमा से ऊपर शिख की ओर देखने पर अद्भुत चित्रकारी दृष्टिगोचर होती है। मण्डप व गर्भगृह की दीवारों पर चारों ओर विभिन्न रंगों से चित्रण किया गया है, इन चित्रों में नाचते-गाते स्त्री-पुरुष, महाभारत कालीन दृश्य, मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग व नरक की परिकल्पना को बहुत ही सुन्दरता व बारीकी से दीवार पर उकेरा गया है। जो इस स्थापत्य का एक उत्कृष्ट भाग है।

इन चित्रों की कला व रंगों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये चित्रण फस्को कला

या भारतीय भाषा में कहा जाए तो आला गीला कला से काफी समानता रखती है। फेस्को का भारत में पहला उदाहरण अजंता की गुफाओं में मिलता है।<sup>9</sup> आज भी इस तरह के चित्रण सीकर राजस्थान की हवेलियों में देखने को मिलती है। मंदिर का शिखर ऊँचाई की ओर बढ़ता है। शिखर पर चारों ओर प्रतिमायें बनाई गयी हैं। शिखर के शीर्ष पर कमल की आकृति उसके ऊपर आमलक और आमलक के ऊपर बड़ी ही सुन्दरता से कलश को सुशोभित किया गया है। शिखर पर आमलक और कलश की स्थापना नागर शैली की प्रमुख विशेषता है।<sup>10</sup> मंदिर के बाहर विशाल वट वृक्ष, इसकी रमणीयता को बढ़ाता है।<sup>11</sup> श्रावण मास में यहाँ भक्तों की अपार भीड़ उपस्थित रहती है श्रद्धा भाव से लालायित दर्शनार्थ यहाँ आते हैं।

मैनपुरी जनपद के किले के साथ-साथ ये धार्मिक स्थल भी स्वयं में एक ऐतिहासिक महत्व रखते हैं इनके अतीत के पुष्ट व सम्बन्धित इतिहास एवं स्थापत्य इन्हें ऐतिहासिक धरोहर घोषित करता है। धरोहर वही नहीं है जहाँ राजवंशों ने निवास किया हो; हमारे श्रद्धा के केन्द्र रहे मन्दिरों में भी इतिहास व कला छिपी हुई है। यह इमारतें अतीत से वर्तमान तक हजारों वर्षों से इस जनपद के गौरवशाली इतिहास का आज भी साक्षी है।

सन्दर्भ :

1. शुक्ल, प्रो. चिन्तामणी, मैनपुरी का राजनैतिक इतिहास, बेवर प्रकाशन मैनपुरी, 1970 : 10
2. जिला गजेटियर, मैनपुरी, भाग XII : 23
3. चिन्तामणी : 14
4. सक्सेना, नरेन्द्र चन्द्र सैनिक, मैनपुरी जनपद का स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास (1857 से 1942 तक) : 37
5. वही : 26
6. मिश्र, श्रीकृष्ण एडवोकेट, आवास प्रभु के, सरस्वती साधना परिषद मैनपुरी, 2017 : 24
7. डॉ. कौशलेन्द्र सिंह चौहान, गढ़ी के वर्तमान वंशज, साक्षात्कार 22/8/2022
8. सिंघानिया, नितिन, भारतीय कला एवं संस्कृति, McGraw Hill Education (India) Private Limited , 2018: 1.32
9. वही : 2.6
10. Internet, Nagar Shaili, hktbharat.com
11. मिश्र : 39



## जोहारी लोकसंस्कृति, लोकगीत एवं मिरासी परंपरा : एक सांस्कृतिक अध्ययन

○ रवि जोशी

### संक्षिप्ति

लोकगीतों के संदर्भ में यह माना जाता है कि यह गीत रूप में प्रस्फुटित जनसामान्य की ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं जो हमें विरासत में मिली हैं। लोकगीतों की परंपरा बेहद प्राचीन मानी जाती है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति विशेष की न होकर समग्र समाज की सामूहिक धरोहर मानी जाती है। यही कारण है कि इन्हीं लोकगीतों में क्षेत्र का इतिहास, भूगोल, संस्कार, रीति-रिवाज, हास्य-व्यंग्य, सुख-दुख, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा इत्यादि काफी कुछ चीजें समाहित होती हैं। लोकगीत अपने आप में इन सभी चीजों को समेटे हुए होते हैं। लोकगीत समाज को प्रेरणा देने के साथ-साथ प्रोत्साहन, नई दिशा और कई समस्याओं के समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। ऐसा माना जाता है कि लोकगीत हमारी संस्कृति को जिंदा रखते हैं तथा सहज रूप से आम जनमानस से जुड़कर एक नवीन दिशा भी प्रशस्त करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में उत्तराखण्ड के जोहार मुनस्यारी क्षेत्र में लोक संस्कृति एवं लोक गीत गायन, वादन एवं नृत्य की मिरासी परम्परा तथा उसके वर्तमान स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

**बीज शब्द :** मिरासी, शगुन आँखर, जोहार, फाग, गुसाईं

संस्कृति ही किसी क्षेत्र की समृद्ध विरासत को प्रदर्शित करती है। इसीलिए संस्कृति को किसी क्षेत्र के सामाजिक जीवन की सम्यक संरचना माना जाता है। यह समाज के अंतर्निहित गुणों तथा उच्चतम आदर्शों को भी प्रतिबिम्बित करती है। संस्कृति के अंतर्गत रहन-सहन, रीति रिवाज, बोली-भाषा, पर्व-त्योहार, खान-पान, अनुष्ठान, कला-साहित्य आदि को सम्मिलित किया जाता है। लोकगीत और स्थानीय मान्यताएँ तथा परंपराएँ किसी भी क्षेत्र की लोक संस्कृति को समृद्ध एवं सजीव बनाती हैं। यही कारण है कि लोक संस्कृति और स्थानीय निवासियों के मध्य एक अभिन्न संबंध पाया जाता है।

उत्तराखण्ड का सीमांत हिमालयी क्षेत्र जोहार-मुनस्यारी अपनी प्राकृतिक सुंदरता के साथ साथ आध्यात्मिक पवित्रता तथा समृद्ध सांस्कृतिक विरासत हेतु भी जाना जाता है। उत्तराखण्ड के इस सीमांत क्षेत्र से लगातार जारी पलायन का असर यहाँ की लोक गीतों एवं परंपराओं तथा मान्यताओं में भी दिख रहा है। यहाँ के लोकगीतों में दुस्का, चांचरी, छबेली आदि शामिल हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह माना जाता है कि वर्तमान दौर में मनोरंजन के अन्य साधन जैसे टेलीविजन, मोबाइल तथा डिजिटल क्रांति के चलते लोगों के पास समय की कमी है तथा वे मनोरंजन के अन्य साधनों की ओर अधिक प्रवृत्त हो रहे हैं।

उत्तराखंड की संस्कृति में शौका समाज की संस्कृति का हमेशा से ही अपना विशिष्ट स्थान रहा है। सीमांत जनपद पिथौरागढ़ के जोहार मुनस्यारी क्षेत्र में निवास करने वाले शौका समाज की लंबे समय से एक विशिष्ट पहचान रही है। यह पहचान उनके पहनावे, खानपान, लोकगीतों, लोक परंपराओं, मान्यताओं तथा जीवनचर्या में दिखाई देती है।

लोकगीतों के संदर्भ में यह माना जाता है कि यह गीत रूप में प्रस्फुटित जनसामान्य की ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं जो हमें विरासत में मिली हैं। लोकगीतों की परंपरा बेहद प्राचीन मानी जाती है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति विशेष की न होकर समग्र समाज की सामूहिक धरोहर मानी जाती है। यही कारण है कि इन्हीं लोकगीतों में क्षेत्र का इतिहास, भूगोल, संस्कार, रीति-रिवाज, हास्य-व्यंग्य, सुख-दुख, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा इत्यादि काफी कुछ चीजें समाहित होती हैं। लोकगीत अपने आप में इन सभी चीजों को समेटे हुए होते हैं।

लोकगीत समाज को प्रेरणा देने के साथ-साथ प्रोत्साहन, नई दिशा और कई समस्याओं के समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। ऐसा माना जाता है कि लोकगीत हमारी संस्कृति को जिंदा रखते हैं तथा सहज रूप से आम जनमानस से जुड़कर एक नवीन दिशा भी प्रशस्त करते हैं।

लोकगीतों को पूरे समाज की थाती माना जाता है, क्योंकि लोकगीतों का रचनाकार अपना लेखन लोक को समर्पित कर देता है। इसीलिए लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं संरक्षित गीतों को ही लोकगीत कहा जाता है। लोकगीत जनसामान्य में प्रचलित गीत होते हैं, जिनमें लोकमानस की लयात्मक अभिव्यक्ति होती है। लोकगीतों में सहजता और मधुरता होती है। इनमें छंद, अलंकार आदि का चमत्कार नहीं होता है, बल्कि इनमें स्थानीय मिट्टी एवं श्रम तथा सामाजिक जनजीवन की महक होती है।

लोकगीतों के माध्यम से समाज में रहने वाले मनुष्यों के जीवन की कठिनाइयों को दूर कर सकारात्मक ऊर्जा और संघर्षमय जीवन में नवीन उर्जा का संचार होता है।

मुनस्यारी क्षेत्र में सामान्यतया पांच प्रकार के लोकगीत प्रचलित हैं—

- शगुन आँखर
- प्रणय गीत
- आराधना गीत
- ऋतु गीत
- प्रशस्ति गीत

**शगुन आँखर :** मुनस्यारी क्षेत्र में होने वाले विविध शुभ संस्कारों के वक्त शगुन आँखर गाये जाते हैं, इन्हें 'फाग' भी कहा जाता है। ये शगुन आँखर सामान्यतया विवाह संस्कार, जनेऊ संस्कार तथा नामकरण संस्कार में गाये जाते हैं। इसके अंतर्गत क्षेत्रीय महिलाएँ सामूहिक गायन करते हुए शुभ संस्कार वाले परिवार को शुभकामना प्रेषित करती हैं तथा उनके आगामी जीवन हेतु उज्ज्वल भविष्य की उम्मीद करती हैं।

नामकरण संस्कार के समय मुनस्यारी क्षेत्र में गाया जाने वाला लोकगीत इस प्रकार है —

हिटल बैठल बालो, डाना रे डूंगार।  
थाकन लागो बालो, आंगुलि माज।  
आंगुलि सरालो बालो, सरप, मुनली।  
पैतोली सरालो बालो, मवारिसी पोली।

गदुरी सरालो बालो, आडू सी हटेली।  
घुनेली सरालो बालो, नोनी सी लुटनी।  
फिनुली सरालो बालो, थोबी सी मुंगरी।  
जांगुरी सरालो बालो, केला कसी खाम।

लोकगीत किसी क्षेत्र की संस्कृति से आबद्ध संगीतमय अभिव्यक्ति है क्योंकि लोक गीतों के जरिए ही सामाजिक जीवन की अभिव्यक्तियां प्रदर्शित होती हैं। लोकगीत स्वाभाविक रूप से पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से जुड़े हुए होते हैं। लोकगीतों में संवेदना, अभिव्यक्ति और गहन अनुभूति की उद्दीप्त तीव्रता प्रदर्शित होती है। इसीलिए कहा जाता है कि लोकगीत जीवन संस्कृति से इस तरह जुड़े होते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है।

लोक गीतों के माध्यम से लोक संस्कृति मुखरित होती है, क्योंकि लोकगीतों का मुख्य उद्देश्य सामाजिक जीवन को अधिक आनंदमय बनाना है। यह लोकगीतों की विशेषता मानी जाती है कि लोकगीत सीखने के लिए किसी विशेष तालीम के बजाय सहज सुनकर, देखकर, तथा सामान्य अभ्यास से ही सीखा जा सकता है तथा लोकगीत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्वाभाविक रूप से ही हस्तांतरित हो जाते हैं।

मुनस्यारी क्षेत्र में जनेऊ संस्कार के समय गाया जाने वाला लोकगीत इस प्रकार है -

आज क न्यूत, आज क न्यूत,  
खोली क गणेश आज का न्यूत।  
मोरी का नरैण आज का न्यूत,  
थाती का थत्याल आज का न्यूत,  
भूमी क भुम्याल आज का न्यूत।  
आज क न्यूत, आज क न्यूत,  
बरम को च्यालो वेद पढ़लो,  
सूजी को च्यालो घाई-बढ़ाई।

**प्रणय गीत :** उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्र में मेलों एवं शादी-ब्याह के समय शृंगार रस से भरपूर मजाक एवं नोंकझोंक का प्रचलन रहा है। देवर-भाभी एवं साली-भीने के बीच होने वाली यह बातचीत स्वस्थ मनोरंजन करने के साथ-साथ कुछ क्षणों के लिए व्यक्ति को अपना दुःख-दर्द भूलने की भी प्रेरणा देती है।

हिट साली मनु राली चल कौतिक  
आगै क घगिया नैंछ, क्या क कौतिक  
वैं बनिया, वैं मोल्योल चल कौतिक  
आगै क अंगिया नैंछ, क्या क कौतिक  
वैं दरजी, वैं सिलूल चल कौतिक  
हाथै क पौजिया नैंछ, क्या क कौतिक  
वैं सुनार, वैं मोल्योल चल कौतिक

लोकगीत किसी भी क्षेत्र में रहने वाले जनसाधारण के हृदय के सरल एवं स्वाभाविक उद्गार होते हैं जो वास्तविकता के सर्वथा निकट एवं स्थानीय व्यावहारिक जीवन से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। लोकगीतों में स्थानीय सामाजिक जीवन के विविध स्वरूपों के परिदृश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

लोकगीत केवल मांगलिक कार्य अथवा उत्सवधर्मिता तक ही सीमित नहीं होते हैं, बल्कि कई बार इन

लोक गीतों के जरिए समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का संदेश भी दिया जाता है। लोकगीतों में यह क्षमता होती है कि वह समाज में रचनात्मक बदलाव के साथ-साथ जागृति और प्रेरणा के वाहक भी बनते हैं।

**आराधना गीत :** जोहार मुनस्यारी क्षेत्र में स्थानीय देवी देवताओं की स्तुति आराधना गीत गाकर की जाती है। इनमें भूमिया देवता, खोली के गणेश, थाती के थतवाल, मोरी के नरैणा, शिव पार्वती, नंदा देवी, झाली-माली देवी इत्यादि प्रमुख हैं। जोहार मुनस्यारी क्षेत्र में होने वाले मेलों (कौतिक) में नंदा देवी की स्तुति की जाती है तथा सभी क्षेत्रवासियों की मनोकामनाएँ पूर्ण करने की विनती की जाती है।

ताँछि-तुछी कुट्याली क, हांली छ बीन,  
त्वीं देवी की सेवा कौल, वरष-दीन,  
नन्दा क कौतिक हुँछ, वरष-दीन,  
द्वी जौला नँगारा ल्हौल, वरष-दीन,  
द्वी जौला निशान ल्हौल, वरष-दीन,  
देंग ह्वये नन्दा माई, सबों की तरफ,

जोहार-मुनस्यारी क्षेत्र में किसी भी शुभ कार्य को प्रारंभ करने से पूर्व गणेश पूजन करने की रिवायत एक लंबे अरसे से रही है। गणेश आराधना करते हुए आगामी कार्य को सफल करने का आह्वान किया जाता है।

पारी पातल, पातल क्या गाजो  
वें ह्वैलो रीखिलो-बाखीलो  
रीखिलो-बाखीलो, भाँ तेरो ह्वैलो  
वें ह्वैलो मोरी को नरेंग जी।

**ऋतु गीत :** उत्तराखंड का सीमांत जोहार-मुनस्यारी क्षेत्र हिमालयी क्षेत्र होने के कारण प्रचुर वन संपदा तथा समृद्ध जैव विविधता हेतु विश्व विख्यात है। यहाँ की समशीतोष्ण जलवायु तथा हिमालय की मनमोहक छटा वर्षभर पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। शीत ऋतु, वर्षा ऋतु, बसंत ऋतु तथा ग्रीष्म ऋतु यहाँ की प्रमुख ऋतुएँ हैं। इस क्षेत्र में ऋतु गीत बसंत पंचमी के आगमन से वैशाख ऋतु तक गाए जाते हैं। इस क्षेत्र में बसंत ऋतु में मिरासी (नृत्य, गायन एवं वादन से आजीविका चलाने वाले) अपने गायन एवं अभिनय से बसंत ऋतु के आगमन तथा जीवन में उत्साह एवं खुशियों के संचार हेतु शुभकामनाएँ देते हैं। बदले में ये लोग उन्हें भोजन एवं वस्त्रादि आदि देकर उनका धन्यवाद अदा करते हैं तथा उन्हें खुशी खुशी विदा करते हैं,

इछाली फूलली बैंगा बे, कनारी फुलली,  
कनारी फुलली बैंगा बे, पिंगली प्युलडी,  
प्युलडी फुलली बैंगा बे, द्विये भाई-बैंगा।  
चंदा हो सूरीज, द्विये भाई बे बैनुला,  
तनो भाई-बैंगा को डीढ निछ भेटला।  
किना भेंट होली बैंगा बे, पूरब को राज,  
किना भेंट होली बैंगा बे, पश्चिम को राज।

लोकगीतों को सीखने के लिए किसी विशिष्ट शिक्षा, दीक्षा, अभ्यास अथवा साधना की आवश्यकता

नहीं होती, बल्कि ऐसा माना जाता है कि जनसाधारण के मनोरंजन के प्रतीक लोकगीतों की भाषा सरल और सहज एवं हृदयग्राहिणी होती है। सामाजिक जनजीवन की दैनिक क्रियाएँ जैसे पशु चराना, खेतों में निराई गुड़ाई करना, पानी भरना, शादी-ब्याह नामकरण, उत्सव, त्यौहार, प्राकृतिक खेत खलिहान, नदी का प्रवाह, वर्षा, वसंत ऋतु का उल्लास आदि लोकगीतों के उद्गम स्थल हैं। लोकगीतों में जीवन का सहज और नैसर्गिक आनंद अंतर्निहित रहता है।

लोकगीतों को समाज का दर्पण भी माना जाता है क्योंकि लोकगीतों के माध्यम से सामाजिक एवं मानवीय जीवन के विविध पक्षों के विभिन्न भाव, मानवीय संबंध रीति-रिवाज, विश्वास व धारणाएँ, अनुभव, खेती-किसानी आदि परिलक्षित होते हैं। लोकगीतों की यह विशेषता होती है कि इनकी रचना शैली, अभिव्यक्ति तथा प्रदर्शन सामूहिक अनुभूति तथा सामूहिक चेतना का प्रतिबिंब होता है। यही कारण है कि लोकगीत सामाजिक एकजुटता तथा संवाद का सशक्त माध्यम भी बनते हैं।

इसी तरह चैत्र मास में गाया जाने वाला ऋतु गीत तथा लड़की के मायके से आए हुए भिटोली का भी इस क्षेत्र में बेहद महत्व है। इस अवसर पर गाया जाने वाला ऋतु गीत इस प्रकार है,

बैणा बे, येछ गोरी, रेणा-भैणा ऋतु मयाल,  
 बारन मास की छये ऋतु आलो,  
 कौन ऋतु आला मनकी पियार।  
 जेठ म्हेंणा जेठ होली, रंगीलो वैशाख,  
 रंगीलो वैशाख लाड़ो म्हेंणा, योछ चौतोलिया मास,  
 बैणा बे, येछ गोरी, रेणा-भैणा ऋतु मयाल,  
 गैला-मैला पातली, नेवली बासली,  
 बासो-बासो कफू चाड़ो मैतुरिया देश।  
 इजू रे सुणली मेरी, मयाल लगाली,  
 बैणा बे, येछ गोरी, रेणा-भैणा ऋतु मयाल,  
 सालिंग चावल हो गोरी, पाली में भिजुंली,  
 बैणा बे, इजू देश की, बलाई ल्हिजुंली।  
 अखौड़ की हांगी में, घुघूती घुरौंछी,  
 बैणा बे, घुघूती घुरौंछी, मुनली दुलौन्छी।

ऋतु गीतों के माध्यम से लोक गायक ऋतु गीत गाकर चैत्र एवं बसंत ऋतु का स्वागत करते हैं तथा भविष्य हेतु लोगों को शुभकामनाएँ देते हैं। मुनस्यारी क्षेत्र के प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता श्री सुरेन्द्र सिंह पंवार कहते हैं कि “वर्तमान दौर में संचार साधनों के विकास तथा लोकगीतों की परंपरागत विधाओं के संरक्षण की ओर कम ध्यान दिए जाने के कारण धीरे-धीरे मिरासियों की संख्या बेहद सीमित होती जा रही है। यही कारण है कि ऋतु गीत गाने की यह परंपरा इस जोहार मुनस्यारी क्षेत्र में अब धीरे-धीरे समाप्ति की ओर अग्रसर है।”

इसका प्रमुख कारण है कि लोक गीत गायन से इन मिरासियों का गुजर-बसर बड़ी मुश्किल से ही हो पाता है। मुनस्यारी क्षेत्र के प्रसिद्ध मिरासी श्री गुलाब राम बताते हैं कि “हम लोग पढ़े-लिखे नहीं थे, किंतु हमारे समय में लोकगीत गायन से भी जीवन गुजर बसर आसानी से हो जाता था, परंतु अब समय परिवर्तन के कारण हमें यथोचित महत्व एवं प्रश्रय नहीं मिल पा रहा है, सरकारों का ध्यान भी इन लोक

विधाओं के संरक्षण की ओर नहीं है, जिस कारण हम स्वयं अपनी नई पीढ़ी को यह विधा नहीं सिखाना चाहते। हम चाहते हैं कि हमारी नई पीढ़ी पढ़-लिखकर रोजगार तथा नवीन काम धंधों की तरफ ध्यान दे।”<sup>2</sup>

**प्रशस्ति गीत :** गोरखा शासन के दौरान मुनस्यारी क्षेत्र से अत्यधिक कर वसूले जाने के कारण स्थानीय निवासियों को होने वाली कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए मिलम निवासी विजय सिंह रावत ने गोरखा सरकार के दरबार में उपस्थित होकर स्थानीय निवासियों की कठिनाइयों से गोरखा शासन को अवगत कराया तथा प्रतिवर्ष वसूले जाने वाली कर राशि को 16000 रुपये से कम करके 7800 रुपये प्रति वर्ष करवाने में सफलता प्राप्त की।<sup>3</sup> इसी कारण विजय सिंह रावत की प्रशस्ति में यह गीत आज भी गाया जाता है—

हो लेखन चितेर,  
मसौदा जमोन लायो, रौता बिजैसिंह जलथ भीतेर।  
हो गाय का गोबर,  
मसौदा जमोन लायो, रौता बिजैसिंह रकम उपर।  
खेली हाल कुणी,  
बैठक बुलाण लायो, बेरू बोठ मुणी।  
काकडे की खुटी,  
जोगू रे जसपाल बूड़ा, मंतर की बूटी।  
तामा की भोकरी,  
भल रसेऊ बणे देलो, यमुवा होकरी।

लोकगीतों को संस्कृति की बेहद मूल्यवान निधि समझा जाता है; क्योंकि लोकगीतों की विशिष्ट परम्पराओं के माध्यम से समाज अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक गुणों को स्थायित्व तथा विशिष्टता प्रदान करता है। मुनस्यारी क्षेत्र के विरिष्ठ संस्कृतिकर्मी श्री त्रिलोक राम लोकगीतों की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि “किसी क्षेत्र की सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था को बनाये रखने में भी लोक गीतों का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है, क्योंकि लोकगीतों के माध्यम से जहाँ एक ओर समाज के विविध क्रियाकलापों, सामूहिक गतिविधियों, चेतना, जीवन की कठिनाइयों, हर्ष, उल्लास, वियोग तथा संस्कारों की झलक मिलती है, वहीं लोकगीतों के माध्यम से ही सामान्य जनमानस अपने जीवन की विषमताओं, वियोग तथा दुःखों को अभिव्यक्त कर उनसे मुक्ति की कामना करते हैं तथा भावी जीवन हेतु विशेष उर्जा एवं उत्साह भी प्राप्त करते हैं।”<sup>4</sup>

छिनकेप पाँगती का नाम एक बहादुर योद्धा के रूप में समूचे जोहार क्षेत्र में लिया जाता है। इन्होंने 18 वीं शताब्दी के मध्य में जोहार क्षेत्र के व्यापारियों से कराए जाने वाले बेगार प्रथा को समाप्त करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था तथा बेहद साहस का परिचय देते हुए लहासा की ओर प्रस्थान किया था।

छिनकेप पैदा भैछ, मुलुक जोहार,  
आपनी उमर माज, करछ सुधार।  
उपकारी पराक्रमी मोती हीरा लाल,  
जोहार को सिरताज तलवार ढाल।  
बूड़ा छिउलिया पाँगती को बहादुर नाती,  
त्वील करो टुल काम हिमाचल भाँती।  
मिलम्वाल छिनकेप पाँगती ठाकुर,

सौदागर तिब्बत को वीर बहादुर।

मिरासी गायन, वादन तथा नृत्य परम्परा॥

गायन, वादन तथा नृत्य-संगीत जीवन की खानगी तथा संचार समझे जाते हैं। यह उस समाज के वैशिष्ट्य तथा सांस्कृतिक प्रारूप को प्रतिध्वनित करते हैं। अपनी गायन, वादन तथा नृत्य से अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग तथा आम जनमानस का मनोरंजन एवं उत्साहवर्धन करने वाले ये लोक संस्कृति संवाहक 'मिरासी' कहलाते हैं। उत्तराखंड की पर्वतीय लोक संस्कृति का अनूठा वैशिष्ट्य इस क्षेत्र में लंबे समय से प्रचलित रही मिरासी लोक गायन परंपरा में दिखाई देता रहा है।

जनपद पिथौरागढ़ के मुनस्यारी विकासखंड के जैती, गुमसैन, बूंगा, बरम, गोल्मा (मदकोट), छोरीबगड़, बांसबगड़, तेजम, शामाधूरा, रैंछाल, रंवाड़ी, टिमटिया, नाचनी आदि गावों में लगभग 500 परिवार आज भी मिरासी जाति के रहते हैं। मिरासी जातियों को नृत्य, गायन एवं वादन की कला में निपुण होने के साथ-साथ गीत रचने, स्वांग करने, देवी देवताओं से जुड़े कथानकों, प्रसंगों एवं समसामयिक घटनाओं से जुड़े प्रसंगों को अपने सहजबोध से गीताकार कर अभिनय एवं वादन के साथ प्रस्तुति में माहिर माना जाता है। मिरासियों के गीतों की मिठास एवं आंचलिकता, वादन तथा हास परिहास पूर्ण अभिनय की मधुरता हर किसी दर्शक को बेहद आनंदित करती है तथा वे मिरासियों की इन कलाओं की तारीफ करते हैं। मिरासी गायन, वादन एवं नृत्य परंपरा के अंतर्गत मुख्यतः निम्न नृत्य शामिल हैं-

- थाली नृत्य : ढोलक बजाकर गीत गाना तथा थालियों के साथ विभिन्न मुद्राओं में नृत्य करना।
- चैती पसारा : चैत के महीने में अपने गुसाई (संरक्षक) के घरों के आगे गाना तथा नृत्य करना।
- कुलाचार : अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग के पूर्वजों की प्रशंसा करते हुए गाते हुए नृत्य प्रस्तुत करना।
- शिव पार्वती नृत्य : शिव पार्वती के कथानक के साथ पार्वती के जन्म, विवाह, पुत्र उत्पत्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन करते हुए गायन, वादन एवं नृत्य करना।
- नट-नटी नृत्य : स्थानीय लोगों के मनोरंजन हेतु प्रहसन एवं स्वांग युक्त नृत्य एवं गायन।
- दीपक नृत्य : देवी देवताओं की स्तुति हेतु थाल में दीपक सजाकर नृत्य करना।
- सुई नृत्य : गायन एवं नृत्य के अंत में नर्तकी द्वारा अपने होठों से सुई उठाकर अद्भुत कला का प्रदर्शन करना।

मुनस्यारी क्षेत्र के प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता एवं वरिष्ठ अधिवक्ता श्री डी. एस. बोरा बताते हैं कि “गांव के संपन्न लोग फसल का एक अति सूक्ष्म हिस्सा मिरासियों हेतु अलग रख देते थे, मिरासी लोग फसल तैयार होने पर गांव-गांव जाते थे तथा गांव के लोग मिरासियों हेतु रखे गए फसल का अति सूक्ष्म हिस्सा खुशी-खुशी मिरासियों को दे देते थे।”<sup>5</sup>

मुनस्यारी क्षेत्र के प्रसिद्ध मिरासी श्री गुलाब राम बताते हैं कि “मिरासी लोग अपने-अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग के यहाँ फसलें तैयार होते समय, जौलजीबी एवं बागेश्वर मेलों में तथा मंदिरों में होने वाले देवी-देवता पूजन में एवं शादी-ब्याह, नामकरण आदि शुभ अवसरों पर जाते थे तथा अपनी नृत्य कला, अभिनय एवं गायन तथा वादन कला के द्वारा अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग एवं स्थानीय जनता को प्रसन्न करते थे एवं उनका स्वस्थ मनोरंजन भी करते थे, बदले में गुसाई (संरक्षक) वर्ग एवं स्थानीय जनता द्वारा सामर्थ्यानुसार दान-दक्षिणा, राशन, नकद धनराशि, गुड़, खघजा इत्यादि देकर मिरासियों को खुशी-खुशी विदा

किया जाता था।”<sup>6</sup>

मिरासी नृत्य, गायन एवं वादन परंपरा अंग्रेजी शासन काल में भी तथा स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उदारीकरण का दौर प्रारंभ होने से पूर्व तक लगातार फल-फूल रही थी। भारत-तिब्बत व्यापार में भी मिरासी लोग अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग के मनोरंजन एवं उत्साहवर्द्धन हेतु जाते थे तथा अपने नृत्य, गायन एवं वादन से अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग को उन्नति की शुभकामनाएँ प्रेषित करते थे।

मुनस्यारी के क्षेत्र पंचायत सदस्य श्री ईश्वर सिंह बताते हैं कि “उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ होने का दुष्परिणाम इस क्षेत्र में सदियों से प्रचलित नृत्य, गायन एवं वादन की स्वस्थ परंपरा ‘मिरासी’ पर भी व्यापक रूप से दिखाई देता है। उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ होने से पूर्व तक इस क्षेत्र में मनोरंजन, उत्साहवर्धन एवं संचार के साधनों का सर्वथा अभाव था। लोग अधिकांश कार्य मैनुअली करते थे। अंग्रेजी शासनकाल में भी टीवी, रेडियो आदि की पहुँच बेहद सीमित थी। लोग आपसी मेल-मिलाप, सहकारिता तथा सामूहिक प्रतिभागिता से ही अधिकांश कार्यों को संपन्न करते थे तथा स्वस्थ मनोरंजन, उत्साहवर्धन एवं मेल-मिलाप हेतु मेलों, पर्व और त्योहारों तथा इस तरह की नृत्य, गायन एवं वादन वाली ‘मिरासी’ परंपरा पर ही पूर्णतया निर्भर थे।”

उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ होने से उपभोक्तावाद का नया दौर शुरू हुआ तथा टीवी, अखबार एवं अन्य संचार माध्यम देखते ही देखते प्रत्येक घर की आवश्यकता बन गये। मोबाइल की बढ़ती लोकप्रियता, सड़क सुविधा के विस्तार तथा खेती-बाड़ी एवं पशुपालन में लोगों की घटती अभिरुचि की वजह से गायन, नृत्य एवं वादन की मिरासी परंपरा पर बेहद प्रतिकूल असर पड़ा। घर-घर टीवी पहुँच जाने के कारण लोगों को अब मनोरंजन हेतु मिरासी गायन परंपरा की आवश्यकता नहीं रह गई थी।

विकास खण्ड मुनस्यारी की ग्राम पंचायत बूंगा के ग्राम प्रधान श्री सुरेन्द्र सिंह बृजवाल बताते हैं कि “प्रारंभ में मुनस्यारी क्षेत्र से होने वाले भारत-तिब्बत व्यापार के बंद होने से स्थानीय निवासियों का बहिर्गमन शुरू हुआ। नए रोजगार की तलाश तथा शिक्षा हेतु बेहतर अवसरों की खोज ने अपनी माटी से जुड़ाव सीमित कर दिया तथा मिरासी गायन, वादन एवं नृत्य परंपरा धीरे-धीरे सिमटने लगी।”<sup>8</sup> अब गुसाई (संरक्षक) वर्ग भी धीरे-धीरे प्रोफेशनल होने लगे, क्योंकि अब उनको मिरासियों की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई थी। क्योंकि मिरासी गायन परंपरा, जो कि सामूहिक सहभागिता तथा स्वस्थ मनोरंजन की परंपरा थी, अब एक महंगा शौक लगने लगी। धीरे-धीरे गुसाई (संरक्षक) वर्ग ने मिरासियों को कम महत्व देना तथा अंततः उनकी उपेक्षा करना भी प्रारंभ कर दिया।

नृत्य, वादन तथा गायन की मिरासी परंपरा से जुड़े लोग पढ़े लिखे भी नहीं थे, उनकी आजीविका के स्रोत बेहद सीमित थे, खेती योग्य जमीन तथा पशुपालन भी उनके पास बेहद कम थे। यह लोग गुसाई (संरक्षक) वर्ग द्वारा दिए जाने वाले दान इत्यादि पर ही पूर्णतया निर्भर थे।

नब्बे के दशक के बाद मिरासी गायन, नृत्य एवं वादन परंपरा से जुड़े लोगों के क्रियाकलापों में कमी आनी प्रारंभ हो गई। धीरे-धीरे इन मिरासियों का अपने परम्परागत पेशे से मोहभंग होने लगा तथा ये अपनी गुजर-बसर हेतु राजमिस्त्री, मजदूरी, बढ़ई, रंग-वार्निश इत्यादि कार्यों में संलग्न होने लगे। आज भी अधिकांश मिरासी वर्ग बेहद अभाव में बड़ी कठिनाई से ही अपना जीवन यापन कर पा रहे हैं।

मिरासी परिवारों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने पर उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्र में पूर्व में प्रभुत्वशाली रही कई जातियों, जनजातियों की सामाजिक चतुराई तथा उनके द्वारा की गई उपेक्षा

की भी पुष्टि होती है। प्रारंभ में प्रभुत्वशाली सामाजिक वर्गों/जातियों/जनजातियों द्वारा अपने मनोरंजन एवं अन्य आवश्यकताओं के कारण मिरासी जातियों को खूब बढ़ावा दिया गया। मिरासी लोग भी अपने गुसाई (संरक्षक) को ही अपना सब कुछ समझ कर उनकी स्तुति/मनोरंजन में ही लगे रहे। मिरासी जातियों के दीर्घकालीन विकास एवं संरक्षण के बारे में किसी ने भी नहीं सोचा तथा धीरे-धीरे जब मनोरंजन एवं अन्य जरूरतों हेतु इन पर निर्भरता कम हुई तो मिरासी जातियों की उपेक्षा की जाने लगी। उनका उपहास बनाया जाने लगा तथा उनसे कहा जाने लगा कि “हमेशा मांगता रहता है, मांग कर ही क्यों खाता है, कर्म कर और अपनी आजीविका चला, हम पर निर्भर मत रहा।”

मिरासी जातियों के लोग स्वयं को गन्धर्वों से जोड़ते हैं तथा शिव का वंशज मानते हैं। मिरासी जातियों को अनुसूचित जाति की एक उपजाति माना जाता है। मिरासी जातियों के पास जमीनें भी नहीं थीं, मिरासियों को प्रारंभ से ही उपेक्षित रखते हुए गांव के सबसे अनुपजाऊ, पथरीली एवं एकदम किनारे की जमीनों के कुछ टुकड़ों पर बसने की इजाजत दी गई ताकि वे मुख्यधारा से दूर बने रहें। उनके आसपास पेयजल एवं खेती तथा पशुपालन के स्रोत भी बेहद सीमित थे। ये लोग पढ़े-लिखे भी नहीं थे तथा अपनी आजीविका उपार्जन हेतु पूरी तरह से अपने गुसाई (संरक्षक) वर्ग एवं स्थानीय जनता पर ही निर्भर थे।

वर्तमान दौर में मिरासी नृत्य, गायन तथा वादन का क्षेत्र सिमटने के कारण इनके समक्ष आजीविका का गंभीर संकट उत्पन्न हो गया है। ये लोग आज भी बेहद कच्चे तथा झोपड़ीनुमा मकानों में ही रहते हैं।

यू तो सरकारों द्वारा लोक कलाकारों के पेंशन हेतु कई योजनाएँ चलाई जा रही हैं, किंतु व्यावहारिक स्थिति यह है कि गुलाब राम जैसे उत्कृष्ट मिरासी कलाकार को आज तक ऐसी कोई भी पेंशन नहीं मिल पाई है, जबकि उनकी उम्र 73 वर्ष है तथा इस उम्र में भी वे मेहनत-मजदूरी कर तथा जी-तोड़ परिश्रम कर बेहद विपरीत परिस्थितियों में ही अपना जीवन यापन कर रहे हैं।

संदर्भ :

1. साक्षात्कार : श्री सुरेन्द्र सिंह पंवार, सामाजिक कार्यकर्ता एवं सचिव मोनाल स्वयंसेवी संस्था, मुनस्यारी, दिनांक : 27 जून 2022
2. साक्षात्कार : श्री गुलाब राम मिरासी, निवासी ग्राम बूंगा, विकासखंड मुनस्यारी, दिनांक 21 मई 2022
3. पांगती, एस. एस.: जोहार के स्वर, लोक कला केंद्र, दरकोट, 1986 : 43
4. साक्षात्कार : श्री त्रिलोक राम, वरिष्ठ संस्कृतिकर्मी, निवासी ग्राम सरमोली, विकासखंड मुनस्यारी, दिनांक 15 अप्रैल, 2022
5. साक्षात्कार : श्री डी. एस. बोरा, एडवोकेट एवं नोटरी पब्लिक, निवासी ग्राम बूंगा, विकासखंड मुनस्यारी, दिनांक : 10 मई 2022
6. साक्षात्कार : श्री गुलाब राम मिरासी, निवासी ग्राम बूंगा, विकासखंड मुनस्यारी, दिनांक 21 मई, 2022
7. साक्षात्कार : श्री ईश्वर सिंह, क्षेत्र पंचायत सदस्य, (विकास खण्ड मुनस्यारी), दिनांक : 20 जून, 2022
8. साक्षात्कार : श्री सुरेन्द्र सिंह बृजवाल, ग्राम प्रधान, ग्राम पंचायत, बूंगा ( विकास खण्ड मुनस्यारी), दिनांक : 13 जून 2022



## राज्यपाल 'दिल्ली का दूत' : एक विश्लेषण

○ चन्द्रभान

### संक्षिप्ति

भारतीय संविधान का भाग-VI राज्यों से संबंधित है जिसमें अनुच्छेद 152 से 237 तक राज्यों के लिए विभिन्न प्रावधान किए गए हैं। भारतीय राजव्यवस्था में राज्यपाल का पद संघीय ढांचे का सबसे महत्वपूर्ण पद है। संविधान निर्माताओं ने इसको देश की एकता अखंडता और आपात स्थितियों में केंद्रीय शासन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए किया था।<sup>1</sup> बीते दिनों एक सम्मेलन में महामहिम रामनाथ कोविंद ने अपने कथन में कहा कि, “राज्यपाल राज्य का संरक्षक और मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है और देश के संघात्मक ढांचे में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।” राज्यपाल के कार्य व्यवहार पर नजर डालें तो पाते हैं कि यह हमेशा विवाद का विषय रहा है, कभी कम तो कभी ज्यादा। इसकी शुरुआत 1959 से होती है जब तत्कालीन केरल की सरकार को राजनीतिक मतभेद के कारण बर्खास्त कर दिया गया। तभी से इसकी छवि ‘दिल्ली के दूत’ के रूप में रहा। वर्तमान में एनडीए सरकार के दौर में राज्यपाल के कार्य व्यवहार पुनः चर्चा के विषय बने हैं। जिसमें कर्नाटक, गोवा, उत्तराखंड, मध्य प्रदेश, आसाम, और महाराष्ट्र के राज्यपाल भगत सिंह कोश्यारी प्रमुख हैं। महाराष्ट्र में मुख्यमंत्री द्वारा ली गई शपथ और बहुमत सिद्ध करने से पूर्व स्थिति के पूरे घटनाक्रम में राजभवन विवाद का केंद्र बना रहा। अंततः इस समय महा आघाड़ी गठबंधन की सरकार को हटाकर बीजेपी और शिवसेना के बागी विधायकों के गठबंधन की सरकार है। आज राज्यपाल के पद का इस्तेमाल केंद्रीय सत्ता के द्वारा एक ‘राजनीतिक टूल’ के रूप में, राजनीतिक दुरुपयोग के लिए किया जाता है, जिसकी जड़ में सबसे ज्यादा प्रांतों में विरोधी दल की सरकारें हैं। राज्यपालों के द्वारा प्रांतीय सरकारों पर निगरानी केंद्रीय सरकार के इशारे पर किया जा रहा है। गौरतलब है कि लोकतंत्र के सुचारू संचालन में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। राज्यपाल का पद केंद्र और राज्यों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में है जो देश की संघीय व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से चलाने में मदद करता है। यह बात सच है कि राज्यपाल का पद एक स्वतंत्र संवैधानिक पद है, राज्यपाल न तो केंद्र सरकार के अधीनस्थ है और ना उसका कार्यालय केंद्र सरकार का कार्यालय है।

**बीज शब्द :** औपचारिक प्रधान, संघीय ढांचा, आचार संहिता, विवेकाधीन शक्तियां, लोकतांत्रिक व्यवस्था, आपातकाल, सत्रावसान।

संसदीय परंपरा के अनुसार दो तरह की कार्यपालिका होती है। औपचारिक कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। केंद्र की तरह वही व्यवस्था राज्यों में अपनाई गई है। वहाँ पर राज्य का प्रधान राज्यपाल

कहलाता है। ब्रिटिशकाल में उसे गवर्नर कहा जाता था। वह नाम मात्र का होता है और उसकी शक्तियों का प्रयोग मुख्यमंत्री तथा उसका मंत्रिमंडल करता है।

**राज्यपाल की नियुक्ति :** अनुच्छेद-155 के तहत कहा गया है कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान हैं इसलिए वास्तविक रूप से राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार प्रधानमंत्री के हाथ में है। संविधान सभा में राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में अनेक सुझाव दिए गए थे। इसमें चार प्रमुख थे<sup>2</sup>

1. वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन।
2. राज्य विधानमंडल के दोनों सदनों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचन।
3. निम्न सदन द्वारा चार नामों का सुझाव जिसमें राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों का चयन।
4. राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति।

उपरोक्त चार सुझावों में से तीन को अस्वीकार कर दिया गया; क्योंकि इससे अधिकारों के प्रयोग को लेकर दोनों में संघर्ष हो सकता था। दो सत्ताएँ एक साथ जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आने पर सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकती हैं। राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रधान था। उसको निर्वाचन संबंधित दुष्परिणामों से बचाया जाना था। इसके साथ भारतीय संविधान में संसदीय परंपरा को अपनाया गया था। इसके अलावा शक्तिशाली केंद्र की स्थापना के लिए राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति कर संघ सरकार राज्य सरकारों पर नियंत्रण रख सकती है। देश की आंतरिक समस्याएँ जैसे प्रांतीयता, संप्रदायवाद, आर्थिक संकट आदि की स्थिति में केंद्र की स्थिति को सर्वमान्य रखना था। आपातकालीन स्थितियों में राज्यपाल मुख्य कार्यपालक बन जाता है।<sup>3</sup> इस प्रकार यह 'दिल्ली का दूत' बनकर कार्य करता है। बाद में राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कुछ परंपराओं का विकास किया गया है। जैसे राज्यपाल किसी अन्य राज्य का निवासी हो, वह वरिष्ठ राजनीतिज्ञ, लोक सेवक, विद्वान या गणमान्य व्यक्ति हो, हारे हुए प्रत्याशियों को राजनीतिक उपहार के रूप में राज्यपाल के पद पर नियुक्ति किया जाना आज की एक गलत परंपरा है।

**योग्यताएँ :** संविधान के अनुच्छेद 157 और 158 में उसकी आवश्यक पात्रता निर्धारित की गयी है। जैसे, वह भारत का नागरिक हो, वह 35 वर्ष की आयु पूरी करता हो, राज्यपाल को संसद या किसी विधानमंडल का सदस्य नहीं होना चाहिए। अगर वह है तो उसकी नियुक्ति के दिन से उसकी वह सदस्यता समाप्त मानी जाएगी, वह संघ या राज्य के अधीन किसी लाभ के पद पर ना हो।

**वेतन भत्ते :** राज्यपाल को तीन लाख पचास रुपए मासिक वेतन और भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। उसे आवास और कई प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं।

**कार्यकाल :** उसकी नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती है लेकिन वह स्वयं इसके पहले राष्ट्रपति को संबोधित करके त्यागपत्र दे सकता है। इसके साथ प्रधानमंत्री की संस्तुति पर राष्ट्रपति किसी भी समय उसको हटा सकता है और उसके स्थान पर किसी अन्य को राज्यपाल नियुक्त कर सकता है।

**शपथ :** वह उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के समक्ष शपथ प्रतिज्ञान लेता है। उसकी अनुपस्थिति में सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेता है। अनुच्छेद 160 के अनुसार राज्यपाल के अनुपस्थिति में मुख्य न्यायाधीश राज्यपाल की भूमिका का निर्वहन करेगा या राष्ट्रपति जैसा उचित समझेगा वैसी व्यवस्था करेगा।

**राज्यपाल की शक्तियाँ :** राज्यपाल की शक्तियाँ निम्न हैं।

**1. विधायी शक्तियाँ :**

राज्यपाल प्रांतीय विधायिका के अंग के रूप में कार्य करता है। वह विधायिका की अधिसूचना जारी होने से लेकर भंग होने तक वह विभिन्न कार्यों को संपन्न करता है। वह राज्य विधानमंडल का सत्र आहूत करता है, लेकिन किसी सत्र की अंतिम बैठक तथा दूसरे सत्र की पहली बैठक के बीच छः महीने से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिए। इसके साथ वह सदन की बैठक स्थगित करना, सदन भंग करना, सदनों को समय-समय पर संदेश भेजना, बजट प्रस्तावित करना (अनुच्छेद 202), वित्त विधेयकों को प्रस्तावित करना (अनुच्छेद 207), अध्यादेश संबंधित शक्तियाँ, प्रांतीय विधान मंडलों द्वारा पारित विधेयकों को स्वीकृति प्रदान करना, राज्य विधानसभा द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर लेना।<sup>4</sup> राज्य विधान मंडल के एक या दोनों सदनों को संबोधित करता है। वह दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है। इसके अलावा वह निर्वाचन आयोग के मंत्रणा पर किसी सदन के लिए सदस्य की योग्यता से संबंधित प्रश्नों पर परामर्श देता है। वह राज्य विधान मंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को यदि वह धन विधेयक नहीं है तो पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। लेकिन यदि उसी रूप या उसमें कुछ संशोधनों के साथ विधानमंडल जब वह बिल पुनः पारित कर देता है, तो राज्यपाल उस पर स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य है।

**2. कार्यपालक अधिकार :** राज्य की कार्यकारी शक्तियाँ राज्यपाल में निहित हैं, जिन्हें वह स्वयं या अपने अधीनस्थों के द्वारा प्रयुक्त करता है (अनुच्छेद 154)। प्रांत के सभी कार्यपालक आदेश और आज्ञाएँ राज्यपाल के हस्ताक्षर से निर्गत होता है। वह मुख्यमंत्री की नियुक्ति तथा मुख्यमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। वह राज्य में महाधिवक्ता की नियुक्ति, प्रांतीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। राज्यपाल से न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में राष्ट्रपति परामर्श लेता है (अनुच्छेद 370)। संविधान के अनुच्छेद 333 के अनुसार वह राज्य विधानसभा के निम्न सदन में आंग्ल भारतीय समुदाय के सदस्यों को नाम निर्दिष्ट कर सकता है।<sup>5</sup> यदि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। इसके अलावा यदि राज्य में विधान परिषद (उच्च सदन) है तो विज्ञान, कला, साहित्य, शिक्षा, समाज सेवा आदि क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को मनोनीत कर सकता है। राज्यपाल की कार्यकारी शक्तियाँ राज्य सूची के तहत थी और समवर्ती सूची के तहत वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए अपने इस अधिकार का प्रयोग करता है। आपातकाल के दौरान राज्यपाल मुख्य कार्यपालक के रूप में व्यवहार करता है।

**3. न्यायिक शक्तियाँ :** राज्यपाल जिला न्यायाधीशों और अन्य न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति पदोन्नति आदि के मामले में निर्णय लेता है। अनुच्छेद 161 के तहत यह प्रावधान है कि राज्यपाल न्यायालय द्वारा दंडित किए गए किसी व्यक्ति को क्षमादान दे सकता है, उसकी सजा कम कर सकता है अथवा उसे बदल सकता है, विशेषकर अधिकार राज्य के कार्यकारी अधिकारों के संबंध में हो। इस संबंध में कमांडर नानावती का मामला विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें मुंबई के राज्यपाल ने अपील का निपटारा होने तक उच्च न्यायालय के दंड को स्थगित कर दिया था। इस कदम पर बड़ा विवाद हुआ। लेकिन उच्च न्यायालय ने इसे वैधानिक कदम बताया। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी इन शक्तियों का प्रयोग मुकदमे के पहले बीच में और बाद में कर सकता है।

4. **वित्तीय शक्तियाँ** : राज्यपाल राज्य की संचित निधि का प्रमुख होता है। इसकी अनुमति से ही कोई धन विधेयक विधानसभा में प्रस्तुत किया जा सकता है। वह प्रतिवर्ष राज्य के वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा बजट के रूप में पारित कराता है। उसकी अनुमति से ही किसी अनुदान की मांग को पूरा या किसी विशेष मांग को स्वीकार किया जाता है। वही राज्य की संचित निधि से आकस्मिक व्यय की अनुमति प्रदान करता है। वित्तीय मामलों में किसी भी प्रकार का संशोधन राज्यपाल की अनुमति के बिना संभव नहीं है।

5. **स्वविवेक शक्तियाँ** : राज्यपाल को अनुच्छेद 239 (2) के अंतर्गत प्राप्त विशेषाधिकार संविधान की छठवीं अनुसूची के तहत असम के राज्यपाल को प्राप्त विशेषाधिकार तथा उसको प्राप्त स्वविवेक शक्तियाँ उसे राष्ट्रपति से भी मजबूत स्थित प्रदान करती हैं। वह स्वविवेक शक्तियों में विधानसभा भंग करना मुख्यमंत्री की नियुक्ति करना मंत्रिपरिषद को भंग करना; अनुच्छेद 356 के तहत राज्य सरकार के संवैधानिक आचरण ना करने पर अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजना, विधानसभाओं द्वारा पारित विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षित करना, किसी गैर धन विधेयक को पुनः विचार के लिए सदन को लौटाना और अध्यादेश संबंधी अधिकारों का निश्चित रूप से अलग-अलग राज्यपालों ने अलग-अलग उपयोग किया है।<sup>6</sup>

### **राज्यपाल के कार्य व्यवहार पर विवाद :**

राज्यपाल से संबंधित विवाद की शुरुआत 1959 से मानी जाती है जब केरल के तत्कालीन मुख्यमंत्री को राज्यपाल द्वारा राजनीतिक विवाद के कारण बर्खास्त कर दिया। इस विवाद की शुरुआत 1967 में उत्तरी राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के उभरने के बाद सबसे खराब रूप धारण कर लिया।

राज्यपाल के कार्य व्यवहार में मुख्यतः उसकी स्वविवेक शक्तियाँ ज्यादा विवादित रही हैं; जैसे,

1. मुख्यमंत्री की नियुक्ति और उसे सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित करना।
2. सबसे बड़े दल या सबसे बड़े ब्लॉक को आमंत्रित करने से संबंधित।
3. सदन को बुलाने से संबंधित विवाद।
4. सत्रावसान करने से संबंधित विवाद।
5. मंत्रिमंडल को भंग करने से संबंधित विवाद : केरल में एम.एस. नम्बोदरी सरकार, 1984 में कश्मीर की फारूक अब्दुल्ला सरकार, एन.टी. रामा राव सरकार, 1990 में गोवा के मुख्यमंत्री डिसूजा को हटाकर रवि नायक की सरकार, उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह को हटाकर जगदंबिका पाल को रोमेश भंडारी ने नियुक्त कर दिया था।
6. अनुच्छेद 356 के तहत रिपोर्ट भेजने पर राज्यपाल ने केंद्र सरकार के मंत्रियों के अनुसार कार्य किया।<sup>7</sup>
7. केंद्र सरकार ने भी राज्यपालों की नियुक्ति कार्यकाल और हटाए जाने तक को भी विवादित विषय बनाया है। पहले राज्यपालों को स्थापित करने की परंपरा नहीं थी। सर्वप्रथम धनवीर को पश्चिम बंगाल की ओर स्थानांतरित किया गया। इसने भी विवाद को जन्म दिया। राज्यपालों की नियुक्ति ज्यादातर राजनीतिक कारणों से हुई है। उसमें उसकी योग्यता को नहीं रखा गया है।

न्यायपालिका के कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों ने राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों को आकार दिया। 11 मार्च 1994 को एस.आर. बोम्मई बनाम भारत सरकार के ऐतिहासिक फैसले में केंद्र द्वारा राज्य सरकारों को भंग करने पर सख्त अंकुश लगाता है। मालूम हो कि इस प्रकरण में कर्नाटक के मुख्यमंत्री एस.आर. बोम्मई

के फोन टैपिंग मामले में फंसने के बाद तत्कालीन राज्यपाल ने उनकी सरकार को बर्खास्त कर दिया था। सर्वोच्च न्यायालय ने केंद्र सरकार के द्वारा अनुच्छेद 356 के व्यापक दुरुपयोग पर विराम लगाते हुए कहा कि, “किसी भी राज्य सरकार के बहुमत का फैसला राज भवन की जगह विधानमंडल में होना चाहिए। राष्ट्रपति शासन लगाने से पहले राज्य सरकार को शक्ति परीक्षण का मौका देना होगा।”<sup>8</sup>

वर्ष 2006 में रामेश्वर प्रसाद बनाम भारत सरकार के मामले में 5 सदस्यीय न्यायपीठ में गठबंधन की सरकारों के लिए रास्ता दिखाया, जिसमें कहा गया कि किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में कुछ दल मिलकर सरकार बनाने का दावा पेश कर सकते हैं चाहे वह गठबंधन चुनाव पूर्व हो या चुनाव बाद इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

नबाम रेबिया बनाम उपाध्यक्ष के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 2016 में फैसला दिया कि, ‘राज्यपाल की विवेकपूर्ण शक्तियाँ अनुच्छेद 163 से सीमित हैं। वह कोई कार्यवाही मनमाने या काल्पनिक तरीके से नहीं कर सकता बल्कि उसके लिए तर्क और सद्भावना होनी चाहिए।

इसके अलावा विभिन्न आयोगों और समितियों में भी सिफारिशें दी हैं जिसमें वर्ष 1966 में केंद्र सरकार द्वारा मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया गया जिसमें राज्यपाल की नियुक्ति में निर्दलीय व्यक्ति को चुने जाने की बात कही गई। 1970 में तमिलनाडु सरकार द्वारा गठित राजा मन्नार समिति ने अनुच्छेद 356, 357 के विलोपन की सिफारिश की थी।<sup>9</sup> इसके साथ राज्यपाल की नियुक्ति में राज्यों की सहमति प्राप्त करने की बात कही। 1980 में गठित सरकारिया आयोग ने केंद्र राज्य संबंधों को लेकर लगभग 247 सिफारिश की थी। उसके भाग एक और अध्याय 4 में यह स्पष्ट किया गया था कि राज्यपाल एक संवैधानिक एवं स्वतंत्र पद है, न तो वह केंद्र सरकार के अधीनस्थ है, न ही उसका कार्यालय केंद्र सरकार का कार्यालय है। 1977 में जनता पार्टी की सरकार और 2004 में यूपीए की सरकार ने राज्यपालों की एकमुश्त अवस्था से की थी। 2004 में भाजपा सांसद बीपी सिंहल सुप्रीम कोर्ट में बर्खास्त के खिलाफ जनहित याचिका दायर की थी जिसमें 2010 में संविधान पीठ में कुछ दिशा निर्देश जारी करते हुए कहा कि राज्यपाल की बर्खास्तगी के औचित्य को केंद्र सरकार को बताना होगा वह किसी राजनीतिक टीम का सदस्य या केंद्र सरकार का एजेंट नहीं है।

### राज्यपालों के विवादित फैसले :

अगस्त 1984 में एन.टी. रामा राव की सरकार को आंध्र प्रदेश के राज्यपाल रामलाल की सिफारिश पर बर्खास्त कर दिया गया था।

उत्तर प्रदेश में रोमेश भंडारी, झारखंड में सिक्ते रिजवी, बिहार में बूटा सिंह, कर्नाटक में हंसराज भारद्वाज, गुजरात में कमला बेनीवाल के फैसले विवादित रहे।

1983 से 84 के बीच ठाकुर रामलाल आंध्र प्रदेश के राज्यपाल रहते हुए अपने निर्णयों से आंध्र प्रदेश की राजनीति में भूचाल ला दिया था। उन्होंने तत्कालीन बहुमत प्राप्त एन.टी. रामा राव की सरकार को बर्खास्त कर वित्त मंत्री एन. भास्करराव को मुख्यमंत्री नियुक्त कर दिया था; जब एन.टी. रामाराव हार्ट सर्जरी के लिए अमेरिका गए हुए थे। केंद्र को इसमें हस्तक्षेप करते हुए शंकर दयाल शर्मा को राज्यपाल बनाना पड़ा और उन्होंने सत्ता संभालते ही आंध्र प्रदेश की सत्ता एन.टी. रामा राव के हाथों में पुनः सौंप दी।

कर्नाटक के राज्यपाल पी. वेंकट सुबैया ने एस.आर. बोम्मई सरकार को बर्खास्त कर दिया था जिसे उन्होंने सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी और फैसला हक में आया और फिर सरकार बनाई।

1980 में हरियाणा के राज्यपाल गणपतराव देवजी तापसे की भूमिका देवीलाल सरकार के स्थान पर भजनलाल की सरकार बनाने में विवादित रही।

सैयद सिक्ते रजी 2005 में झारखंड के राज्यपाल थे। उन्होंने त्रिशंकु विधानसभा की स्थिति में शिबू सोरेन को राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलवाई लेकिन शिबू सोरेन अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर पाए और 9 दिनों में सरकार से इस्तीफा देना पड़ा और अंत में 13 मार्च, 2005 को अर्जुन मुंडा के नेतृत्व में एनडीए की सरकार बनी।

बिहार के राज्यपाल बूटा सिंह ने 22 मई, 2005 को बिहार विधानसभा को भंग कर दिया; क्योंकि फरवरी 2005 में हुए चुनाव में किसी दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार बनाने की जोड़-तोड़ में था। लेकिन कांग्रेस सरकार के इशारे पर लोकतंत्र की रक्षा और विधायकों की खरीद-फरोख्त का हवाला देते हुए विधानसभा को उन्होंने बंद कर दिया था जिसके खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में याचिका लाई गई जिस पर कोर्ट ने फैसला सुनाते हुए बूटा सिंह के फैसले को असंवैधानिक बताया और अंततः एनडीए गठबंधन की सरकार बनी।

1998 में बिहार की राबड़ी देवी सरकार को तत्कालीन राज्यपाल डी.सी. पांडे ने बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया था। लेकिन यह प्रस्ताव लोकसभा में पारित होने के बाद राज्यसभा से पारित नहीं हो सका लिहाजा वाजपेई सरकार को मजबूरन राबड़ी देवी सरकार को पुनः बहाल करना पड़ा।

हाल ही का मामला महाराष्ट्र का है जिसमें राज्यपाल भगत सिंह कोश्यारी ने सारे नियम कायदों को किनारे पर रखकर है देवेन्द्र फड़णवीस को मुख्यमंत्री की शपथ दिला दी थी।

इसी तरह 2009 में कर्नाटक के राज्यपाल हंसराज भारद्वाज ने भारतीय जनता पार्टी की सरकार बी.एस.ए. ग्रुप को बर्खास्त कर दिया। उन्होंने विधानसभा में गलत तरीके से बहुमत हासिल करने का आरोप लगाते हुए इसे दोबारा सिद्ध करने की बात कही।

हाल ही में मोदी सरकार के कार्यकाल में राज्यपाल से संबंधित विवादों का नया दौर शुरू हुआ। मोदी सरकार में बताया जाता है कि छः राज्यपालों को इस्तीफा देने की सलाह दी, जिसमें महाराष्ट्र के राज्यपाल शंकरनारायणन, केरल की राज्यपाल शीला दीक्षित, कर्नाटक के राज्यपाल एच.आर. भारद्वाज, नगालैंड के राज्यपाल अश्विनी कुमार, पश्चिम बंगाल के राज्यपाल जगदीप धनखड़, गुजरात की राज्यपाल कमला बेनीवाल के नाम चर्चा में थे। इसके अलावा मध्य प्रदेश के राज्यपाल मंगूभाई पटेल और मणिपुर के राज्यपाल एल. गणेशन ने भी मोदी से मुलाकात की थी।

मोदी सरकार ने अनुच्छेद 356 का इस्तेमाल पर राज्य सरकारों को अस्थिर करने की शुरुआत दिसंबर 1914 में अरुणाचल प्रदेश से की। मामला सुप्रीम कोर्ट पहुँचा, संविधान पीठ ने टिप्पणी करते हुए कांग्रेस सरकार को बहाल करने का आदेश दिया। इसी तरह दूसरा झटका मार्च 2016 में उत्तराखंड का है, जिसमें हरीश रावत के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार के नौ बागी विधायक बीजेपी में शामिल हो गए, जिससे कहा गया कि रावत सरकार अल्पमत में आ गई है। रावत सरकार को बहुमत साबित करने के लिए 5 दिन का वक्त दिया गया लेकिन परीक्षण होने से पहले केंद्र सरकार ने राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया, जिसे तत्कालीन राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने स्वीकार भी कर लिया। मामला नैनीताल हाईकोर्ट पहुँचा। हाईकोर्ट में राष्ट्रपति शासन को असंवैधानिक बताया। केंद्र सरकार ने हाईकोर्ट के फैसले को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी। लेकिन वहाँ भी हरीश रावत के पक्ष में फैसला आया और सरकार बहाल हुई।

गोवा में भी इसी तरह का खेल खेला गया। वहाँ के राज्यपाल मृदुला सिन्हा ने भाजपा के मौखिक दावे के आधार पर 40 सदस्यीय विधान सभा में मात्र 13 सीटें हासिल की हुई पार्टी को मनोहर पारिकर के नेतृत्व में मुख्यमंत्री पद की शपथ दिला दी। 17 सीटें प्राप्ति हुई, कांग्रेस पार्टी हाथ मलते रह गई। बाद में मनोहर पारिकर ने स्थानीय दलों की मदद से एवं दलबदल करा कर बहुमत सिद्ध किया।

जम्मू कश्मीर के राज्यपाल सत्यपाल मलिक ने मोहम्मद अहमद मुफ्ती के पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस के गठबंधन की सरकार बनाने के आमंत्रण को फैंक्स से सूचना के आधार पर यह कहकर खारिज कर दी कि फैंक्स मशीन खराब है इसलिए भेजी गई सूचना प्राप्त नहीं हुई और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

कर्नाटक के राज्यपाल वजूभाई वाला ने जनता दल सेकुलर और कांग्रेस की सरकार को अपदस्थ कर बीएस येदुरप्पा के नेतृत्व में सरकार बनवाने में उतावलापन दिखाया। यही नहीं उन्होंने दलबदल विधायक से दल बदलू विधायकों को बचाने में विधानसभा स्पीकर के अधिकार क्षेत्र में अनावश्यक दखलंदाजी किया।

तीन राजनीतिक परिस्थितियों में राज्यपाल को 6 तरीके से विवादास्पद अधिकार क्षेत्र - प्राप्त हो जाते हैं; यथा,

1. मुख्यमंत्री की नियुक्ति, 2. बहुमत दल का विचार, 3. सदन की बैठक आहूत करना एवं भंग करने का अधिकार, 4. मंत्रिमंडल बर्खास्त करने का अधिकार, 5. विधायकों को राष्ट्रपति को आरक्षित करने का अधिकार, 6. अध्यादेश पारित करने से संबंधित अधिकार।

### राज्यपाल की वास्तविक स्थिति :

राज्यपाल का पद बड़ा ही विवादास्पद रहा है। वैसे तो राजपाल एक संवैधानिक प्रमुख है और उसकी वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिमंडल में निहित होती हैं और मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदाई होती है।<sup>10</sup> अनुच्छेद 163 के अनुसार मंत्रिमंडल का कार्य राज्यपाल को सहायता एवं परामर्श देना है। राज्यपाल की वास्तविक स्थिति के बारे में विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं। डीडी बसु ने कहा है कि, “राज्यपाल केवल दिखावे का प्रधान नहीं होगा। अगर वह कार्यशील तथा अच्छा राज्यपाल है तो सत्तारूढ़ दल के विरोधियों से संपर्क कायम कर उन्हें कई अच्छे कार्य के लिए राजी कर सकता है तथा प्रशासन को सुचारू बना सकता है।” डॉ. वी.जी. खेर ने संविधान सभा में कहा था कि, “एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुँचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल बहुत दुष्टता भी कर सकता है यद्यपि संविधान में उसको बहुत कम शक्ति दी गई है।”

कुछ विद्वान राज्यपाल को एक संवैधानिक प्रमुख मानते हैं और कुछ उसे व्यवहार में वास्तविक प्रमुख मानते हैं। संविधान सभा में डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने कहा था कि “राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश राजा या रानी के समान है। वह अपने समस्त कार्य मंत्रिमंडल की सलाह से करेगा। राष्ट्रपति और राज्यपाल की स्थिति समान होने के कारण वही तर्क राज्यपाल पर भी प्रयुक्त होता है। राज्यपाल को प्रत्येक कार्य में मंत्रिमंडल के सलाम माननी होगी जिसके करने में उसे स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना पड़े।”<sup>11</sup> निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि राज्यपाल भारतीय संविधान में एक संवैधानिक अध्यक्ष है वह अपने कार्य मंत्रिमंडल की सलाह से करता है।

संदर्भ :

1. डी.डी. बसु, भारत का संविधान : एक परिचय, 12वां संस्करण जनवरी 2019 : 332

2. श्रीराम महेश्वरी, भारतीय प्रशासन, ओरियंट लौगमैन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2007 : 495
3. प्रो० मधुसूदन त्रिपाठी, भारतीय प्रशासन, ओमेगा पब्लिकेशन, अंसारी रोड, दरिया गंज नई दिल्ली : 142
4. डॉ. वीकेश्वर प्रसाद सिंह, भारतीय शासन एवं राजनीति, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली : 439
5. घनश्याम चौहान, भारतीय राजनीति एवं सरकार, सुमित एंटरप्राइजेज नई दिल्ली : 171
6. सईद, एस एम., 'भारतीय राजव्यवस्था', सुलभ प्रकाशन, 17 अशोक मार्ग, लखनऊ, 2003 : 213
7. NARANG, A.S., 'INDIAN GOVERNMENT AND POLITICS', GITANJALI PUBLISHING HOUSE, NEW DELHI, 1994 : 347
8. जे०एन०पाण्डेय, 'भारतीय संविधान', सेंट्रल लॉ एजेंसी, 2002
9. काश्यप, सुभाष 'हमारा संविधान', नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ए-5 ग्रीन पार्क नई दिल्ली, 2002 : 184
10. SARKAR, S & MUNIR, J.J. 'THE CONSTITUTION OF INDIA: WITH SHORT COMMENTS' ALIA LAW AGENCY, 1, M.G.MARG(Opp.high court) ALLAHABAD, 2002 : 76
11. लक्ष्मीकांत, एम० 'भारत की राज्यव्यवस्था' (2008) TATA McGraw - Hill Publishing Company limited New Delhi, 2008 : 4.9



## उन्नत परिवार के सृजन में नारी शक्ति की भूमिका : एक विश्लेषण

○ मनोज गुप्ता

○ सीता पांडेय

### संक्षिप्ति

दुनिया का कोई भी समाज इतिहास के किसी भी युग में परिवार विहीन नहीं रहा है, परन्तु परिवार का स्वरूप और प्रकार्य सर्वत्र और सर्वदा एक जैसा नहीं रहा है। इस बिन्दु पर सभी समाज चाहे वे आदिम, कबीलाई, सभ्य, पुरातन या आधुनिक हों, एक मत रहे हैं कि बच्चों का प्रजनन और पालन-पोषण परिवार रूपी समूह की आवश्यकता है। इस रूप में परिवार समाज की स्थायी और सार्वभौमिक व्यवस्था है। परिवार एक ऐसा समूह है जो स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध पर आधारित है, यह समूह इतना सुनिश्चित और स्थायी होता है कि इसके माध्यम से प्रजनन क्रिया और बच्चों के पालन-पोषण एवं समाजीकरण की समुचित व्यवस्था होती है। 'उन्नत परिवार के सृजन में नारी शक्ति की भूमिका' विषयक इस शोध-पत्र में परिवार के विकास क्रम में, उन्नति में नारी की क्या भूमिका है? वह कैसे परिवार में सृजनकर्ता की भूमिका निभाती है? अपने विकास क्रम में कैसे परिवार विभिन्न चरणों से गुजरते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचता है? इन सभी प्रश्नों पर केन्द्रित है। यह एक अनुभवात्मक एवं अन्वेषणात्मक विश्लेषण है। विश्लेषण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि इस भौतिकवादी युग में परिवार को समुन्नत, परिष्कृत एवं समाजीकृत बनाने में नारी शक्ति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

**बीज शब्द :** नारी शक्ति, मूल परिवार, एकाकी परिवार, समाजीकरण, प्रकार्य, विघटन।

परिवार समाज की आधारभूत इकाई है परन्तु इसके स्वरूप में अन्तर दृष्टिगत होता है। पश्चिमी देशों में जहाँ मूल परिवार या एकाकी परिवार की प्रधानता है वहीं भारतीय समाज में संयुक्त परिवार/हिन्दू परिवार की; लेकिन, समय के साथ इसमें बदलाव भी आ रहा है। जहाँ तक परिवार की बात है तो परिवार के दो आधार स्तम्भ होते हैं- स्त्री और पुरुष। विवाह के उपरान्त इन्हीं के संयुक्त प्रयास से परिवार का निर्माण होता है। एकाकी पुरुष या स्त्री के द्वारा परिवार का निर्माण संभव ही नहीं है लेकिन यह भी सच है कि परिवार को सुव्यवस्थित करने, उसे संस्कारों से परिष्कृत करने, उसे मूल्यों एवं नैतिकता से युक्त बनाने में नारी की भूमिका पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है। समाज भी नारी से ऐसी ही अपेक्षा रखता है।

घर या परिवार की संरचना का विचार नारी से आता है, क्योंकि मकान को घर का स्वरूप गृहिणी या घरवाली ही देती है। स्त्री मात्र घर की सृजन नहीं करती बल्कि उसको विस्तार देती है, वह सन्तानों को जन्म देकर जहाँ पुरुष को पितृ ऋण से मुक्त कराती है वहीं दूसरी तरफ समाज की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए उसे वैध वारिस देती है। संपत्ति का उत्तराधिकारी तथा पिता के नाम को आगे बढ़ाने वाली

सन्तति प्रदान करती है। इस रूप में वह मातृत्व महिमा से मंडित जननी है, पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिनिधि है, मातृशक्ति का पुंज है, सृष्टि की सृजनकर्ता है।

नारी संस्कार और संस्कृति की न केवल संरक्षक है, बल्कि संवाहक भी है। परिवार को परिष्कृत, परिमार्जित, सुसंस्कृत तथा समुन्नत बनाने का उत्तरदायित्व भी नारी ही निभा रही है। नारी की संवेदनशील प्रकृति तथा भावनात्मक संरचना इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। परिवार नागरिक गुणों की प्रथम पाठशाला है। परिवार ही वह स्थान है जहाँ गाँधी, गौतमबुद्ध, पटेल, तिलक, सुभाष चन्द्र बोस, लिंकन जैसे व्यक्तित्व का विकास हुआ। परिवार में कोई भी यज्ञ, अनुष्ठान पूण्य कर्म नारी के बिना पूर्णता प्राप्त नहीं करते।

समाजीकरण में परिवार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है, परन्तु इसमें भी बच्चा नारी ('माँ')

से सर्वाधिक सीखता है। माँ की गोद से विश्वास व अविश्वास की भावना का विकास बच्चों में होता है। परिवार में सिखाते हुए एक जैविक प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में परिष्कृत करने का कार्य माँ ही करती है। उत्तम चरित्र व चित्त का निर्माण स्त्री के द्वारा ही संभव है क्योंकि जिस कोमलता, माधुर्य व भावनात्मकता के स्नेहिल स्पर्श के साथ इसका निर्माण करती है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। अब्राहम लिंकन, शिवाजी व अकबर जैसी विभूतियों के प्रसंग से यह तथ्य और भी प्रमाणित हो जाते हैं।

इस भौतिकतावादी युग में जब नारी घर और दफ्तर दोनों संभाल रही है और ऐसे में उसे भूमिका द्वन्द का सामना करना पड़ रहा है तब भी वह अपने संतानों के पालन-पोषण व उनके स्वस्थ समाजीकरण के लिए अधिक सजग, सतर्क व जागरूक दिखती है, जब भी बच्चों में संस्कारों की बात आती है तो नारी की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। किसी बच्चे में अच्छे या बुरे संस्कारों के लिए माँ को ही उत्तरदायी माना जाता है, इससे स्पष्ट है कि संस्कारों की थाती जो व्यक्ति के चरित्र व उसके व्यक्तित्व की 'पहचान' होती है और उसकी अमूल्य धरोहर होती है, वह माँ के रूप में नारी से प्राप्त होती है। समाज में उचित-अनुचित, नैतिक एवं अनैतिक का बोध नारी ही समाजीकरण के दौरान कराती है।

नारी जब गृह लक्ष्मी के रूप में परिवार/गृह को सम्भालती है तो वह मितव्ययीता और अपव्यय को रोककर सीमित संसाधनों में परिवार के बजट को सन्तुलित और समायोजित करती है। आकस्मिक तथा विपरीत परिस्थितियों के लिए वह सचेत रहती है, उसके बजट में कुछ भाग इसके लिए अवश्य होता है। अन्नपूर्णा के रूप में जब नारी रसोई में कदम रखती है तो सभी के पोषण और स्वास्थ्य का ख्याल रखती है, उसका अक्षय पात्र सदैव भरा रहता है। नारी यह सदैव ध्यान देती है कि जो भोजन वह परिवार के सदस्यों के लिए बना रही है, उसमें पोषक तत्वों की कितनी मात्रा है? इस प्रकार बालक, वृद्ध व युवा सभी के स्वाद के साथ-साथ उनके पोषण का ख्याल भी नारी ही रखती है। परिवार के सदस्यों का पोषण के माध्यम से शारीरिक, मानसिक संवर्द्धन व विकास करते हुए व समाज और राष्ट्र को 'मानस पूँजी के रूप में स्वस्थ नागरिक प्रदान करती है।

परिवार की 'पहचान' कुल व गोत्र भले ही पुरुष से प्राप्त हो परन्तु परिवार का सम्पूर्ण अस्तित्व नारी पर निर्भर करता है। संयुक्त परिवारों की अपेक्षा एकाकी परिवारों में, परिवार की निर्भरता नारी पर और अधिक बढ़ती जा रही है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि नारी नहीं होती तो क्या पुरुष अकेले परिवार बनाता? प्रतिउत्तर में कहा जा सकता है कि पुरुष को परिवार के निर्माण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और न ही पुरुष को इतना अधिक रचनाधर्मी, क्रियाशील, धैर्यवान व उत्तरदायी बनने की।

यद्यपि यह शाश्वत सत्य है कि अकेला पुरुष या अकेले स्त्री परिवार बनाने में समर्थ नहीं है, परन्तु जब भी परिवार के संदर्भ में मुख्य भूमिका तय होने लगती है तब ध्यान स्त्री पर ही अधिक केन्द्रित होता है। क्योंकि नारी ही सामाजिक, नैतिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिवार के सदस्यों को संबल प्रदान करती है तथा दुःख में उन्हें धैर्य बंधाती है, सुख के समय में उन्हें संयत रखने का प्रयास करती है।

नारी न केवल सृष्टि की बल्कि परिवार की आन्तरिक रचनात्मकता (साज-सज्जा) से लेकर परिवार में शान्ति, सामंजस्य और परिवार के वातावरण को सकारात्मक, उल्लासपूर्ण व आनन्ददायक बनाने में नारी की भूमिका अहम् होती है। इसलिए नारी के साथ समय के साथ-साथ बहुत से संबोधन जुड़ते गये- गृह लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, गृहिणी, सुगृहिणी एवं घरवाली इत्यादि; परन्तु पुरुष के लिए ऐसा कोई भी विशेषण या संबोधन विकसित नहीं हुआ। एक तरफ जहाँ परिवार के संगठन को उन्नति के शिखर पर ले जाने के लिए नारी को उत्तरदायी माना जाता है वहीं परिवारों के विघटन, विखण्डन, तनावपूर्ण स्थिति के लिए भी महिला को ही दोषी माना जाता है। इतना ही नहीं समाज में यह कहावत है कि 'यदि किसी व्यक्ति को अच्छा भोजन नहीं मिलता तो उसका वह दिन नष्ट हो जाता है परन्तु यदि उसे अच्छी पत्नी या सुगृहिणी नहीं मिलती तो उसका जन्म ही नष्ट हो जाता है।' अर्थात् नारी हर पल स्वयं को सिद्ध करते हुए जीवन पथ पर अग्रसर होती है।

नारी चाहे जिस रूप में हो माता, बहन, पत्नी, बुआ, नानी, दादी या पुत्री वह प्रत्येक स्वरूप में परिवार को प्रभावित करती है; अपने कार्यों से, अपने गुणों से व अपने स्नेह व माधुर्य से। जो परिस्थिति उसे परिवार में प्राप्त होती है उससे सम्बद्ध भूमिका को निभाने के लिए वह अधिक सजग, सतर्क व तत्पर दिखती है।

नारी में कोमलता, सौन्दर्यप्रियता, संवेदना, सहानुभूति, धैर्य, करुणा, ममता एवं सहनशीलता इत्यादि के गुण विद्यमान होते हैं, अपने इन्ही गुणों के कारण नारी परिवार के सदस्यों के अधिक सन्निकट रहती है, उन्हें प्रभावित और प्रेरित करती है, उन्हें रचनाधर्मी बनाती है, उनमें कोमलता व कठोरता का सामंजस्य बैठाती है, उन्हें धैर्यवान बनाती है एवं उन्हें क्रियाशील बनाने के साथ-साथ उनमें सौन्दर्यबोध का भाव जागृत करती है। इस तरह नारी परिवार में प्रथम शिक्षिका के रूप में नागरिक गुणों का विकास करते हुए गुरु की गरिमा को गौरवान्वित करती है।

यद्यपि नारी पुरुष के सहचरी के रूप में अर्धांगिनी के सौभाग्य से शृंगारित होती है परन्तु जब कभी-कभी पुरुष अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाता है, उसमें दुर्गुण व दुर्व्यसन आने लगते हैं, तब नारी जननी के रूप में अपने सन्तान के हित में उसे उसके पिता व अपने पति से बचाती है, जिससे पिता के व्यक्तित्व के नकारात्मक पक्ष सन्तान को प्रभावित न कर सके।

टालकाट पारसंस जैसे समाजशास्त्री यह कहते हैं कि परिवार के दो मुख्य कार्य होते हैं- बच्चों का प्राथमिक समाजीकरण व विवाह के उपरान्त वयस्क व्यक्तियों में स्थिरता लाना (Stabilization of Adult Personality)। परिवार के इन दोनों प्रकार्यों में नारी की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। यह एक सामान्य सी बात है कि लोग अक्सर ये कहते हैं कि विवाह के उपरान्त अमूक व्यक्ति में बहुत से बदलाव आ गये। यह अलग बात है कि ये बदलाव सकारात्मक या नकारात्मक भी हो सकते हैं। पारसंस के परिवार सम्बंधी इस तथ्य से परिवार में नारी के महत्व को और अधिक बल मिलता है।

प्राचीन काल में नारी स्वयं को परिवार के कार्यों तक ही सीमित रखती थी परन्तु आज की नारी परिवार को आर्थिक रूप से सशक्त बनाते हुए राष्ट्रीय कार्यबल में वृद्धि कर रही है, भले ही उसकी कार्य सहभागिता

दर पुरुष की अपेक्षा कम हो। चाहे संगठित क्षेत्र हो या असंगठित क्षेत्र दोनों में नारी शक्ति अपनी पहचान बना रही है। असंगठित क्षेत्र के बहुत से कार्य नारी शक्ति के द्वारा ही पहचान प्राप्त कर रहे हैं। कृषि क्षेत्र में 80 प्रतिशत से अधिक महिला कार्यबल/श्रमबल नियोजित है। कृषि क्षेत्र में महिला के बढ़ते प्रभाव व वर्चस्व के कारण ही यह शब्द सामान्य होता जा रहा है कि कृषि का महिलाकरण हो रहा है। संगठित क्षेत्र में नारी शक्ति देश के सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में लगभग 17 से 18 प्रतिशत तक का योगदान करते हुए राष्ट्र के साथ-साथ परिवार के जीवन स्तर को ऊँचा उठा रही है। एम.एस.एम.ई. में भी नारी शक्ति की कार्य सहभागिता दर लगभग 20.37 प्रतिशत है। अति आधुनिक प्रौद्योगिकी, सूचना तकनीकी, आर्टिफीशियल इंटेलीजेंस, ब्लाक चेन प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग, आटोमोबाइल एवं इन्टरनेट आफ थिंग्स कम्प्यूटिंग जैसे क्षेत्र में उसकी कार्य सहभागिता दर भले ही कम हो परन्तु जब नारी शक्ति श्रम विभाजन व विशेषीकरण के साथ बाजार में प्रवेश करती है तो देश के आर्थिक विकास की दर बढ़ जाती है। नारी की बढ़ती आर्थिक सहभागिता निर्भरता अनुपात को घटाती है, श्रम शक्ति में प्रवेश के साथ नारी परिवार को 'गरीबी के दुष्चक्र' से बाहर निकालती है और अन्ततः राष्ट्र के निर्माण में सहयोग करती है।

आज के तीव्र गति से परिवर्तित होते समाज में जहाँ नकारात्मक प्रवृत्तियाँ तेजी से बढ़ रही हैं, विचलन, विघटन, भ्रष्टाचार, विसंगतियाँ, अपराध के विविध स्वरूप, बाल अपराध, हिंसा, साइबर अपराध एवं महिलाओं के प्रति बढ़ती अपराध की दर जैसी समस्याओं से निजात दिलाने में परिवार ही महत्वपूर्ण बनता जा रहा है। क्योंकि बहुत से हिंसात्मक व आपराधिक गतिविधियों का कारण परिवार का अपने सदस्यों पर कमजोर होता नियंत्रण, परिवारों का अपेक्षाकृत तीव्र गति से हो रहे विघटन व उपभोक्तावादी तथा भौतिकवादी संस्कृति की ओर बढ़ता झुकाव है।

उपर्युक्त विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि आज का समाज नारी शक्ति से यह अपेक्षा करता है कि,

1. नारी समाजीकरण के माध्यम से बच्चों में नैतिकता, सामाजिक मूल्यों व मानदण्डों का उनके चरित्र के अंग के रूप में विकसित करे।
2. परिवार में नारी मातृ रूप में बच्चों में सद्भावना व सद्आचरण का निर्माण करे।
3. नारी स्नेह व कोमलता के साथ भौतिक व आध्यात्मिक तत्वों के मध्य सामंजस्य व समन्वय स्थापित करते हुए अति उपभोक्तावादी संस्कृति से परिवार को बचाए जिससे परिवार के सदस्यों पर परिवार का नियंत्रण हो।
4. नारी ही परिवार के सदस्यों में सहानुभूति, करुणा, परोपकार एवं सहिष्णुता जैसे मनोचित गुणों का विकास करने में वास्तविक रूप से सक्षम है। नारी ही इन गुणों को व्यक्तित्व और चरित्र का अंग बनाती है।
5. नारी सम्मान की भावना का विकास, नारी स्वयं समाजीकरण के माध्यम से बच्चों में बचपन से विकसित कर समाज में नारी के प्रति बढ़ते अपराध व हिंसात्मक गतिविधियों को रोकने में प्रभावी हो सकती है।
6. आज के आधुनिक युग में नारी प्रथम शिक्षक के रूप में अपने सन्तान में नागरिक गुणों का विकास सुनिश्चित करने के साथ-साथ जेंडर सम्बन्धी असमानता को कमजोर करने में सहायक हो सकती है।

उपर्युक्त गुण/तत्त्व यदि परिवार के नवागत सदस्यों तथा परिवार के अन्य सदस्यों में समाजीकरण तथा सीख के माध्यम से आते हैं तो यह उनकी आदत व आचरण का हिस्सा बनकर स्थायी रूप ग्रहण कर लेंगे। परन्तु इन तत्वों का विकास नारी शक्ति के भावनात्मक कोमलता व स्नेहिल संरक्षकत्व से ही संभव है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नारी शक्ति ही परिवार का प्राण तत्व है, वह परिवार का हृदय है। नारी के सशक्तीकरण, सम्मान व स्वावलम्बन से ही सशक्त परिवार, सतत् विकास लक्ष्य- 2030 का 5 वाँ लक्ष्य (लैंगिक समानता) व आत्मनिर्भर भारत का निर्माण मूर्तरूप ग्रहण कर सकता है।

#### Work Cited:

1. कौशिक, आशा, 2004, 'नारी सशक्तीकरण', पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर।
2. ग्रान्ट, जुडिथ, 1993, फण्डामेन्टल फेमिनिज्म, न्यूयार्क: रूटेज।
3. नसरीन, तसलीमा, 1998, औरत के हक में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. फायरस्टोन, एस., 1979, द डाइलेक्टिक आफ सेक्स, द विमेन प्रेस, लंदन।
5. बर्जर, पी.एण्ड थामस लुकमन, 1967, द सोशल कन्स्ट्रक्शन आफ रियलिटी, एलेन लेन, लंदन।
6. बोडवा, सीमोन द, अनु. पारस्ले एच.एम., 1972, द सेकिन्ड सेक्स, पेन्ग्विन, लंदन।
7. राय, कल्पना, 1994. महिला और उनका वातावरण, रजत पब्लिकेशन, जयपुर।
8. शर्मा, के.एल., 1989, भारतीय समाज, एनसीईआरटी, नई दिल्ली।
9. हसनैन, नदीम, 2004, समकालीन भारतीय समाज, एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।



के पूरे इतिहास को आप पढ़ कर देख लें कि केवल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ही ऐसे हैं जो दलित साहित्य एवं कबीर का जिक्र करते हैं। यह बात अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ती, और अगर कहीं है तो उन्हें नहीं मालूम। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए काशीनाथ जी ने कहा कि जब ‘हंस’ के मंच पर दलित विमर्श शुरू हुआ तो वहाँ दलित साहित्य की तमाम विधाएँ मौजूद रहीं, लेकिन आलोचना गायब रही। “आप पूछ जाइए दलित साहित्य के लेखकों से, आदिवासियों के लेखकों से; वहाँ कवि हैं, कथाकार हैं, संस्मरणकार हैं, गीतकार भी हैं वहाँ, यानी साहित्य की सारी विधाएँ मिल जाएंगी वहाँ; लेकिन उनका आलोचक कौन है, कहाँ है, उन्हें नहीं मालूम, था ही नहीं।”

काशीनाथ जी के अनुसार, “जनजातियों में, आदिवासियों में, दलितों में सारी विधाओं के लोग थे। उनकी बातें लोगों के बीच रखने वाला कोई नहीं था।” चौथीराम यादव इसी मायने में इतिहास पुरुष हैं। “हम जिसे दलित साहित्य कहते हैं, उसके प्रचारक, प्रवक्ता, व्याख्याता, समीक्षक, आंदोलनकर्ता- जो कुछ कहिए, सारा कुछ कह सकते हैं चौथीराम जी को। दलितों को समीक्षक तो मिला। ये अपने आप में साधारण बात नहीं हैं।”

प्रो. काशीनाथ सिंह ने बताया कि चौथीराम जी ‘जिन कवियों का उद्धरण देते थे, जिनकी चर्चा करते थे, उन सबको देखते हुए स्वयं वे भी उन्हें पढ़ने के लिए उत्सुक हुए।’ उनके अनुसार ये बड़ी बात है। उन्होंने पुनः दुहराया कि “चौथीराम जी दलितों के अकेले आलोचक हैं। उनकी तरफ से बात करने वाला कोई नहीं है। अधिक से अधिक लोगों ने उनकी किताबों की भूमिकाएँ लिख दीं, आलोचनाएँ नहीं लिखी।... ओमप्रकाश वाल्मीकि ने ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’, या शरण कुमार लिम्बाले ने ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’ जैसा ग्रंथ लिखा। उन्होंने उसमें शास्त्रों की बात की; लेकिन उनकी कविता या उनके साहित्य या उनके उपन्यास को लेकर समझाने की बात नहीं की। ये कुछ बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं।”

अपने वक्तव्य के आखिर में काशीनाथ सिंह ने चौथीराम जी के साथ पचपन साल से चली आ रही मैत्री का रहस्य बताया। उन्होंने कहा कि “चौथीराम जी यदि केवल अध्यापक होते तो मेरा उनसे कोई संबंध न रहा होता, उनसे मित्रता न होती, होती भी तो इतनी लंबी न चलती। हमारी लंबी मित्रता का आधार चौथीराम जी की क्रिएटिविटी है।” चौथीराम जी को काशीनाथ सिंह हिंदी विभाग का सबसे अच्छा अध्यापक मानते हैं। उन्हें कुछ पूछना होता था, या कुछ जानना होता था तो वे चौथीराम जी बात करते थे। यहाँ तक कि वे अपने छात्रों को भी चौथीराम जी के पास भेज दिया करते थे। काशीनाथ सिंह कबीर की तरफ आरंभ से ही आकर्षित थे, उनके अलावा जिन-जिन संतों के बारे में जाना, उनकी जातियाँ जानीं, उनमें से बहुतों की जानकारी चौथीराम जी से मिली। काशीनाथ जी के अनुसार चौथीराम जी उन विरले आलोचकों में से हैं जिन्होंने मन से निडर होकर मनुवाद या ब्राह्मणवादियों को चुनौती दी है।

अंत में काशीनाथ जी ने अपनी मैत्री का महत्व बताते हुए कहा कि “पचपन साल की जो हमारी दोस्ती है, उसकी उम्र अगर बढ़ती रहे, चौथीराम जी की बढ़ती रहे तो शायद मेरी भी उम्र बढ़ जाएगी।” इस कथन के बाद उन्होंने चिंता जतायी कि आजकल रचनाकार आपसी मैत्री को महत्व नहीं दे रहे हैं। उन्होंने कहा कि, “वे आपस में सलामबंदी कर लेते हों, ये अलग बात है। उनके बीच संबंध नहीं है, क्यों नहीं है भाई ! यदि तुम भी क्रिएटर हो, रचनाकार हो, वह भी रचनाकार है तो क्या दिक्कत है, बाधा कहाँ है; लेकिन नहीं, समझ नहीं रहे हैं....!”

प्रो. काशीनाथ सिंह के वक्तव्य के बाद प्रो. वीरभारत तलवार ने अध्यक्षीय भाषण दिया। अध्यक्षीय वक्तव्य

में उन्होंने जो कहा वह उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है,

“प्रो. चौथीराम जी, जो बी.एच.यू. में मेरे सीनियर रहे हैं, में ऐसा क्या है जो उनपर हमारा ध्यान खींचता है, उनमें ऐसा क्या है जो दूसरों में दिखाई नहीं देता। मैंने इसे थोड़ा समझने की कोशिश की। मैंने देखा कि सामाजिक न्याय की चेतना लेकर उत्पीड़ित वर्गों में आज बहुत सारे साहित्यकार सामने आए हैं। दलितों में, आदिवासियों में, स्त्रियों में, जिन्होंने अपने उत्पीड़न को लेकर बड़ी महत्वपूर्ण कृतियाँ लिखी हैं, उपन्यास लिखे हैं, कहानियाँ, कविताएँ लिखी हैं। ये सब लिखा गया है। और वे इनके प्रति समर्पित भाव से लिखते हैं लेकिन आलोचना लिखने वाला कोई नहीं है। डॉ. काशीनाथ सिंह ने भी इस बात को बहुत महत्वपूर्ण ढंग से उठाया। मैंने भी यही दर्ज किया कि उनके बीच कविता, कहानी, उपन्यास लिखने वाले तो बहुत हैं लेकिन आलोचना लिखने वाला कोई नहीं है। चौथीराम जी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने उत्पीड़ित वर्गों के साहित्य पर आलोचनाएँ लिखी हैं। और, इसी काम के लिए खुद को समर्पित किया है। जब मैं ऐसा कह रहा हूँ तो पहला सत्राची सम्मान प्राप्त करने वाले प्रेमकुमार मणि का भी मुझे ध्यान है, जिन्होंने ‘ढलान’ जैसा उपन्यास लिखा और बहुत सारी टिप्पणियाँ और लेख लिखे हैं अस्मिताओं के संदर्भ में, अस्मितावादी विमर्श के संदर्भ में। लेकिन साहित्यिक आलोचना प्रेमकुमार मणि ने भी नहीं लिखी। वह चौथीराम जी ने लिखी है, और किसी के प्रति अन्याय न हो इसलिए मैं ये भी कह दूँ कि कुछ लोगों ने कुछ एक आलोचनाएँ ऐसी लिखी भी हैं, ये बात भी सच है। लेकिन चौथीराम जी तो उसी में घर करके बैठ गए, उसी में घर बनाकर बैठ गए। सारा जीवन इसी काम के लिए समर्पित कर दिया। इस दृष्टि से ये हिंदी के विशिष्ट आलोचक हैं जिन्होंने अपनी आलोचना का क्षेत्र उत्पीड़ित वर्गों के साहित्य को बनाया। लेकिन यह कहना भी पूरा सच नहीं होगा कि इन्होंने सिर्फ अस्मितावादी साहित्य की आलोचना लिखी, सिर्फ दलित, आदिवासी और स्त्रियों के विमर्श से जुड़े हुए साहित्य की ही आलोचना लिखी। सिर्फ इतना कहना भी न्यायपूर्ण नहीं होगा; क्योंकि इतनी ही महत्वपूर्ण बात ये है कि इन्होंने आर्थिक रूप से शोषित-उत्पीड़ित वर्गों के साहित्य की आलोचना लिखी। दलित, आदिवासी या स्त्री होने के नाते नहीं, इस समाज में जो भी शोषित है, जो भी उत्पीड़ित है, चाहे वह दलित हो या न हो, आदिवासी हो या न हो; इन्होंने उनकी भी साहित्यिक आलोचना लिखी। इन्होंने प्रेमचंद पर, नागार्जुन पर, काशीनाथ सिंह पर आलोचनाएँ लिखी हैं। ये तीनों लेखक कोई दलितवादी या स्त्रीवादी या आदिवासी वाला लेखन तो नहीं करते हैं लेकिन उनकी भी आलोचना इन्होंने लिखी है। इनके अंदर एक समग्रता है। मुझे दूसरा कोई आलोचक मुझे नहीं दिखता जो इन तीनों अस्मिताओं की साहित्यिक आलोचना लिखे और शोषित वर्गों की भी आलोचना लिखे।

जिसे आप प्रगतिशील साहित्य कहते हैं, चौथीराम जी उस प्रगतिशील धारा के भी आलोचक हैं। और आलोचना लिखने के लिए इन्होंने जो सैद्धांतिक दृष्टि हासिल की है, अर्जित की है, वह मार्क्स और अम्बेडकर से ली है। और ये बात विमर्श, विमर्शों में बहुत फेल जाती है कि भारत में मार्क्स ही काफी नहीं हैं, अम्बेडकर भी होने चाहिए, दोनों का महत्व है। ये सारी बातें कही जाती हैं लेकिन दोनों से प्रेरित होकर, दोनों से दृष्टि अर्जित कर उस दृष्टि से आलोचना लिखने का काम कोई नहीं करता है। आलोचना में जरूर ये बोल देते हैं कि अम्बेडकर भी चाहिए, मार्क्स भी चाहिए। लेकिन चौथीराम जी ने जो आलोचना लिखी उसमें दोनों की दृष्टियाँ अनुस्यूत, उसमें गुँथी हुई आपको मिलेंगी।

एक खास फर्क और और दिखा मुझे। हिंदी में आप देखेंगे कि जो लोग दलित विमर्श से संबंधित साहित्य लिख रहे हैं तो दलित साहित्य से संबंधित साहित्य ही लिखेंगे, और कुछ नहीं; कोई आदिवासी से संबंधित लिख रहा है तो आदिवासी से बाहर नहीं जाएगा। स्त्री-विमर्श से संबंधित बहुत महत्वपूर्ण साहित्य कई लोगों ने लिखा

है; रोहिणी अग्रवाल और दूसरे लोगों ने, लेकिन वे दलित पर नहीं लिखेंगे, वे आदिवासी पर नहीं लिखेंगे या मजदूर, किसानों, शोषित वर्ग के साहित्य पर नहीं लिखेंगे। चौथीराम जी ने जिस निष्ठा के साथ दलित और आदिवासी के साहित्य पर लिखा, शोषित मजदूरों के साहित्य पर लिखा, उसी निष्ठा के साथ स्त्री-विमर्श के साहित्य पर भी लिखा; बल्कि इनकी किताबों में स्त्री-विमर्श से संबंधित काफी सामग्री दिखाई देगी। तो ऐसा व्यक्ति, ऐसा आलोचक, जो सभी उत्पीड़ित वर्गों में समान रूप से आता-जाता हो, और उनके साहित्य की चिंता करता हो, वह हिंदी में खोजने से भी नहीं मिलेंगे- मैं ऐसा दावा तो नहीं करता, मैं समझता हूँ बहुत कम होंगे। लेकिन चौथीराम जी तो स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इसी काम के लिए समर्पित हैं।

ये तो इन्होंने जो-जो लिखा उसकी मैंने बात की। इनके लेखन की क्या विशेषताएँ हैं, बड़ा समय चाहिए उसके लिए, मैं सब पर नहीं जाता हूँ। मैं एक छोटी-सी विशेषता की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ, जो मुझे अच्छी लगी इनके अंदर; और वो ये, कि ये किसी भी चीज को समग्रता में देखने की कोशिश करते हैं। किसी भी लेखक को, या उसकी कृति को या किसी साहित्यिक परंपरा को, या किसी साहित्यिक प्रवृत्ति को समग्रता में देखने की कोशिश करते हैं। समग्रता पर इनका ध्यान इतना ज्यादा है कि इनकी एक किताब के शीर्षक 'हजारीप्रसाद द्विवेदी : समग्र मूल्यांकन' में ही ये शब्द आया हुआ है। महाभारत हो, मनुस्मृति हो, तुलसीदास हो- ऐसे ग्रंथों में बहुत सारी रूढ़िवादी बातें कही गई हैं लेकिन इनके विरुद्ध, इसके विपरीत भी कुछ टिप्पणियाँ हैं इन सबमें। इस समग्रता को इन्होंने देखा है और उसको स्पष्ट रूप से लिखा है। ये जो समग्रता का दृष्टिकोण है जिसका एक बहुत अच्छा उदाहरण मैं दूँ, डॉ. धर्मवीर के बारे में। डॉ. धर्मवीर, जो बहुत ही विख्यात दलित आलोचक थे, ने प्रेमचंद की बड़ी कड़ी आलोचना की है। आलोचना क्या, कहिए कि भर्त्सना की है दलित के प्रश्न पर। और उन्होंने स्त्रियों के खिलाफ जो जार सत्ता का विमर्श लाया, जिसके लिए वे कुख्यात हुए, विख्यात तो नहीं कुख्यात हुए। इन सबकी इन्होंने बड़ी विस्तृत आलोचना की, डॉ. धर्मवीर की, प्रेमचंद के संदर्भ में। काफी कड़ी आलोचना, मुझे लगता है कि उन स्त्रियों को छोड़कर और किसी ने भी इतनी कड़ी आलोचना नहीं लिखी धर्मवीर की। लेकिन ये सारी आलोचनाएँ लिखने के बावजूद, इन्होंने धर्मवीर की प्रशंसा भी की। इन्होंने कहा कि, 'असहमति के कई बिंदुओं के बावजूद हम आपकी मौलिक प्रतिभा, स्वतंत्र चिंतन, विश्लेषण क्षमता और भविष्योन्मुखी सोच का सम्मान करते हैं'। ये पंक्तियाँ इन्होंने धर्मवीर के बारे में लिखी हैं। ऐसी समग्रता से देखने वाला आलोचक कोई दूसरा नहीं मिलेगा।

डॉ. चौथीराम जी की आलोचना में जो एक बीज शब्द है, वह है लोक। लोक से बने हुए बहुत सारे शब्द इनके साहित्य में मिलते हैं। लोकपक्षी, लोकधर्मी, लोकवादी, सीधे लोक शब्द। ये इनकी पूरी आलोचना का बीज शब्द मुझे लगता है। और उस लोकधर्मी परंपरा को इन्होंने जिस प्रकार निर्दिष्ट किया है, उस लोकधर्मी परंपरा के उस ढाँचे को जिस तरह इन्होंने दिखाया है, उसमें चार्वाक है, आजीवक है, लोकायत है, बौद्ध हैं; वहाँ से शुरू होकर नाथों से गुजरते हुए निर्गुण संतों तक पहुँचती है। और कबीर उसके मध्यकाल में सबसे बड़े कवि दिखाई देते हैं, सबसे बड़े संत दिखाई देते हैं। और आधुनिक काल में प्रेमचंद उसके सबसे बड़े लेखक दिखाई देते हैं। हिंदी नवजागरण की समग्रता को, वहाँ भी समग्रता का आया है विचार; और हिंदी नवजागरण की समग्रता को सबसे ज्यादा अच्छे ढंग से प्रेमचंद में व्यक्त होते हुए इन्होंने दिखाया है। तो, ये जो लोकधर्मी परंपरा है, वह क्या है, कहाँ से शुरू हुई, कौन-कौन से उसके मुख्य प्रतिनिधि हैं, इसको बहुत अच्छी तरह से निर्दिष्ट कर दिया है। इतनी अच्छी तरह से कि पढ़ने वाले के मन में बैठ जाती है। और कबीर, और दूसरी तरफ प्रेमचंद आधुनिक काल में- ये दो उस परंपरा के सबसे बड़े प्रतिनिधि इन्होंने दिखाए हैं।

इनके साहित्य में, आलोचना में, कई वाक्य बड़े सूत्र की तरह से मिलते हैं। जैसे एक वाक्य है कि ‘हिंदी साहित्य बहुत लोकतांत्रिक है, लेकिन हिंदी आलोचना उतनी ही अलोकतांत्रिक है।’ इसी प्रकार एक वाक्य है, ‘भक्तिकाल हिंदी साहित्य की प्रकृत भूमि रही है भक्तिकाल की लोकधर्मिता का।’ इस तरह के कई वाक्य आपको मिलेंगे।

हिंदी आलोचक की जिम्मेदारी क्या है? यह भी इन्होंने इसी दृष्टिकोण के साथ, इसी लोकधर्मी परंपरा के दृष्टिकोण के साथ जोर दिया है कि हिंदी के आलोचक को आज पुनर्पाठ करना है। जो भी साहित्य लिखा गया है उसमें इन उत्पीड़ित वर्गों के दृष्टिकोण से आज तक उसकी आलोचना नहीं लिखी गई। इन उत्पीड़ित वर्गों के दृष्टिकोण से उसकी आलोचना को लिखना आज आलोचक की जिम्मेदारी है, यही उसका पुनर्पाठ है। और पुनर्पाठ को करने के लिए आपको जो संस्कार मिले हुए हैं उनसे मुक्त होना जरूरी होगा। और आपके पास एक तार्किकता और बुद्धि-विवेकशील दृष्टिकोण होना जरूरी होगा। तभी आप ऐसा पुनर्पाठ कर सकेंगे। ये पुनर्पाठ करने की सलाह इन्होंने नए आलोचकों को दी, और स्वयं भी इन्होंने यही काम किया है और उसी की राह दिखायी है। इतना ही मुझे कहना है, धन्यावाद !”

प्रो. चौधरीराम यादव ने अपने आत्मवक्तव्य में केवल आभार ज्ञापन की औपचारिकता निभायी। उन्होंने सत्राची फाउंडेशन, उपस्थित मंचस्थ विद्वानों एवं सभागार में उपस्थित श्रोताओं व साहित्य प्रेमियों के प्रति आभार प्रकट किया।

इस अवसर पर सत्राची फाउंडेशन से प्रकाशित आलोक सुमन दूबे की पुस्तक ‘सब एक साथ’ और डॉ. राजू रंजन प्रसाद की पुस्तक ‘प्राचीन भारत : वर्चस्व एवं प्रतिरोध’ का विमोचन भी हुआ। इसके अलावा जुल्फेकार अहमद ‘सत्राची राजभाषा सेवा सम्मान’ 2022 से सम्मानित हुए। सम्मानस्वरूप उन्हें 5 हजार का चेक, अंगवस्त्र, प्रमाण-पत्र तथा प्रतीक चिह्न प्रदान किया गया।

सम्मान समारोह अत्यंत सौहार्दपूर्ण वातावरण में संपन्न हुआ। स्कूल के सहयोगी शिक्षार्थियों ने व्यवस्थापन में उल्लेखनीय योगदान किया। चारु कमल वर्मा, मोहित सेठ, अहमद हसन, कांक्षी कमल वर्मा, उनके मित्र एवं स्थानीय हिंदी प्रेमियों के सहयोग से कार्यक्रम भव्यता के साथ संपन्न हुआ। इस अवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से श्रीप्रकाश शुक्ल, प्रभात मिश्र, महेंद्र कुशवाहा, विंध्याचल यादव, किंगसन पटेल; पटना से जयप्रकाश सिंह, सुशांत शर्मा, हुस्न आरा, आलोक सुमन दूबे उपस्थित थे। इसके साथ ही प्राचार्य प्रो. सुधा पांडेय, रामजी यादव, रामप्रकाश कुशवाहा, रामवचन यादव आदि उपस्थित रहे।



## लेखकीय सहयोग :

- ओमप्रकाश सिंह : प्रोफेसर, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; मो. 9899446861.
- समरेन्द्र कुमार : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; मो. 9868096180.
- निरंजन कुमार यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर; मो. 8726374017
- सरिता : सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- अमरनाथ प्रजापति : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कर्नाटक राज्य अक्कमहादेवी महिला विश्वविद्यालय, विजयपुर, कर्नाटक, पिन 586108; मो. 89850355
- नीरज : असिस्टेंट प्रोफेसर, भारती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- कुमार भास्कर : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- नेहा मिश्रा : असिस्टेंट प्रोफेसर, गुरु गोविंद सिंह जी राजकीय महाविद्यालय, पांवटा साहिब सिरमौर, हिमाचल प्रदेश।
- रमेशचंद्र सोनी : शोधार्थी, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश; मो. 8808784692
- सुधा पांडेय : प्राचार्य, पं. दीन दयाल उपा. राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी; मो. 9415228890
- नवनीत कुमार राय : हिंदी विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, पिन : 802301
- आलोक सुमन दूबे : शोधार्थी, हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया।
- शैलेन्द्र चौहान : 34/242, सेक्टर-3, प्रतापनगर, जयपुर; मो.7838897877, पिन : 302033,
- हुस्न आरा : असिस्टेंट प्रोफेसर., राजनीति विज्ञान विभाग, डॉ. एल.के.वी.डी. कॉलेज, ताजपुर, समस्तीपुर, ल.ना. मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा।
- पुष्पलता कुमारी : एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
- वंदना : शोधार्थी, संगीत।
- आशुतोष पार्थेश्वर : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज,

उत्तर प्रदेश; मो. 9934260232.

- अंशुमन कुमार : शोधार्थी, संगीत
- बलिराज पांडेय : प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- साधना अग्रवाल : असिस्टेंट प्रोफेसर एवं आलोचक, कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; मो. 9891349058.
- संतन राम : असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल, राजकीय स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय, गाजीपुर, उत्तर प्रदेश।
- एस.के. साबिरा : अध्यापिका एवं आलोचक, B. 3, टीचर्स कॉलोनी, चैथम लाइन, युनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश; मो. 9848711684.
- सीता पाण्डेय : असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उत्तर प्रदेश; मो. 9076571313
- सुनीता सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उत्तर प्रदेश।
- नेहा : शोधार्थी, इतिहास विभाग, राजकीय महिला पीजी कॉलेज, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उत्तर प्रदेश; मो. 8279481637
- अजीत प्रताप सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजकीय महिला पीजी कॉलेज, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उत्तर प्रदेश; मो. 9616397075
- रवि जोशी : संविदा शिक्षक, राजनीतिशास्त्र, स्व. डा. आर.एस.टोलिया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुनस्यारी, पिथौरागढ़, उत्तराखंड, 262554
- चन्द्रभान : असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उत्तर प्रदेश, पिन : 224122.
- मनोज गुप्ता : असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उ.प्र.; मो. 9616462151





सत्राची फाउंडेशन, पटना  
शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

यह संस्था -

- साहित्यिक सम्मान देती है।
- शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।
- पुस्तकें प्रकाशित करती है।
- सेमिनार आयोजित करती है।
- राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।
- शोधकर्तओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।
- नेट/जे.आर.एफ. के अभ्यर्थियों को निःशुल्क मार्गदर्शन देती है।
- हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।